करनेवाले पुराणों की रचना इसी सुन्दर भाषा में की गई है। आर्यों की प्राचीन रीतियों, रूढ़ियों और परम्पराओं का प्रशस्त तथा सर्वाङ्गीण वर्णन उपस्थित करनेवाले धर्मशास्त्रों की निर्मिति भी इसी भाषा में हुई है। सारांश यह है कि लौकिक अभ्युदय तथा पारलौकिक निःश्रेयस की सिद्धि के साधक जितने ज्ञान और विज्ञान हैं, जितने कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड हैं, जितने शास्त्र और पुराण हैं, उन सबको अवगत करने का उपाय यही संस्कृत भाषा है। एक वाक्य में हम कह सकते हैं कि हमारा साहित्य परा तथा अपरा विद्याओं का मनोरम भाण्डागार है जिसके रहस्यों का पता संस्कृत भाषा के ज्ञान से ही दिया जा सकता है। इन्हीं सब कारणों से हमारी संस्कृत भाषा परम महनीया, विद्वज्जनमाननीया तथा सौभाग्यशोभनीया है।

१— संस्कृत-साहित्य का महत्त्व

'साहित्य' शब्द और अर्थ के मञ्जुल सामञ्जस्य का सूचक है। इसकी व्युत्पत्ति है 'सहितस्य भावः साहित्यम्' अर्थात् सहित शब्द तथा अर्थ का भाव। इस मौलिक अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हमारे काव्य ग्रन्थ तथा अलङ्कार ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर दीख पड़ता है। महाकवि भर्तृहरि ने संगीत तथा साहित्य से विहीन पुरुष को जब पशु कहा है[1] तब उनका अभिप्राय 'साहित्य' से उन कोमल काव्यों से है जिनमें शब्द और अर्थ का अनुरूप सन्निवेश है। शास्त्र और साहित्य का अन्तर यही है कि शास्त्र में अर्थप्रतीति के लिए ही शब्द का प्रयोग किया जाता है, परन्तु काव्य में शब्द और

'साहित्य' का अर्थ

---

[1] साहित्य-सङ्गीत-कला-विहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।

अर्थ दोनों एक ही कोटि के होते हैं, न तो कोई घटकर रहता है न बढ़कर[1]। इसी अर्थ को दृष्टि में रखकर राजशेखर ने साहित्य विद्या को पञ्चमी विद्या कहा है जो मुख्य चार विद्याओं [पुराण, न्याय (दर्शन), मीमांसा, धर्मशास्त्र] का सारभूत[2] है। बिल्हण ने अपने विक्रमाङ्कदेवचरित में काव्यरूपी अमृत को साहित्य-समुद्र के मन्थन से उत्पन्न होने वाला बताया है[3]। इस प्रकार साहित्य शब्द का प्रयोग संकुचित अर्थ में काव्य, नाटक आदि के लिये होता है। परन्तु इधर साहित्य शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में भी होने लगा है। 'साहित्य' से अभिप्राय उन ग्रन्थों से जो किसी भाषा विशेष में निबद्ध किये गये हों। इस अर्थ में 'वाङ्मय' शब्द का प्रयोग उचित प्रतीत होता है। अँग्रेजी भाषा में प्रयुक्त 'लिटरेचर' शब्द के लिये ही साहित्य का प्रयोग इधर होने लगा है। इस ग्रन्थ में साहित्य का प्रयोग केवल संकुचित ही अर्थ में नहीं किया गया है, यद्यपि अधिक लोकप्रिय होने के कारण काव्य, नाटक का वर्णन कुछ कुछ विस्तार के साथ किया गया है।

संस्कृत साहित्य की महत्ता को प्रदर्शित करने वाले अनेक कारण विद्यमान हैं। सर्वप्रथम प्राचीनता की दृष्टि से यह साहित्य बेजोड़ है।

---

१ न च काव्ये शास्त्रादिवत् अर्थ—प्रतीत्यर्थं शब्दमात्रं प्रयुज्यते। सहितयोः शब्दार्थयोः तत्र प्रयोगात्—साहित्यं तुल्यकक्षत्वेन अन्यूनानतिरिक्तत्वम्—व्यक्तिविवेकटीका (पृष्ठ ३६)

२ पञ्चमी साहित्यविद्येति यायावरीयः। सा ही चतसृणां विद्यानामपि निष्यन्दः—काव्यमीमांसा (पृष्ठ ४)

३ साहित्य-पाथोनिधि-मन्थनोत्थं काव्यामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः।
यदस्य दैत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थचौराः प्रगुणीभवन्ति ॥
—१।११

इतना प्राचीन साहित्य कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। पश्चिमी विद्वानों की दृष्टि में मिश्रदेश का साहित्य सबसे प्राचीन माना जाता है परन्तु वह भी कितना प्राचीन है? विक्रम से केवल चार हजार वर्ष पूर्व। हमारे यहाँ ऋग्वेद की रचना के समय के विषय में पर्याप्त मतभेद है। कुछ विद्वान् लोग ऋग्वेद की रचना हजारों वर्ष पूर्व मानते हैं। यदि इस मत को अयुक्तिपूर्ण होने से हम मानने के लिये प्रस्तुत न भी हों तो भी उस मत में तो हमें आस्था रखनी ही पड़ेगी जिसे लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक ने अकाट्य गणित के प्रमाण के ऊपर निर्धारित किया है। उनका कहना है कि ऋग्वेद के अनेक सूक्तों की रचना विक्रम से कम से कम छः हजार वर्ष पूर्व अवश्य हुई थी। यही मत आजकल का प्रामाणिक मत है। इसके अनुसार संस्कृत साहित्य के सर्वप्रथम ग्रन्थ का निर्माण आज से लगभग आठ हजार वर्ष पहले हुआ था। कोई भी साहित्य इतना प्राचीन नहीं है। साहित्य की तब से जो धारा प्रवाहित हुई वह आज तक अविच्छिन्न गति से चली आ रही है। अन्य साहित्यों का इतिहास देखने से प्रतीत होता है कि वह साहित्य अनुकूल परिस्थियों में पनपता है, प्रवाह कुछ दिन तक अवश्य जारी रहता है; परन्तु विषम परिस्थिति के उपस्थित होते ही वह प्रवाह बिलकुल थमा हो जाता है। परन्तु संस्कृत साहित्य में यह दोष नहीं दीख पड़ता। वेदों की मन्त्रसंहिताओं की रचना के अनन्तर उनकी व्याख्या का काल आता है। इस समय जो ग्रन्थ रचे गये उन्हें 'ब्राह्मण' नाम से पुकारते हैं। ब्राह्मणों के अनन्तर आरण्यकों की रचना हुई, तदनन्तर उपनिषदों की; पीछे रामायण, महाभारत और पुराणों का युग आता है। इसके बाद काव्य, नाटक, गद्य, पद्य, कथा, आख्यायिका, स्मृति और तन्त्र के निर्माण का समय आता है जो मध्ययुग से पहले साहित्यप्रेमी भारतीय नरेशों की छत्रछाया में खूब ही पनपा। इस प्रकार संस्कृत साहित्य की अविच्छिन्न परम्परा आठ हजार

वर्षों से निरन्तर चली आ रही है। प्राचीनता की दृष्टि से यदि विचार किया जाय अथवा अविच्छिन्नता की कसौटी पर इसे कसा जाय तो यह साहित्य नितान्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है।

संस्कृत साहित्य सर्वाङ्गीण है। यह सब अङ्गों से परिपूर्ण है। मानव जीवन के लिये चार ही पुरुषार्थ हैं— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। संस्कृत साहित्य में इन चारों पुरुषार्थों का विवेचन बड़े विस्तार तथा विचार के साथ किया गया है। साधारण लोगों की यह धारणा बनी हुई है कि संस्कृत साहित्य में केवल धर्मग्रन्थों का ही बाहुल्य है। परन्तु बात कुछ दूसरी है। प्राचीन ग्रन्थकारों ने भौतिक जगत् के साधनभूत अर्थशास्त्र और कामशास्त्र के वर्णन की ओर भी अपनी दृष्टि फेरी है। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' तो प्रसिद्ध ही है। इस एक ग्रन्थ के ही अध्ययन से हम संस्कृत साहित्य में लिखे गये राजनीति शास्त्र से भली भाँति सर्वाङ्गीण परिचय प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु इसके सिवाय एक विशाल साहित्य अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में है। कामशास्त्र भी हमारी उपेक्षा का विषय कभी नहीं था। जिस विषय के ज्ञान के ऊपर मानव-जीवन का सौख्य निर्भर है, भला उस विषय का चिन्तन कभी उपेक्षा का विषय हो सकता है? वात्स्यायन मुनि ने 'कामसूत्र' में गार्हस्थ्य जीवन के लिये उपादेय साधनों का वर्णन थोड़े में बड़े अच्छे ढंग से किया है। इसी सूत्र को आधार मान कर अनेक ग्रन्थों की रचना कालान्तर में की गई। विज्ञान, ज्यौतिष, वैद्यक, स्थापत्य, पशु पक्षी सम्बन्धी लक्षण ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। धर्म और मोक्ष सम्बन्धी रचनाओं के विषय में तो चर्चा करना ही व्यर्थ है। सच तो यह है कि यहाँ प्रेयःशास्त्र तथा श्रेयःशास्त्र उभय शास्त्रों के अध्ययन की ओर प्राचीन काल से विद्वानों की प्रवृत्ति रही है। 'प्रेयःशास्त्र' वह है जिसमें संसार में सुख देने वाली क्रियाओं का वर्णन हो और 'श्रेयःशास्त्र' वह है जिसमें इस प्रपञ्च के दुःखों को दूर

व्यापकता

करने वाले मोक्षोपयोगी विषयों का विवेचन हो। इन दोनों प्रकारके शास्त्रों की रचना संस्कृत साहित्य में उपलब्ध हो रही है। अन्य साहित्यों की ऐसी दशा नहीं। मिश्रदेश के साहित्य में है क्या ? जीवन को सुखमय बनाने वाली विद्याओं का तो अत्यधिक वर्णन है परन्तु हृदय को विकसित करने वाली कला का न तो कहीं पता है और न अध्यात्मविषयक विवेचन की कहीं चर्चा है। जिस देश में ऊँचे ऊँचे महलों के बनाने वाले तथा उसे सुसज्जित करने वाले इञ्जीनियर ही परम पूजा के आस्पद हैं, भला उस देश के साहित्य में सर्वाङ्गीणता कहाँ से आ सकती है ? पश्चिमी विद्वानों का कहना है कि संस्कृत साहित्य का जो अंश छपकर प्रकाशित हुआ है वह भी ग्रीक और लैटिन साहित्यों के ग्रन्थों से दुगुना है। जो अभी तक हस्तलिखित ग्रन्थ के रूप में पड़ा हुआ है या किसी प्रकार नष्ट हो गया है उसकी गणना ही अलग है।

धार्मिक दृष्टि से भी संस्कृत साहित्य विशेष गौरव रखता है। जो व्यक्ति आर्यों के मूल धर्म के स्वरूप को जानने का इच्छुक हो उसे वेदों का पढ़ना बहुत जरूरी है। वेदों में आर्यधर्म का विशुद्ध रूप उपलब्ध होता है। भारतीय धर्म तथा दर्शन की भिन्न-भिन्न शाखाएँ कालान्तर में उत्पन्न हुईं तथा नवीन मतों का भी प्रचार हुआ। परन्तु इनके यथार्थ रूप को जानने के लिये वेदों का अध्ययन आवश्यक ही है। वेद वह मूल स्रोत है जहाँ से नाना प्रकार की धार्मिक धाराएँ निकल कर मानव हृदय तथा मस्तिष्क को सदा से आप्यायित करती आई हैं। हम भारतवासियों के लिये ही नहीं, प्रत्युत अन्य देशों के लिये भी, संस्कृत साहित्य का अनुशीलन धार्मिक दृष्टि को लक्ष्य में रखकर विशेष उपादेय है। वेदों के अनुशीलन का ही फल है कि पश्चिमी विद्वानों ने तुलनात्मक-पुराणशास्त्र (कम्पैरेटिभ माइथोलाजी[१]) जैसे नवीन शास्त्र को ढूँढ निकाला है। इस शास्त्र से

धार्मिक दृष्टि

१ Comparative Mythology.

पता चलता है कि प्राचीन काल में देवताओं के सम्बन्ध में लोगों के क्या विचार थे तथा किन किन उपासना के प्रकारों से वे उनकी कृपा प्राप्त करने में सफल होते थे।

सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्व

सांस्कृतिक दृष्टि से संस्कृत साहित्य का गौरव और भी विशेष रूप से दीख पड़ता है। इतिहास के पृष्ठों में यह बात प्रामाणिक हो चुकी है कि भारतीय लोग अन्य देशों में अपने प्रभुत्व को, अपनी सभ्यता को, अपनी संस्कृति को फैलाने के लिये सदा से उद्योगशील रहे हैं। उन्होंने प्रशान्त महासागर के द्वीपपुञ्जों में जाकर अपने उपनिवेश स्थापित किये थे। भारतवर्ष और चीन के बीच में जो विशाल प्रायद्वीप है उसे आज 'हिन्द चीन' (इण्डो चीन) कहते हैं। इससे सूचित होता है कि उसका आधा अंश हिन्द का और आधा अंश चीन का है। परन्तु १२वीं और १४वीं शताब्दी से पहले इसमें चीन का कुछ भी अंश न था। यह बिलकुल 'हिन्द' ही था। बहुत पहले यहाँ जंगली जातियाँ रहती थीं परन्तु सुवर्ण की खान होने के कारण जिन भारतीय नाविकों ने इन स्थानों का पता लगाया उन्होंने इसे 'सुवर्ण भूमि' तथा द्वीपों को 'सुवर्णद्वीप' नाम दिया। अशोक के समय यहाँ भी बुद्ध का उपदेश पहुँचाया गया। विक्रम के आरम्भ से लेकर १४वीं शताब्दी तक अनेक भारतीय राज्य यहाँ बने रहे जिनमें संस्कृत राजभाषा के रूप में व्यवहृत होती थी। कम्बोज में मनु की धार्मिक व्यवस्था के अनुसार राज्य-प्रबन्ध किया जाता था। आर्यावर्ती वर्णमाला और वाङ्मय के संसर्ग से यहाँ की स्थानीय बोलियाँ लिखित भाषाएँ बन गईं और धीरे धीरे साहित्य का विकास होने लगा। यहाँ जो वाङ्मय विकसित हुआ वह सम्पूर्ण रूप से भारतीय था। इस प्रकार कम्बोज की 'ख्मेर' भाषा, चम्पा की (आजकल का फ्रांसीसी हिन्द चीन) 'चम्म' भाषा तथा जावा की 'कवि' भाषा आर्यावर्त की वर्णमाला में लिखी गईं जिनमें संस्कृत साहित्य से आवश्यक उपादान ग्रहण कर

सुन्दर तथा कल्याणकारी साहित्य का निर्माण किया गया। जावा की 'कवि' भाषा में रामायण और महाभारत के व्याख्यान विद्यमान हैं, भारतवासियों के समान ही यहाँ के निवासी रामलीला तथा अर्जुनलीला देखकर आज भी अपना चित्तविनोद किया करते हैं। बाली द्वीप की सभ्यता तथा धर्म पूर्णरूपेण भारतीय हैं। यहाँ का धर्म तन्त्र-प्रधान है। वैदिक मन्त्र का उच्चारण तथा संध्या-वन्दन आज भी यहाँ विकृत रूप में ही सही परन्तु विद्यमान तो हैं। मंगोलिया की मरुभूमि में भी संस्कृत साहित्य पहुँचा था। वहाँ भारतीय ग्रन्थ तो उपलब्ध हुए ही हैं, साथ ही साथ वहाँ की भाषा में महाभारत से सम्बद्ध अनेक नाटक उपलब्ध हुए हैं जिनमें 'हिडिम्बा-वध' मुख्य है।

इस प्रकार प्राचीनता, अविच्छिन्नता, व्यापकता, धार्मिकता तथा सभ्यता की दृष्टि से परीक्षा करने पर हमारा संस्कृत साहित्य नितान्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। प्रत्येक भारतीय का यह परम कर्तव्य है कि वह इस साहित्य का अध्ययन करे। इसके अतिरिक्त विशुद्ध कला की दृष्टि से भी यह साहित्य उपेक्षणीय नहीं है। जिस साहित्य में कालिदास जैसे कमनीय कविता लिखने वाले कवि हुए, भवभूति जैसे नाटककार हुए जिनकी वशवर्तिनी बनकर सरस्वती ने अपूर्व लास्य दिखलाया, बाणभट्ट जैसे गद्य लेखक हुए जो अपने सरस मसृण काव्य से त्रिलोकसुन्दरी कादम्बरी की कमनीय कथा सुना-सुनाकर श्रोताओं को मत्त बनाया, जयदेव जैसे गीतिकाव्य के लेखक विद्यमान थे जिन्होंने अपनी 'मधुर कोमल कान्त पदावली' के द्वारा विदग्धों के चित्त में मधुररस की वर्षा की, श्रीहर्ष जैसे पण्डित कवि हुए जिन्होंने काव्य और दर्शन का अपूर्व सम्मिलन प्रस्तुत किया उस साहित्य की महिमा का वर्णन समुचित शब्दों में कैसे किया जा सकता है?

कलादृष्टि से महत्त्व

२—संस्कृत भाषा का परिचय

यह साहित्य जिस भाषा में निबद्ध किया गया है उसका नाम है 'संस्कृत भाषा', या देववाणी या भारती। संसार की समस्त परिष्कृत भाषाओं में संस्कृत ही प्राचीनतम है, इस विषय में विद्वानों में किसी प्रकार का मतभेद नहीं। भाषा-विज्ञान की दृष्टि में संसार की भाषाओं में दो ही भाषाएँ ऐसी हैं जिसके बोलने वालों ने संस्कृति तथा सभ्यता का निर्माण किया है। एक है 'आर्यभाषा' और दूसरी है 'सेमेटिक-भाषा'। आर्य-भाषा के अन्तर्गत दो विशिष्ट शाखाएँ हैं—पश्चिमी और पूर्वी। पश्चिमी शाखा के अन्तर्गत योरप की सभी प्राचीन तथा आधुनिक भाषाएँ सम्मिलित हैं—ग्रीक, लैटिन, टयूटानिक, फ्रेंच, जर्मन, इंग्लिश आदि—ये सब भाषाएँ मूल आर्य-भाषा से ही उत्पन्न हुई हैं। पूर्वी शाखा में दो प्रधान विभाग हैं—ईरानी और भारतीय। ईरानी भाषा का नाम 'जेन्द अवेस्ता' है जिसमें पारसियों के मूल धार्मिक ग्रन्थ लिखे गये हैं। भारतीय-शाखा में संस्कृत ही सर्वस्व है। आर्यभाषाओं में यही सबसे प्राचीन है। आर्य-भाषा के मूलरूप को जानने के लिये जितना साधन यहाँ है उतना कहीं नहीं है। आजकल भारत की समस्त प्रान्तीय-भाषाएँ (द्राविड़ी भाषाओं को छोड़कर) संस्कृत भाषा से ही निकली हैं।

संस्कृत शब्द 'सम्' पूर्वक 'कृ' धातु से बना हुआ है जिसका मौलिक अर्थ है—संस्कार की गई भाषा। भाषा के अर्थ में 'संस्कृत' का प्रयोग वाल्मीकीय रामायण में पहले पहल मिलता है। सुन्दरकाण्ड में सीता जी से किस भाषा में वार्तालाप किया जाय? इसका विचार करते हुए हनुमान जी ने कहा है कि यदि द्विज के समान मैं संस्कृतवाणी बोलूँगा तो सीता मुझे रावण समझकर डर जायगी[१]। यास्क और

---

१ यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति॥ सुन्दर-काण्ड ५-१४

पाणिनि[1] के ग्रन्थों से लोक-व्यवहार में आनेवाली बोली का नाम 'भाषा' है। 'संस्कृत' शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं मिलता। जब 'भाषा' का सर्वसाधारण में प्रचार कम होने लगा, पाली तथा प्राकृत भाषाएँ बोलचाल की भाषाएँ बन गईं, तब जान पड़ता है विद्वानों ने प्राकृत भाषा से भेद दिखलाने के लिये इसका नाम संस्कृत भाषा दे दिया। महाकवि दण्डी ने इसका समर्थन किया है।

संस्कृत भाषा के दो रूप हमारे सामने प्रस्तुत हैं—वैदिकी तथा लौकिकी, वेदभाषा तथा लोकभाषा। वैदिक भाषा में संहिता तथा ब्राह्मणों की रचना हुई है। लौकिक संस्कृत में वाल्मीकीय रामायण, महाभारत आदि की रचना है। इन दोनों भाषाओं के शब्दरूपों में पर्याप्त अन्तर है जिसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

लौकिक और वैदिक संस्कृत में अन्तर

(१) अकारान्त पुंलिंग शब्दों का प्रथमा बहुवचन रूप असस् और अस् दो प्रत्ययों के जोड़ने से बनता है। जैसे, ब्राह्मणासः तथा ब्राह्मणाः। लौकिक संस्कृत में केवल अन्तिम रूप ग्राह्य है।

(२) अकारान्त शब्दों का तृतीया बहुवचन दो प्रकार का होता है—देवेभिः तथा देवैः। लौकिक संस्कृत में अन्तिम रूप ग्राह्य है।

(३) अकारान्त शब्दों का प्रथमा द्विवचन 'आ' प्रत्यय के योग से और ईकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों का तृतीया एकवचन 'ई' प्रत्यय के योग से बनता है जैसे, अश्विना (अश्विनौ) सुष्टुती (सुष्टुत्या)।

(४) सप्तमी का एकवचन अनेक जगहों में लुप्त हो जाता है जैसे परमे व्योमन्। लौकिक संस्कृत है—व्योम्नि या व्योमनि।

---

१ भाषायामन्वध्यायञ्च। निरुक्त १।४।
भाषायां सदवसश्रुवः। अष्टा० ३।२।१०८

(५) अकारान्त नपुंसक शब्दों का बहुवचन 'आ' तथा 'आनि' दो प्रत्ययों के योग से बनता है, जैसे 'विश्वानि अद्‌भुता' (लौकिक संस्कृत में अद्‌भुतानि होगा) ।

(६) क्रियापदों में उत्तम पुरुष बहुवचन (वर्तमान काल) 'मसि' प्रत्यय के योग से बनता है। मिनीमसि द्यवि द्यवि। लौकिक संस्कृत 'मिनीमः'।

(७) 'लोट्' लकार (आज्ञा) मध्यमपुरुष बहुवचन के प्रत्यय हैं—त, तन्, थन्, तात्। जैसे शृणोत, सुनोतन, यतिष्ठन, कृणुतात्।

(८) लौकिक संस्कृत में 'लिये' के अर्थ में 'तुमुन्' का प्रयोग होता है, जैसे—गन्तुम् (जाने के लिये) कर्तुम् (करने के लिये) आदि। परन्तु वेद में इस अर्थ में अनेक प्रत्यय (८ या १०) होते हैं। जैसे से, असे, वसे, कसे, अध्यै, शध्यै आदि। जैसे, जीवसे (जीवितुम्) पिबध्यै (पातुम्) दातवै (दातुम्) कर्तवे (कर्तुम्)।

(९) वैदिकभाषा में आज्ञा तथा सम्भावना दिखलाने के लिये एक नये लकार की ही योजना है जिसे लेट् लकार कहते हैं। परन्तु यह लौकिक संस्कृत में बिलकुल ही नहीं है। इसके कुछ उदाहरण ये हैं—प्र ण आयूंषि तारिषत् (हे वरुण हमारे उम्र को बढ़ाओ), यहाँ 'तारिषत्' लेट् लकार है। लौकिक भाषा में इसकी जगह पर 'तारय' कहेंगे।

'ब्राह्मणों' की भाषा लौकिक एवं वैदिक युग के मध्यकालीन समय की भाषा है। उसमें कुछ प्रयोग तो संहिताओं के समान मिलते हैं और कुछ प्रयोग लौकिक संस्कृत के। निरुक्त की भाषा भी इसी काल की है। पाणिनि संस्कृत साहित्य के सब से श्रेष्ठ वैयाकरण हैं। उन्होंने संस्कृत भाषा को सदा विशुद्ध तथा व्यवस्थित बनाए रखने के लिये प्रसिद्ध व्याकरण बनाया है, जो आठ अध्यायों में विभक्त होने के कारण 'अष्टाध्यायी' कहलाता है। संस्कृत भाषा में जो एकरूपता और व्यवस्था

दीख पड़ती है, वह सब पाणिनि की ही अनुकम्पा का फल है। कुछ लोग पाणिनि पर यह दोष लगाते हैं कि उन्होंने भाषा को जकड़ कर अस्वाभाविक बना दिया परन्तु बात ऐसी नहीं है। यदि पाणिनि व्याकरण न रहता तो संस्कृत भाषा का जो रूपान्तर होता उसे हम पहचान भी नहीं सकते। अष्टाध्यायी के ऊपर 'कात्यायन' ने वार्त्तिक लिखा जिसमें उन्होंने नये शब्दों की व्युत्पत्ति दिखलाई। विक्रमपूर्व द्वितीय शतक में पतञ्जलि ने 'अष्टाध्यायी' के ऊपर 'भाष्य' लिखा जो इतना सुन्दर, उपादेय तथा प्रामाणिक है कि उसे 'महाभाष्य' के नाम से पुकारते हैं। लौकिक संस्कृत के कर्त्ता-धर्ता येही तीन मुनि हैं जिनके कारण व्याकरण 'त्रिमुनि' के नाम से विख्यात है। पिछले युग में संस्कृत व्याकरण के ऊपर जो कुछ लिखा गया वह केवल इस 'मुनि-त्रय' के ग्रन्थों का व्याख्यामात्र है। कुछ लोगों का कथन है इस 'मुनि-त्रय' के द्वारा विख्यात तथा विवृत होने के कारण से ही यह देववाणी 'संस्कृत' नाम से अभिहित की जाती है[1]।

संस्कृत के स्वरूप का विचार करते समय यह जानना जरूरी है कि लोक-व्यवहार में उसका क्या रूप था। वह बोल-चाल की भाषा थी या नहीं ? इसके विषय में दो विरोधी मत हैं। कुछ लोगों का कहना

संस्कृत बोलचाल की भाषा

है कि प्राकृत ही बोल-चाल की भाषा थी। संस्कृत तो केवल साहित्यिक भाषा है जिसका प्रयोग ग्रन्थों में ही होता, बोल चाल में नहीं। इसके विपरीत दूसरा मत यह है कि यह बोल-चाल की भी भाषा रही है। किसी समय में भारतीय जनता अपने भावों को इसी भाषा के द्वारा प्रकट किया करती थी। धीरे धीरे प्राकृत के उदय होने से इसका व्यवहार-क्षेत्र कम होने लगा परन्तु फिर भी इसका चलन तथा व्यवहार शिष्ट लोगों में बना ही रहा।

---

१ संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः।
दण्डी—काव्यादर्श।

महर्षि यास्क ने निरुक्त नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की है जिसमें कठिन वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति दिखलाई गई है। इस ग्रन्थ का प्रमाण संस्कृत को बोलचाल की भाषा सिद्ध कर रहा है[1]। वैदिक संस्कृत से भिन्न साधारण जनता की जो बोली थी उसको यास्क ने स्थान स्थान पर 'भाषा' कहा है। उन्होंने वैदिक कृदन्त शब्दों की व्युत्पत्ति उन धातुओं से की है जो लोकव्यवहार में आते थे। उस समय भिन्न भिन्न प्रान्तों में संस्कृत शब्दों के जो रूपान्तर तथा विशिष्ट प्रयोग काम में लाये जाते थे उन सबका उल्लेख यास्क ने किया है। उदाहरणार्थ 'शवति' क्रियापद का प्रयोग कम्बोज देश में (वर्तमान पञ्जाब का पश्चिमोत्तरप्रान्त) में 'जाने' के अर्थ में किया जाता था, परन्तु इसका संज्ञा पद 'शव' (मुर्दा) का प्रयोग आर्य लोग करते थे। पूर्वी प्रान्तों में (प्राच्य) में 'दाति' क्रियापद का प्रयोग 'काटने' के अर्थ में होता था परन्तु उत्तर के लोगों में इसी से बने हुए 'दात्र' शब्द का प्रयोग हँसिया के अर्थ में होता था।[2] इससे स्पष्ट है कि यास्क के समय में (विक्रम से लगभग सात सौ वर्ष पूर्व) संस्कृत बोलचाल की भाषा थी।

पाणिनि के समय में (विक्रम पूर्व पाँच सौ) संस्कृत का यह रूप बना ही रहा। पाणिनि भी इस बोली को 'भाषा' ही के नाम से पुकारते हैं। दूर से पुकारने के समय तथा प्रत्यभिवादन के अवसर पर पाणिनि ने प्लुत स्वर का विधान बतलाया है। यदि दूर से कृष्ण को पुकारना होगा तो संस्कृत में 'आगच्छ कृष्ण३' कहना पड़ेगा। यहाँ पाणिनि के अनुसार कृष्ण का अकार प्लुत होगा[3]। उसी प्रकार अभिवादन करने के

---

१ भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमा कृतो भाष्यन्ते—निरुक्त २।२

२ शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते, विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु दात्रमुदीच्येषु—निरुक्त, वहीं।

३ दूराद्धूते च—अष्टाध्यायी ८।२।८४

अनन्तर जो आशीर्वाद दिया जायगा वहाँ पर भी प्लुत करना पड़ेगा। जैसे देवदत्त नामक कोई छात्र गुरु को इस प्रकार प्रणाम करे 'आचार्य देवदत्तोऽहं त्वामभिवादये (हे गुरु जी ! मैं देवदत्त आपको प्रणाम कर रहा हूँ)' तो गुरु यह कहकर आशीर्वाद देगा—'आयुष्मान् एधि देवदत्त३' अर्थात् आयुष्मान बनो हे देवदत्त। इस आशीर्वाद-वाक्य में देवदत्त के अन्त का अकार प्लुत हो जायगा, यह पाणिनि की व्यवस्था[1] है। इन नियमों का प्रयोग तभी होगा जब भाषा वस्तुतः बोली जाती होगी। निरुक्तकार के समान पाणिनि ने संस्कृत के उन रूपान्तरों को भी दिखलाया है जो पूर्वी तथा उत्तरी लोगों में व्यवहृत किये जाते थे। बोलचाल के बहुत से मुहावरे पाणिनि ने अपने ग्रन्थ में दिये हैं जैसे 'दण्डा-दण्डि' (डण्डा डण्डी, लाठा लाठी) केशाकेशि (नोचा नोची, बालों को खींचकर होने वाला युद्ध) हस्ताहस्ति (हाथा-हाथी या हाथा-पाई), उदरपूरं भुङ्क्ते (पेटभर खाता है) इत्यादि। इतना ही नहीं, पाणिनि ने शब्दों में स्वर-विधान के नियम को बड़े विस्तार के साथ दिया है। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि की भाषा बोलचाल की भाषा थी। यदि ग्रन्थ के लिखने में ही उसका उपयोग होता तो पूर्वोल्लिखित नियमों की उपयोगिता किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होती।

पाणिनि के अनन्तर कात्यायन के समय (विक्रमपूर्व चतुर्थ शतक) में तथा पतञ्जलि के समय में (विक्रमपूर्व द्वितीय शतक) संस्कृत भाषा बढ़ती चली गई। नये-नये शब्द आने लगे; नये नये मुहावरों का प्रयोग होने लगा, इसीलिये कात्यायन ने वार्त्तिक लिखकर उनकी व्युत्पत्ति और व्यवस्था दिखला दी। पाणिनि ने 'हिमानी' तथा 'अरण्यानी' का प्रयोग केवल स्त्रीलिंग की कल्पना में माना है परन्तु कात्यायन के समय में विशिष्ट अर्थ में इनका प्रयोग होने लगा[2]। 'अरण्यानी' का अर्थ

१ प्रत्यभिवादेऽशूद्रे। ८।२।८३

२ हिमारण्ययोर्महत्त्वे—४।१।४९ पर वार्तिक

हुआ बड़ा जंगल। इसी प्रकार कात्यायन के समान 'यवनानी' का प्रयोग यवनों की लिपि के अर्थ में होने लगा[1], पाणिनि के समय में यवन की स्त्री के लिए इसका प्रयोग होता था। पतञ्जलि ने भी अपने महाभाष्य में नये प्रयोगों की प्रक्रिया दिखलाई है। संस्कृत शब्दों के प्रान्तीय रूपान्तरों का उल्लेख उन्होंने भी किया है। जैसे 'चलने' के अर्थ में सुराष्ट्र (काठियावाड़) देश में 'हम्मति' का प्रयोग करते हैं; पूरब देश में 'रहंति' का, आर्य लोगों में गच्छति का। पतञ्जलि ने ऐसे लोगों को 'शिष्ट' बतलाया है जो बिना किसी अध्ययन के ही संस्कृत शब्दों का प्रयोग करते[2] थे। इनके जो प्रयोग होते थे वह सर्वसाधारण के लिये प्रमाणभूत माने जाते थे। इनके 'महाभाष्य में एक बड़ा रोचक संवाद दिया है जिसमें 'प्राजिता' (चलानेवाला) शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में वैयाकरण तथा सारथि में खूब वादविवाद हुआ है। वैयाकरण ने पूछा—इस रथ का 'प्रवेता' कौन है? सूत—आयुष्मान्. मैं इस रथ का प्राजिता (चलानेवाला) हूँ। वैयाकरण—'प्राजिता' शब्द अपशब्द है। सूत—(देवानां प्रिय) महाशय जी, आप केवल प्राप्तिज्ञ हैं, इष्टिज्ञ (प्रयोग ज्ञाता) नहीं हैं। वैयाकरण—अहो, यह दुष्ट सूत (दुरुत) हमें कष्ट पहुँचा रहा है। सूत—आप का 'दुरुत' प्रयोग ठीक नहीं है। 'सूत' शब्द सू (प्रसव, उत्पन्न करना) धातु से बना है, 'वेञ्' धातु (बिनना) से नहीं। अतः यदि आप निन्दा करना चाहते हैं तो 'दुःसूत' शब्द का प्रयोग करें। इस वार्तालाप[3] से प्रतीत होता है कि सूत का कथन अधिक

१ यवनाल्लिप्याम्। ४।१।१९४ पर वार्तिक

२ एतस्मिन् आर्यावर्ते निवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणा किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारंगताः तत्रभवन्तः शिष्टाः। शिष्टाः शब्देषु प्रमाणम्—६।३।१०९ सूत्र पर भाष्य।

३ एवं हि कश्चिद् वैयाकरण आह—'कोऽस्य रथस्य प्रवेता' इति। सूत आह—'अहमायुष्मन् अस्य रथस्य प्राजिता' इति। वैयाकरण

उपयुक्त है। वैयाकरण तो केवल सूत्रों को ही जानता है, वास्तव में प्रयुक्त शब्दों की उसे जानकारी नहीं है।

इससे स्पष्ट है कि जिस भाषा को रथ हाँकने वाला समझे और बोले उसे बोलचाल की भाषा न कहना महान् अपराध होगा। मुहावरों से तो महाभाष्य भरा पड़ा है—उन मुहावरों से, जिनका प्रयोग हमारी ग्रामीण बोलियों में आज भी विद्यमान है चाहे खड़ी बोली में भले न दीख पड़े। जैसे—"पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु" की छाया[1] हूबहू बनारसी बोली में इस प्रकार दीख पड़ती हैं—'गोड़ौ कइली मूड़ौ कइली तबु काम ना भइल।' अर्थ स्पष्ट है कि हर प्रकार की सेवा करने पर भी हमारा काम नहीं सरा। विक्रम के हजारों वर्ष पूर्व से लेकर विक्रम के उदय काल तक संस्कृत अवश्य बोलचाल की भाषा थी; इन प्रमाणों के आधार पर इसी परिणाम पर हम पहुँचते हैं। भारत के अनेक प्राचीन संस्कृत-प्रेमी राजाओं ने यह नियम बना रखा था कि उनके अन्तःपुर में संस्कृत का ही प्रयोग किया जाय। राजशेखर ने विक्रम का नाम इस प्रसंग में निर्दिष्ट किया है। उज्जयिनी के राजा साहसाङ्क पदवीधारी विक्रमादित्य ने यह नियम बना रखा था कि उनके अन्तःपुर में संस्कृत भाषा ही बोली जाती थी (काव्यमीमांसा पृ० ५०)। धारानरेश राजा-भोज (११ शतक) के समय में भी संस्कृत का बोलने तथा लिखने के लिए बहुत प्रयोग होता था। हम उस जुलाहे की बात कभी नहीं भूल सकते जिसने

आह अपशब्द इति। सूत आह—प्राप्तिज्ञो देवानां प्रियः न तु इष्टिज्ञः। इष्यत एतद् रूपमिति। वैयाकरण आह—अहो खल्वनेन दुरुतेन बाध्यामहे इति। सूत आह—न खलु वेञः सूतः, सुवतेरेव सूतः। यदि सुवतेः कुत्सा प्रयोक्तव्या दुःसूतेनेति वक्तव्यम्। २।४।५६ सूत्र पर भाष्य।

१ करोतिरभूतप्रादुर्भावे दृष्टः, निर्मलीकरणे चापि विद्यते। पृष्ठं कुरु पादौ कुरु उन्मृदानेति गम्यते। —१।३।१ पर भाष्य।

संस्कृत में अपना परिचय देते समय कहा था[1]—काव्य तो मैं उतना अच्छा नहीं करता, पर यदि यत्न से लिखूँ तो सुन्दर लिख सकता हूँ। एक साधारण जन की इतनी संस्कृतज्ञता तथा काव्यप्रेम नितान्त श्लाघनीय है।

इतिहास का कालविभाग

संस्कृत साहित्य का इतिहास अनेक काल-विभागों में बाँटा जा सकता है। पहला काल श्रुतिकाल है जिसमें संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् का निर्माण हुआ। इस काल में वाक्यरचना सरल, संक्षिप्त और क्रियाबहुल हुआ करती थी। दूसरा हुआ स्मृतिकाल जिसमें रामायण, महाभारत, पुराण तथा वेदाङ्गों की रचना हुई। तीसरा वह है जिस समय पाणिनि के नियमों के द्वारा भाषा नितान्त संयत तथा सुव्यवस्थित की गई तथा काव्य-नाटकों की रचना होनी लगी। इस काल को हम मोटे तौर से 'लौकिक संस्कृत का काल' कह सकते हैं। इस अल्पकाय इतिहास में इन तीनों के विस्तृत विवेचन के लिए स्थान नहीं है। तीसरे काल का ही विशेष वर्णन यहाँ रहेगा।

---

१ काव्यं करोमि नहि चारुतरं करोमि
यत्नात् करोमि यदि, चारुतरं करोमि।
भूपाल-मौलिमणि-मण्डितपादपीठ!
हे साहसांक! कवयामि वयामि यामि॥

उपयुक्त है। वैयाकरण तो केवल सूत्रों को ही जानता है, वास्तव में प्रयुक्त शब्दों की उसे जानकारी नहीं है।

इससे स्पष्ट है कि जिस भाषा को रथ हाँकने वाला समझे और बोले उसे बोलचाल की भाषा न कहना महान् अपराध होगा। मुहावरों से तो महाभाष्य भरा पड़ा है—उन मुहावरों से, जिनका प्रयोग हमारी ग्रामीण बोलियों में आज भी विद्यमान है चाहे खड़ी बोली में भले न दीख पड़े। जैसे—"पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु" की छाया[1] हूबहू बनारसी बोली में इस प्रकार दीख पड़ती हैं—'गोड़ौ कइली मूड़ौ कइली तबु काम ना भइल।' अर्थ स्पष्ट है कि हर प्रकार की सेवा करने पर भी हमारा काम नहीं सरा। विक्रम के हजारों वर्ष पूर्व से लेकर विक्रम के उदय काल तक संस्कृत अवश्य बोलचाल की भाषा थी; इन प्रमाणों के आधार पर इसी परिणाम पर हम पहुँचते हैं। भारत के अनेक प्राचीन संस्कृत-प्रेमी राजाओं ने यह नियम बना रखा था कि उनके अन्तःपुर में संस्कृत का ही प्रयोग किया जाय। राजशेखर ने विक्रम का नाम इस प्रसंग में निर्दिष्ट किया है। उज्जयिनी के राजा साहसाङ्क पदवीधारी विक्रमादित्य ने यह नियम बना रखा था कि उनके अन्तःपुर में संस्कृत भाषा ही बोली जाती थी (काव्यमीमांसा पृ० ५०)। धारानरेश राजा-भोज (११ शतक) के समय में भी संस्कृत का बोलने तथा लिखने के लिए बहुत प्रयोग होता था। हम उस जुलाहे की बात कभी नहीं भूल सकते जिसने

आह अपशब्द इति। सूत आह—प्राप्तिज्ञो देवानां प्रियः न तु इष्टिज्ञः। इष्यत एतद् रूपमिति। वैयाकरण आह—अहो खल्वतेने दुरुतेन बाध्यामहे इति। सूत आह—न खलु वेञः सूतः, सुवतेरेव सूतः। यदि सुवतेः कुत्सा प्रयोक्तव्या दुःसूतेनेति वक्तव्यम्। २।४।५६ सूत्र पर भाष्य।

१ करोतिरभूतप्रादुर्भावे दृष्टः, निर्मलीकरणे चापि विद्यते। पृष्ठं कुरु पादौ कुरु उन्मृदानेति गम्यते। —१।३।१ पर भाष्य।

संस्कृत में अपना परिचय देते समय कहा था[1]—काव्य तो मैं उतना अच्छा नहीं करता, पर यदि यत्न से लिखूँ तो सुन्दर लिख सकता हूँ। एक साधारण जन की इतनी संस्कृतज्ञता तथा काव्यप्रेम नितान्त श्लाघनीय है।

इतिहास का कालविभाग

संस्कृत साहित्य का इतिहास अनेक काल-विभागों में बाँटा जा सकता है। पहला काल श्रुतिकाल है जिसमें संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् का निर्माण हुआ। इस काल में वाक्यरचना सरल, संक्षिप्त और क्रियाबहुल हुआ करती थी। दूसरा हुआ स्मृतिकाल जिसमें रामायण, महाभारत, पुराण तथा वेदाङ्गों की रचना हुई। तीसरा वह है जिस समय पाणिनि के नियमों के द्वारा भाषा नितान्त संयत तथा सुव्यवस्थित की गई तथा काव्य-नाटकों की रचना होनी लगी। इस काल को हम मोटे तौर से 'लौकिक संस्कृत का काल' कह सकते हैं। इस अल्पकाय इतिहास में इन तीनों के विस्तृत विवेचन के लिए स्थान नहीं है। तीसरे काल का ही विशेष वर्णन यहाँ रहेगा।

---

१ काव्यं करोमि नहि चारुतरं करोमि
यत्नात् करोमि यदि, चारुतरं करोमि।
भूपाल-मौलिमणि-मण्डितपादपीठ!
हे साहसांक! कवयामि वयामि यामि॥

द्वितीय परिच्छेद

आदिम काव्य

वैदिक साहित्य के अनन्तर लौकिक संस्कृत में निबद्ध साहित्य का उदय होता है। लौकिक संस्कृत में लिखा गया साहित्य विषय, भाषा, भाव आदि की दृष्टि में अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। वैदिक भाषा में जो साहित्य निबद्ध हुआ है उस साहित्य से इनकी तुलना करने पर अनेक नवीन बातें आलोचकों के सामने आती हैं। यह साहित्य वैदिक साहित्य से आकृति, भाषा, विषय तथा अन्तस्तत्त्व की दृष्टि में नितान्त पार्थक्य रखता है।

१—वैदिक और लौकिक साहित्य का अन्तर

(क) विषय—वैदिक साहित्य मुख्यतया धर्मप्रधान साहित्य है। देवताओं को लक्ष्य कर यज्ञ-याग का विधान तथा उनकी कमनीय स्तुतियाँ इस साहित्य की विशेषताएँ हैं। परन्तु लौकिक संस्कृतसाहित्य, जिसका प्रसार प्रत्येक दिशा में दीख पड़ता है, मुख्यतया लोकवृत्त-प्रधान है। पुरुषार्थ के चारों अङ्गों में अर्थ-काम की ओर इसकी प्रवृत्ति विशेष दीख पड़ती हैं। उपनिषदों के प्रभाव से इस साहित्य के भीतर नैतिक भावना का महान् साम्राज्य है। धर्म का वर्णन भी है परन्तु यह धर्म वैदिक धर्म पर अवलम्बित होने पर भी कई बातों में कुछ नूतन भी है। ऋग्वेद-

काल में जिन देवताओं की प्रमुखता थी अब वे गौणरूप में ही वर्णित पाये जाते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव की उपासना पर ही अधिक महत्त्व इस युग में दिया गया। नये देवताओं की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार प्रति-पाद्य विषय का अन्तर इस साहित्य में स्पष्ट दीख पड़ती है।

(ख) आकृति—लौकिक साहित्य जिस रूप में हमारे सामने आता है वह साहित्य के रूप से अनेक अंशों में भिन्नता रखता है। वैदिक साहित्य में गद्य की गरिमा स्वीकृत की गई है। तैत्तिरीय संहिता, काठक संहिता, मैत्रायणी संहिता से ही वैदिक गद्य आरम्भ होता है। ब्राह्मणों में गद्य ही का साम्राज्य है। प्राचीन उपनिषदों में भी उदात्त गद्य का प्रयोग मिलता है। परन्तु न जाने क्यों? लौकिक साहित्य के उदय होते ही गद्य का ह्रास आरम्भ हो जाता है। वैदिक गद्य में जो प्रसार, जो प्रसाद तथा जो सौन्दर्य दीख पड़ता है वह लौकिक संस्कृत के गद्य में दिखलाई नहीं पड़ता। अब तो गद्य का क्षेत्र केवल व्याकरण और दर्शन शास्त्र ही रह जाता है। परन्तु यह गद्य दुरूह, प्रसादविहीन तथा दुर्बोध ही है। पद्य की प्रभुता इतनी अधिक बढ़ जाती है कि ज्यौतिष और वैद्यक जैसे वैज्ञानिक विषयों का भी वर्णन छन्दोमयी वाणी में ही किया गया है। साहित्यिक गद्य केवल कथानक तथा गद्यकाव्यों में ही दीख पड़ता है। परन्तु सीमित होने के कारण यह गद्य वैदिक गद्य की अपेक्षा कई बातों में हीन तथा न्यून प्रतीत होता है। पद्य की रचना जिन छन्दों में की गई है, वे छन्द भी वैदिक छन्दों से भिन्न ही हैं। पुराणों में तथा रामायण महाभारत के विशुद्ध 'श्लोक' का ही विशाल साम्राज्य विराजमान है। परन्तु कवियों ने पिछले साहित्य में नाना प्रकार के छोटे बड़े छन्दों का प्रयोग विषय के अनुसार किया है। वेद में जहाँ गायत्री, त्रिष्टुप् तथा जगती का प्रचलन है वहाँ उक्त संस्कृत में उपजाति, वंशस्थ और वसन्ततिलका विराजती है। लौकिक छन्द वैदिक छन्दों से ही निकले हुए हैं, परन्तु इनमें लघुगुरु के विन्यास को विशेष महत्त्व दिया गया है।

(ग) भाषा—भाषा की दृष्टि से भी यह साहित्य पूर्वयुग में लिखे गये साहित्य की अपेक्षा भिन्न है। इस युग की भाषा के नियामक तथा शोधक महर्षि पाणिनि हैं जिनकी अष्टाध्यायी में लौकिक संस्कृत का भव्य विशुद्ध रूप प्रस्तुत किया गया है। इस युग के आदिम काल में पाणिनि के नियमों की पाबन्दी करना उतना आवश्यक नहीं था। इसीलिये रामायण महाभारत तथा पुराणों में बहुत से 'आर्ष' प्रयोग मिलते हैं जो पाणिनि के नियमों से ठीक नहीं उतरते। पिछली शताब्दियों में तो पाणिनि तथा उनके अनुयायियों की प्रभुता इतनी जम जाती है कि अपाणिनीय प्रयोग के आते ही भाषा बेहतर खटकने लगती है। 'च्युत-संस्कारता' के नित्यदोष माने जाने का यही तात्पर्य है। आशय यह है कि वैदिक काल में संस्कृत भाषा व्याकरण के नपे-तुले नियमों से जकड़ी हुई नहीं थी, परन्तु इस युग में व्याकरण के नियमों से बँधकर वह विशेष रूप से संयत कर दी गयी है।

(घ) अन्तस्तत्त्व—वैदिक साहित्य में रूपक की प्रधानता है। प्रतीक रूप से अनेक अमूर्त्त भावनाओं की मूर्त्त कल्पना प्रस्तुत की गयी है। परन्तु लौकिक साहित्य में अतिशयोक्ति की ओर अधिक अभिरुचि दीख पड़ती है। पुराणों के वर्णन में जो अतिशयोक्ति दीख पड़ती है वह पौराणिक शैली की विशेषता है। वैदिक तथा पौराणिक तत्त्वों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है, भेद शैली का ही हैं। वैदिक साहित्य में प्रसिद्ध इन्द्र-वृत्र युद्ध अकाल दानव के ऊपर वर्षा विजय का प्रतिनिधि है। पुराण में भी उसका वही अर्थ है परन्तु शैली-भेद होने से दोनों में पार्थक्य दीख पड़ता है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त इस युग में वैदिक युग से विकसित होकर अत्यन्त आदरणीय माना जाने लगा। ऐसी अनेक कहानियाँ मिलेंगी जिसके नायक कभी तो पशुयोनि में जन्म लेता है और वही कभी पुण्य के अधिक सञ्चय होने के कारण देवलोक में जा विराजने लगता है। साहित्य मानव समाज का प्रतिविम्ब हुआ करता है। इस सत्य का परिचय

लौकिक संस्कृत के साहित्य के अध्ययन से भली भांति मिलता है। मानवजीवन से सम्बद्ध तथा उसे सुखद बनानेवाला शायद ही कोई विषय होगा जो इस साहित्य से अछूता बच गया है। पूर्वकाल में जहाँ पर नैसर्गिकता का बोलबाला था, वहाँ अब अलंकृति की अभिरुचि विशेष बढ़ने लगी। अलंकारों की प्रधानता का यही कारण है।

(२) इतिहास की कल्पना

लोगों में एक धारणा-सी फैली हुई है कि भारतवर्ष के साहित्य में ऐतिहासिक ग्रन्थों का अस्तित्व नहीं है। कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि भारतीय लोग ऐतिहासिक भावना से परिचित ही न थे। परन्तु ये धारणायें नितान्त निराधार हैं। भारतीय साहित्य में पुराणों के साथ इतिहास वेद के समकक्ष माना जाता है। ऋक् संहिता में ही इतिहास से युक्त मन्त्र हैं[1]। छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार के साथ ब्रह्मविद्या सीखने के समय अपनी अधीत विद्याओं में नारद मुनि ने 'इतिहास पुराण' को पञ्चम वेद बतलाया है[2]। यास्क ने निरुक्त में ऋचाओं के विशदीकरण के लिए ब्राह्मण ग्रंथ तथा प्राचीन आचार्यों की कथाओं को 'इतिहास-माचक्षते' ऐसा कहकर उद्धृत किया है। वेदार्थ के निरूपण करनेवाले विभिन्न सम्प्रदायों में ऐतिहासिकों का भी एक अलग सम्प्रदाय था इसका स्पष्ट परिचय निरुक्त से चलता है —'इति ऐतिहासिकाः'। इतना ही नहीं; वेद के यथार्थ अर्थ समझने के लिए इतिहास पुराण का

---

१ त्रितं कूपेऽवहितमेतत् सूक्तं प्रतिबभौ। तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ् मिश्रं गाथामिश्रं भवति—निरुक्त ४।६।

२ ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वणम् इतिहास पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्—छांन्दोग्य ७।१।

अध्ययन आवश्यक बतलाया गया है। व्यास का स्पष्ट कथन है कि वेद का उपबृंहण इतिहास और पुराण के द्वारा होना चाहिये, क्योंकि इतिहास-पुराण से अनभिज्ञ लोगों से वेद सदा भयभीत रहता है [1]। राजशेखर ने उपवेदों में इतिहास वेद को अन्यतम माना है। कौटिल्य ने ही सब से पहले 'इतिहास वेद' की गणना अथर्ववेद के साथ की है तथा इसके अन्तर्गत पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र का अन्तर्भाव माना है [2]। इतने पुष्ट प्रमाणों के रहते हुए भारतीयों को इतिहास की कल्पना से ही शून्य मानना नितान्त अनुचित है। हमारे प्राचीन साहित्य में इतिहास-विषयक ग्रन्थ थे जो धीरे धीरे उपलब्ध हो रहे हैं। परन्तु पाश्चात्य इतिहास-कल्पना और हमारी इतिहास-कल्पना में एक अन्तर है जिसे समझ लेना आवश्यक है। पाश्चात्य इतिहास घटना-प्रधान है अर्थात् उसमें युद्ध आदि की घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करना ही मुख्य उद्देश्य रहता है। परन्तु भारतीय कल्पना के अनुसार घटना-वैचित्र्य विशेष महत्त्व नहीं रखता। हमारे जीवन सुधार से उनका जहाँ तक लगाव है वहीं तक हम उन्हें उपादेय समझते आये हैं।

भारतीय साहित्य में इतिहास शब्द से प्रधानतया महाभारत का ही ग्रहण होता है और यह ग्रहण करना सर्वथा उचित है। महाभारत कौरवों और पाण्डवों के युगान्तरकारी युद्ध का ही सच्चा इतिहास नहीं है प्रत्युत उसे हमारी संस्कृति, समाज, राजनीति तथा धर्म के प्रतिपादक इतिहास होने का भी गौरव प्राप्त है। यहाँ इतिहास के अन्तर्गत

---

१ इतिहास-पुराणभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्

विभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति—महाभारत।

२ अथर्ववेद इतिहासवेदौ च वेदाः। पश्चिमं (अहर्भागं) इतिहासश्रवणे। पुराणमिति वृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं चेतीतिहासः

—अर्थशास्त्र।

इस वाल्मीकीय रामायण को भी रखना उचित समझते हैं। प्रचलित परिपाटी के अनुसार इसे 'आदि महाकाव्य' मानना ही न्याय-संगत होगा परन्तु धार्मिक दृष्टि से उसका गौरव महाभारत से घटकर नहीं है। रामायण के द्वारा चित्रित भारतीय सभ्यता महाभारत से भी प्राचीन है। रामायण मर्यादा-पुरुषोत्तम महाराज रामचन्द्र के जीवन चरित को चित्रित करनेवाला अनुपम ग्रन्थ है। रामराज्य की कल्पना जो भारतीय राजनीति में आदर्श मानी जाती है महर्षि वाल्मीकि की ही देन है। यह जानना आवश्यक है कि रामायण और महाभारत की घटनायें ऐतिहासिक हैं। ये दोनों महत्त्वपूर्ण युद्ध इसी भारतवर्ष की सीमा के भीतर लड़े गये थे। उन्हें अन्तर्जगत् के धर्म और अधर्म के द्वन्द्व युद्ध का प्रतीकमात्र मान लेना नितान्त अनुचित है। वैदिक साहित्य में हम जिस धर्म का सिद्धान्त रूप में दर्शन करते हैं उसी का व्यावहारिक रूप हमें इन दोनों ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। सच्ची बात तो यह है कि रामायण और महाभारत जीवित भारतीय संस्कृति के प्रकाशस्तम्भ हैं जिनके प्रकाश से हम अपने वैदिक धर्म के अनेक अन्धकार से आवृत तथ्यों के साक्षात् करने में समर्थ होते हैं। ये दोनों इतिहास ग्रन्थ हैं। परन्तु उस अर्थ में ये इतिहास ग्रन्थ नहीं हैं जिस अर्थ में समझा जाता है। इतिहास शब्द यहाँ अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इतिहास का शब्दार्थ ही है—इति + ह + आस—जो इस तरह से था। इस प्रकार से हमारे प्राचीन धर्म तथा हमारी सभ्यता में जो कुछ था, उसका साङ्गोपाङ्ग वर्णन हमें इन दोनों ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। इतिहास के द्वारा वेद के अर्थ का उपबृंहण होता है, इसका भी यही रहस्य है। वेद का अर्थ तो स्वयं सूक्ष्म ठहरा, जिसे सूक्ष्म मतिवाले लोग ही भली भाँति समझ सकते हैं। परन्तु इन इतिहास तथा पुराण ग्रन्थों में हम उसी सूक्ष्म अर्थ का प्रतिपादन जन साधारण के लिए बोधगम्य, सरस तथा सरल भाषा में पाते हैं। इतिहास और पुराणों में जो सिद्धान्त प्रतिपादित हैं वे सिद्धान्त वेद के ही हैं; इसमें तनिक भी

सन्देह नहीं। परन्तु हमारे समझने योग्य भाषा में लिखे जाने के कारण ये हमारे हृदय को अधिक स्पर्श करते हैं। इस तरह वैदिक सिद्धान्तों के बहुल प्रचारक होने के कारण ही धार्मिक दृष्टि से इन ग्रन्थों का महत्त्व है। व्यास ने इतिहास की महत्ता बतलाते हुए इसी बात की ओर संकेत किया है:—

इतिहासपुराणाभ्यां, वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुतात् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

इतिहास के जिस व्यापक अर्थ का हमने अभी निर्देश किया है उसका समर्थन राजशेखर की काव्यमीमांसा से भी होता है। राजशेखर का कहना है कि इतिहास दो प्रकार का है (१) परिक्रिया (२) पुराकल्प। 'परिक्रिया' से अभिप्राय उस इतिहास से है जिसका नायक एक ही व्यक्ति होता है जैसे रामायण। 'पुराकल्प' अनेक नायक वाले इतिहास ग्रन्थ का सूचक है जैसे महाभारत। राजशेखर के अनुसार भी ये दोनों ग्रन्थ रत्न 'इतिहास' के ही अन्तर्गत ठहरते हैं। राजशेखर का कथन है—

परिक्रिया पुराकल्पः, इतिहास–गतिर्द्विधा।
स्यादेक-नायका पूर्वा, द्वितीया बहुनायका॥ (अध्याय २)

भारतीय काव्य साहित्य के आधार तथा उपजीव्य हैं ये ही इतिहास-पुराण। अतः उसके प्रकृत वर्णन प्रस्तुत करने से पहिले इन आधार-ग्रन्थों का अनुशीलन यहाँ नितान्त आवश्यक है।

(३) रामायण

सदूषणापि निर्दोषा सखरापि सुकोमला ।
नमस्तस्मै कृता येन रम्या रामायणी कथा ॥

—त्रिविक्रमभट्ट

संस्कृत साहित्य में महर्षि वाल्मीकिकृत रामायण 'आदिकाव्य' समझा जाता है तथा वाल्मीकि 'आदिकवि' माने जाते हैं। कथा प्रसिद्ध है कि जब व्याध के बाण से बिंधे हुए क्रौञ्च के लिये विलाप करनेवाली क्रौञ्ची का करुण शब्द ऋषि ने सुना, तो उनके मुँह से अकस्मात् यह श्लोक निकल पड़ा जिसका आशय यह है कि हे निषाद ! तुमने काम से मोहित इस क्रौञ्च पक्षी को मारा है। अतः तुम सदा के लिये प्रतिष्ठा प्राप्त न करो[1]। महर्षि की कल्याणमयी वाणी सुनकर स्वयं ब्रह्मा उपस्थित हुए और उन्होंने रामचरित लिखने के लिये उनसे कहा। रामायण की रचना इसी प्रेरणा का फल है। वाल्मीकि अनुष्टुप् छन्द के आविष्कारक माने जाते हैं। उपनिषदों में भी अनुष्टुप् छन्द है, परन्तु लौकिक संस्कृत में व्यवहृत होने वाले सम अक्षर से युक्त अनुष्टुप् का प्रथम प्रयोग वाल्मीकि ने किया जिसमें लघुगुरु का निवेश नियमबद्ध था।

बहुत से विद्वान् लोग उत्तरकाण्ड को तथा बालकाण्ड के कतिपय अंश को एकदम प्रक्षिप्त बतलाते हैं। उनका कहना है कि बालकाण्ड के प्रथम और तृतीय सर्ग में जो विषय-सूची दी गई है उसमें उत्तरकाण्ड का निर्देश नहीं है। जर्मन विद्वान् 'याकोबी' मूल रामायण में अयोध्या काण्ड से लेकर युद्धकाण्ड तक पाँच ही काण्ड मानते हैं। लङ्काकाण्ड के अन्त में ग्रन्थ के अन्त होने की सूचना सी प्रतीत होती है, इसलिये उत्तर

---

१. मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

काण्ड को पीछे से जोड़ा गया माना जाता है। इस काण्ड में कुछ ऐसे आख्यानों की चर्चा है जिनका संकेत पहले के काण्डों में नहीं मिलता है, फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि वह बहुत पीछे जोड़ा गया है। बौद्धों में एक प्रसिद्ध जातक है—'दशरथ जातक' जिसमें रामायण का वर्णन संक्षेप रूप में उपलब्ध होता है। इसमें पाली भाषा में रूपान्तरित उत्तरकाण्ड से एक श्लोक हूबहू मिलता है। इस जातक का समय विक्रमपूर्व तृतीय शतक माना जाता है। अतः मानना पड़ेगा कि उत्तर काण्ड की रचना उक्त तृतीय शतक से पहले की है।

इस आदिकाव्य को 'चतुर्विंशति साहस्री' कहते हैं अर्थात् इसमें २४ हजार श्लोक हैं—ठीक उतने ही हजार, जितने 'गायत्री' के अक्षर हैं। प्रत्येक हजार श्लोक का पहला अक्षर गायत्री मन्त्र के ही अक्षर से क्रमशः आरम्भ होता है, यह विद्वानों का कहना है। अनुष्टुप् श्लोकों के अतिरिक्त अन्य छन्दों में भी पद्य मिलते हैं। विद्वान् लोग इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर क्षेपक भी मानते हैं, परन्तु काव्य में एकता का कहीं भी अभाव नहीं दीख पड़ता। ग्रन्थ में पाठभेद भी कम नहीं हैं। उत्तरी भारत, बङ्गाल तथा काश्मीर में रामायण के जो संस्करण उपलब्ध होते हैं उनमें पाठभेद बहुत ही अधिक हैं। उनमें एक दूसरे से श्लोकों का ही अन्तर नहीं है, प्रत्युत कहीं-कहीं तो सर्ग के सर्ग भिन्न दिखाई पड़ते हैं। रामायण के अनेक टीकाकार भी हुए जिनमें नागेशभट्ट की 'तिलक' सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त अन्य टीकाएँ ये हैं—'शृंगार तिलक' (गोविन्दराजकृत), 'रामायण कूट' (रामानन्दतीर्थकृत) 'वाल्मीकितात्पर्यतरणि' (विश्वनाथ कृत) तथा 'विवेक-तिलक' (वरदराजकृत)। इन सबों से प्राचीन टीका का नाम 'कतक' है, जिसका उल्लेख नागेश ने आदरपूर्वक अपनी टीका में किया है।

रामायण के अनेक संस्करण उपलब्ध होते हैं—(१) बम्बई से

प्रकाशित देवनागरी संस्करण[1]। उत्तरी भारत में इसी संस्करण का विशेष प्रचलन है। नागोजी भट्ट की लिखी हुई 'तिलक' टीका इसी संस्करण पर है। (२) बङ्गाल संस्करण (कलकत्ते से प्रकाशित) इस पर लोकनाथ की प्रसिद्ध टीका है। इस संस्करण का अनुवाद डाक्टर गोरेशियो ने अनेक उपयोगी टिप्पणियों के साथ किया है[2]।

संस्करण

(३) काश्मीर संस्करण जिसका प्रचलन उत्तर पश्चिमीय भारत में विशेष रूप से था[3]। (४) दक्षिण भारत संस्करण[4] (मद्रास से प्रकाशित) इसमें और देवनागरी संस्करण में विशेष भेद नहीं है। आरम्भ के तीनों संस्करणों में पर्याप्त भिन्नता है। वाल्मीकि का मूल रामायण कौन-सा था? इसका निर्णय करना नितान्त कठिन है। कुछ विद्वान् बङ्गाल संस्करण को अधिक पुराना तथा विशुद्ध मानते हैं, तो कुछ देवनागरी संस्करण को। इस विषय के लिए इन संस्करणों का विशेष मन्थन तथा अनुशीलन अपेक्षित है।

वाल्मीकीय रामायण के निर्माण का समय बाहरी तथा भीतरी प्रमाणों के आधार पर निश्चित किया जा सकता है। राम वैदिक, बौद्ध तथा जैन धर्मों में समभाव से मर्यादा-पुरुष माने जाते हैं। बौद्ध साहित्य में तथा जैन साहित्य में रामकथा का निर्देश स्पष्टतया किया गया है। बौद्ध कवि कुमारलात (१०० ई०)

समय

---

१ निर्णय सागर से प्रकाशित।

२ डॉ० गोरेशिओ (G. Gorresio) ने इस संस्करण को प्रकाशित किया है तथा इटेलियन भाषा में इसका पूरा अनुवाद भी किया है (१८४३-६७)।

३ डी० ए० वी० कालेज लाहौर के अनुसन्धान कार्यालय से प्रकाशित, १९२३।

४ मध्य-विलास बुकडिपो, कुम्भकोणम् से प्रकाशित, १९२९-३०।

की 'कल्पना मण्डतिका' में रामायण के सर्वसाधारण में वाचन का उल्लेख है। जैन कवि विमलसूरि ने रामकथा को 'पउम चरिय' नामक प्राकृत भाषा के महाकाव्य में निबद्ध किया है। विमलसूरि ने इस काव्य की रचना महावीर की मृत्यु से ५३० वर्ष के अनन्तर (लगभग ६२ ई०) में की है। यह काव्य वाल्मीकीय रामायण को आदर्श मानकर जैनधर्मावलम्बियों को इस मर्यादापुरुष के चरित से परिचय प्राप्त कराने के लिये ही लिखा गया है। महाकवि अश्वघोष (७८ ई०) ने अपने बुद्धचरित में सुन्दरकाण्ड की अनेक रमणीय उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं को निबद्ध किया है। बौद्धों के अनेक जातकों में रामकथा का स्पष्ट निर्देश है। 'दशरथ जातक' तो रामायण का पूरा आख्यान ही है जिसमें रामपण्डित बुद्ध के ही पूर्वकालीन प्रतिनिधि माने गये हैं। वाल्मीकि रामायण का एक श्लोक भी इस जातक में पालीरूप में उपलब्ध होता है। जातकों का समय-निरूपण झमेले का विषय है। यद्यपि उनकी कथाएँ इससे भी पूर्व इस देश में प्रचलित थीं तथापि तृतीय शतक ई० पूर्व में उनका समय साधारणतया माना जाता है। इन बाहरी प्रमाणों के आधार पर रामायण तृतीय शतक ईस्वी पूर्व से भी पहले की रचना सिद्ध होता है।

वर्तमान महाभारत रामकथा ही से परिचित नहीं है, अपितु वह वाल्मीकि के रामायण से भी भली भाँति अवगत है। रामायण में महाभारत के पात्रों का कहीं भी उल्लेख नहीं है, परन्तु वनपर्व का रामोपाख्यान (अध्याय २७३–९३) वाल्मीकि में दी गई कथा का संक्षिप्त संस्करण है। रामचन्द्र से सम्बद्ध स्थान महाभारत में तीर्थरूप से माने गये हैं। शृङ्गवेरपुर[1]

---

१ ततो गच्छेत राजेन्द्र शृङ्गवेरपुरं महत्।
यत्र तीर्णो महाराज ! रामो दाशरथिः पुरा ॥
तस्मिन् तीर्थे महाबाहो सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

—वनपर्व ८५।६५

(सिंगरौर जि० प्रयाग) तथा गोप्रतार[1] (फैजाबाद में गुप्तार घाट) वनपर्व में तीर्थ माने गये हैं। अतः महाभारत के वर्तमान रूप प्राप्त होने से पहले ही रामायण अवान्तर अंशों के साथ प्राचीन तथा पुराना ग्रन्थ माना जाता था। दोनों ग्रन्थों की तुलना आगे की जायेगी। महाभारत को वर्तमानरूप ईस्वी के आरम्भ में प्राप्त हुआ है। अतः रामायण की रचना इससे भी पहले ही अवश्य की गई होगी।

रामायण का अनुशीलन उसकी रचना के समय को भलीभाँति प्रकट कर रहा है। रामायण के समय की राजनीतिक अवस्था का परिचय इस महाकाव्य के अध्ययन से भलीभाँति मिलता है:—

अन्तःप्रमाण

(१) पाटलिपुत्र नगर की स्थापना ५०० ई० पूर्व में मगध नरेश अजातशत्रु ने की। पहले यह एक साधारण ग्राम था जिसका नाम बौद्धग्रन्थों में 'पाटलिग्राम' दिया गया है। अजातशत्रु ने शत्रु लोगों के आक्रमण से अपनी रक्षा करने के निमित्त गंगा-सोन के संगम पर इस ग्राम में किला बनवाया[2]। इनके पिता बिम्बसार की राजधानी राजगृह या गिरिव्रज थी। रामायण में राम शोण और गंगा के संगम से होकर जाते हैं पर पाटलिपुत्र का उल्लेख नहीं मिलता[3]। इससे स्पष्ट है कि रामायण ५०० ई० पूर्व से पहले लिखा गया।

---

१ गोप्रतारं ततो गच्छेत् सरय्वास्तीर्थमुत्तमम् ॥७०॥
यत्र रामो गतः स्वर्गं सभृत्यबलवाहनः।
देहं त्यक्त्वा महाराज! तस्य तीर्थस्य तेजसा ॥७१॥
—वनपर्व अ० ८४

2 Rai Choudhary : Political History of Ancient India, p. 141.

३ बालकाण्ड सर्ग ३१।

(२) कोसल जनपद की राजधानी रामायण में अयोध्या बतलाई गई है[१], परन्तु जैन और बौद्ध ग्रन्थों में अयोध्या को छोड़कर वह 'साकेत' नाम से ही प्रख्यात है। लव ने अपनी राजधानी 'श्रावस्ती' में स्थिर की[२]। रामायण की रचना उस समय की गई होगी, जब अयोध्या को छोड़कर श्रावस्ती में राजधानी नहीं लाई गई थी। बुद्ध के समय में कोशल के राजा प्रसेनजित 'श्रावस्ती' में ही राज्य करते थे। अतः रामायण की रचना इससे पूर्वकाल में हुई।

(३) गंगा पार करने पर राम 'विशाला' में पहुँचे। इसके राजा का नाम 'सुमति' था जिसने इन लोगों की बड़ी अभ्यर्थना की—गङ्गाकूले निविष्टास्ते विशालां ददृशुः पुरीम्—बाल ४५।८। इक्ष्वाकु के 'अलम्बुषा' नामक रानी में उत्पन्न 'विशाल' नामक पुत्र ने इस नगरी को बसाया था। इसी लिए यह 'विशाला' के नाम से विख्यात थी। रामायण में विशाला[३] और मिथिला[४] दो स्वतन्त्र राजतन्त्र राज्य थे, परन्तु बुद्ध के समय में ये दोनों राज्य वैशाली राज्य के रूप में सम्मिलित कर दिये गये थे। शासन पद्धति गणतन्त्र राज्य के समान थी। अतः रामायण को बुद्ध से प्राचीन होना चाहिए।

(४) भारत का दक्षिण अंश एक विराट् अरण्यानी के रूप में अंकित किया गया है जिसमें बन्दर भालू आदि असभ्य या अर्धसभ्य जातियाँ निवास करती थीं। आर्य सभ्यता के इन देशों में प्रसार होने से

---

१ अयोध्या नाम नगरी तत्रासीत् लोकविश्रुता।—बाल ५।६

२ श्रावस्तीति पुरी रम्या श्राविता च लवस्य च ॥

—उत्तर १०८।४

३ द्रष्टव्य बालकाण्ड, सर्ग ४७, श्लोक ११–२०

४ मिथिला में जनक वंशी नरेशों का आधिपत्य था। उस समय मिथिला के राजा का नाम सीरध्वज जनक था।—द्रष्टव्य बाल० सर्ग ५०

पहले की यही अवस्था थी। अतः दक्षिण भारत को आर्य बनने से पहले ही रामायण का निर्माण हुआ।

(५) उत्तरी भारत आर्य अवश्य था, परन्तु बालकाण्ड से सिद्ध है कि कोशल, अंग, कान्यकुब्ज, मगध, मिथिला आदि अनेक छोटे-छोटे राज्यों में यह बँटा था। यह राजनीतिक अवस्था बुद्ध-पूर्व भारत में ही दृष्टिगोचर होती है।

(६) सारे रामायण में केवल दो पद्यों में ही यवनों का नाम आता है। इसी सामान्य आधार पर जर्मन विद्वान् डाक्टर वेबर ने सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि रामायण पर यूनानी सभ्यता का प्रभाव पड़ा है, पर डा० याकोबी ने इन्हें प्रक्षिप्त सिद्ध किया है। अतः यूनानी आक्रमण के अनन्तर ये पद्य रामायण में मिला दिये गये होंगे।

इन प्रमाणों के आधार पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रामायण की रचना बुद्ध के जन्म से पहले ही हुई। अर्थात् रामायण को ५०० ई० पू० से पहले की रचना मानना न्यायसंगत है।

समीक्षण

महर्षि वाल्मीकि आदिकवि हैं और उनका रामायण आदिकाव्य है। कवि के सच्चे रूप की कल्पना हमने वाल्मीकि से सीखी और महाकाव्य के महत्त्वको हमने रामायण से ग्रहण किया। यदि वाल्मीकि न होते, तो कवि के वास्तव स्वरूप और अभिराम आदर्श को हम कहाँ से सीखते? और यदि उनकी प्रसन्न-गम्भीर रामायण हमें नहीं मिलती तो हम महाकाव्य के माहात्म्य तथा गौरव को कैसे पहचानते? कवि और काव्य के विशुद्ध रूप की कसौटी है—आदिकवि का „ परम पावन,„ माननीय तथा मननीय आदिकाव्य रामायण। कवि का पद ऋषि के समान है। ऋषि का भी अर्थ है—द्रष्टा। वस्तुओं के विचित्र भाव, धर्म तथा तत्त्व को भली-भाँति अवगत करनेवाला व्यक्ति ही 'ऋषि' के महनीय पद का वाच्य है।

कवि का भी अर्थ है क्रान्तदर्शी—'कवयः क्रान्तदर्शिनः'—अर्थात् नेत्रों के व्यापार से दूर रहनेवाले अतीत एवं भविष्य के पदार्थों को यथार्थ रूप से देखनेवाला पुण्यात्मा पुरुष। परन्तु दोनों में थोड़ा अन्तर है। वस्तु-तत्त्व के दर्शन होने से ऋषित्व की प्राप्ति हो जाती है; परन्तु जब तक वह अपने अनुभूत वस्तु तत्त्व को शब्दों के द्वारा व्यक्त नहीं करता, तब तक वह 'कवि' नहीं कहला सकता। 'कवि' की कल्पना में 'दर्शन' के साथ 'वर्णना' का भी मनोरम सामञ्जस्य है और इस कल्पना के जनक स्वयं महर्षि वाल्मीकि ही हैं। उन्हें वस्तुओं का निर्मल दर्शन नित्यरूप से था, परन्तु जब तक 'वर्णना' का उदय नहीं हुआ, तब तक उनकी 'कविता' का प्रादुर्भाव नहीं हुआ। 'मा निषाद' पद्यके उच्चारण करते ही ब्रह्मा स्वयं ऋषिके सामने उपस्थित हुए और कहने लगे—महर्षे! तुम्हारी आर्ष चक्षु या प्रातिभ चक्षु का अब उन्मेष हो गया है। तुम आद्य कवि हो। भवभूति के स्मरणीय शब्दों में—

ऋषे प्रबुद्धोऽसि वागात्मनि ब्रह्मणि। तद् ब्रूहि रामचरितम्।
अव्याहतज्योतिरार्षं ते चक्षुः प्रतिभाति। आद्यः कविरसि।

कवि के यथार्थ रूपको वाल्मीकि के दृष्टान्त के द्वारा प्रसिद्ध समालोचक-शिरोमणि भट्ट तौत ने इस पद्य में कितनी सुन्दरता से समझाया है—

दर्शनाद् वर्णनाच्चाथ रूढा लोके कविश्रुतिः।
तथा हि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुनेः।
नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना॥

संस्कृत काव्य-धारा की दिशा तो उसी अवसर पर निर्दिष्ट हो गयी, जब प्रेम-परायण, सहचर के आकस्मिक वियोग से सन्तप्त क्रौञ्ची के करुण निनाद को सुनकर वाल्मीकि के हृदय का शोक श्लोक के रूप में छलक पड़ा था। काव्य का जीवन रस है, काव्य का आत्मा रस है—इसे साहित्य-संसार ने तभी सीख लिया, जब आदिकवि की आदि कविता के

रसामृत का उसने पान किया; बारम्बार प्रीयमाण तथा नितान्त विस्मित शिष्यों ने आश्चर्य भरे शब्दों में इस रहस्यभूत तत्त्व को पहचाना—

समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो महर्षिणा ।
सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥

(रामायण १।२।४०)

महाकवि कालिदास ने भी इसी तथ्य की अभिव्यक्ति की है—

तामभ्यगच्छद् रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय यातः ।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ॥

(रघुवंश १४।७०)

इन्हीं सूत्रों को पकड़कर आनन्दवर्धन ने 'प्रतीयमान' अर्थ के सामान्यरूपेण काव्य में मुख्य होने पर भी रस को ही काव्य की आत्मा स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥

(ध्वन्यालोक १।५)

आदिकवि का यह समग्र काव्य ही कविता के सच्चे रूप को प्रकट कर रहा है । वाल्मीकीय रामायण मनोरम उपमाओं तथा उत्प्रेक्षाओं का एक विराट् भव्य प्रासाद है; परन्तु इसके बाह्य आवरणों में उसका विशुद्ध रसमय हृदय भली भाँति झलक रहा है, इतने स्पष्ट रूप में कि उसकी सत्ता का परिचय हमें पद-पद पर प्राप्त होता है। रामायण का हृदय है—रस-पेशल-वर्णन और इस वर्णन में सर्वत्र विद्यमान है—समग्र-काव्यगत व्यापक औचित्य । महाकाव्य का प्रथम तथा भव्य निदर्शन है—यही वाल्मीकीय-रामायण । रामायण का ही विश्लेषण कर आलङ्कारिकों ने 'महाकाव्य' का लक्षण प्रस्तुत किया है । 'सर्गबन्धो महाकाव्यम्' लक्षण

का प्रथम तथा सबसे सुन्दर लक्ष्य है—रामायण। दण्डी का यह प्रसिद्ध लक्षण 'रामायण' को ही आदर्श मानकर लिखा गया है—

अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः॥
सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम्।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायेत सदलंकृति॥

आनन्दवर्धन ने स्पष्टतः 'करुण' को ही रामायण का मुख्य रस कहा है। रामायण का आरम्भ 'करुण' से होता है तथा राम के सामने सीता के पृथ्वी के भीतर अन्तर्धान होने के दृश्य से रामायण का अन्त भी 'करुण' से ही होता है—

रामायणे हि करुणो रसः स्वयमादिकविना सूचितः 'शोकः श्लोकत्वमागतः' इत्येवंवादिना। निर्व्यूढश्च स एव सीताऽत्यन्तवियोगपर्यन्तमेव स्वप्रबन्धमुपरचयता।

(ध्वन्यालोक, उद्योत ४ पृ० २३७)

वाल्मीकि समग्र-कवि समाज के उपजीव्य हैं—विशेषतः कालिदास तथा भवभूति के। इन दोनों महाकवियों ने रामायण का गाढ़ अनुशीलन किया था और इनकी कविता में हमें जो रस मिलता है, उसमें रामायण की भक्ति कम सहायक नहीं रही है। कालिदास का शृङ्गार-रस सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, परन्तु उनका 'करुण' रस कम प्रभावशाली नहीं है। कालिदास ने उभयविधि 'करुण' को उपस्थित कर उसे साङ्गोपाङ्ग रूप से दिखलाया है। पत्नी के लिये पति की करुणा का रूप हम रघुवंश के 'अज-विलाप' में पाते हैं और पति के निमित्त पत्नी की करुण परिवेदना 'रतिविलाप' के रूप में हमें रुलाती है। ताप से लोहा भी पिघल उठता है, तब कोमल हृदय मानव-चित्त सन्ताप से मृदु बन जाय—क्या इस विषय में सन्देह के लिये स्थान है? 'अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव

कथा शरीरिषु ?' कालिदास के इन करुण वर्णनों में मानव-हृदय को प्रभावित करने की क्षमता है, परन्तु भवभूति के उत्तरचरित में तो यह अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया है। यह भवभूति का ही काम था कि उन्होंने सीता के वियोग में राम को रोते देखकर पत्थर को रुलाया है और वज्र हृदय को भी विदीर्ण होते दिखलाया है—

'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलित वज्रस्य हृदयम्।'

इन करुण उक्तियों की चोट से क्षुब्ध होकर गोवर्धनाचार्य ने भवभूति की भारती को 'भूधर की कन्या' बतलाया है। तभी तो उसके करुण-क्रन्दन को सुनकर पत्थर का हृदय पिघल गया था। प्यारी पुत्री का रुदन सुनकर किस पिता का हृदय द्रवित होकर आँसुओं के रूप में नहीं बह निकलेगा?

भवभूतेः सम्बन्धाद् भूधरभूरेव भारती भाति।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा॥

भवभूति ने करुण को 'एको रसः'—मुख्य रस, अर्थात् समस्त रसों की प्रकृति माना है और अन्य रसों को उसकी विकृति माना है। 'एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्'—इस कथन के मूल को हमें वाल्मीकि के अन्दर खोजना चाहिये।

वाल्मीकि का यह महाकाव्य पृथ्वीतल को विदीर्ण कर उगनेवाले उस विराट् वट-वृक्ष के समान है, जो अपनी शीतल छाया से भारत के समस्त मानवों को आश्रय देता हुआ प्रकृति की विशिष्ट विभूति के समान अपना मस्तक ऊपर उठाए हुए खड़ा है। महाकाव्य प्रधानतया वीर-रस-प्रधान हुआ करते हैं, जिनमें युद्ध का घोष, विजय-दुन्दुभिका गर्जन तथा सैनिकों का तर्जन मानवों के हृदय में उत्साह तथा स्फूर्ति उत्पन्न किया करते हैं, परन्तु रामायण का माहात्म्य वीर-रस के प्रदर्शन में नहीं है। किसी देव-चरित के वर्णन में भी रामायण का गौरव नहीं है; क्योंकि महर्षि वाल्मीकि ने जब आदर्श गुणों से मण्डित किसी व्यक्ति का परिचय पूछा,

तब नारदजी ने एक मानव को ही उन अनुपम गुणों का भाजन बतलाया—'तैर्युक्तः श्रूयतां नरः।' यह नर-चरित्र का ही कीर्तन है। भारतीय गार्हस्थ्य-जीवन का विस्तृत चित्रण रामायण का मुख्य उद्देश्य प्रतीत हो रहा है। आदर्श पिता, आदर्श माता, आदर्श भाई, आदर्श पति, आदर्श पत्नी—आदि जितने आदर्शों को इस अनुपम महाकाव्य में आदिकवि की शब्द-तूलिका ने खींचा है वे सब गृहधर्म के पट पर ही चित्रित किये गये हैं। इतनाही क्यों, राम-रावण का वह भयानक युद्ध भी इस काव्य का मुख्य उद्देश्य नहीं है। वह तो राम-जानकी—पति-पत्नी—की परस्पर विशुद्ध-प्रीति को पुष्ट करने का एक उपकरणमात्र है। और ऐसा होना स्वाभाविक ही है। रामायण को भारतीय सभ्यता ने अपनी अभिव्यक्ति के लिये प्रधान साधन बना रखा है और भारतीय सभ्यता की प्रतिष्ठा है—गृहस्थाश्रम। अतः यदि इस गार्हस्थ्य धर्म की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये आदिकवि ने इस महाकाव्य का प्रणयन किया तो इसमें आश्चर्य क्या है? रामायण तो भारतीय सभ्यता का प्रतीक ठहरा, दोनों में परस्पर उपकार्योपकारक-भाव बना हुआ है। एक को हम दूसरी की सहायता से समझ सकते हैं।

रामचरित्र

आदिकवि ने अपने काव्य-मन्दिर की पीठ पर प्रतिष्ठित किया है—मर्यादा-पुरुषोत्तम महामानव महाराजा रामचन्द्र को। विभिन्न विकट परिस्थितियों के बीच में रहकर व्यक्ति अपने शीलके सौन्दर्य की किस प्रकार रक्षा कर सकता है? यह हमें वाल्मीकि ने ही सिखलाया है। यदि आदि कवि ने इस चरित्र का चित्रण न किया होता तो हमें मंजुल गुणों के सामञ्जस्य का परिचय कहाँ से मिलता? भारतवासी किसी मानव के आदर्श चरित्र को सुनने के लिये लालायित थे, वाल्मीकि ने उसी चरित्र को

उनके सामने प्रस्तुत किया। यही कारण है कि इस काव्य की मोहकता कभी कम नहीं होती; इसके शब्दों में इतनी माधुरी है, चित्रों में इतनी चमक है कि मानव कान और मन इसके परिशीलन से एक साथ ही आप्यायित हो उठते हैं। रामायण को मैं जितनी बार पढ़ता हूँ उतनी ही बार उसमें नयी-नयी बातें सूझती हैं। इन सरल परिचत शब्दों में इतना रस-परिपाक हुआ है कि पढ़ने वाले का चित्त आनन्द से गद्‌गद हो उठता है। सच बात तो यह है कि रामायण के इन अनुष्टुपों को पढ़कर शताब्दियों से भारत का हृदय स्पन्दित हो रहा है और सदैव होता रहेगा।

राम के किन आदर्श गुणों के अङ्कन में यह लेखनी प्रवृत्त हो? उनकी कृतज्ञता का वर्णन किन शब्दों में किया जाय? राम तो किसी तरह किये गये एक ही उपकार से सन्तुष्ट हो जाते हैं; और अपकार चाहे कोई सैकड़ों ही करे, उनमें से एक का भी स्मरण उन्हें नहीं रहता। अपकारों को भूलने वाला हो तो ऐसा हो—

कथञ्चिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।
न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥
(रामायण २।१।११)

उनका क्रोध तथा प्रसाद दोनों ही अमोघ है। अपने पापों के कारण हनन योग्य व्यक्तियों को बिना मारे वे नहीं रहते और अवध्य के ऊपर क्रोध के कारण कभी उनकी आँख भी लाल नहीं होती—

नास्य क्रोधः प्रसादो वा निरर्थोऽस्ति कदाचन।
हन्त्येष नियमाद् वध्यानवध्येषु न कुप्यति॥
(रामायण २।२।४६)

राम का शील कितना मधुर है। वे सदा दान करते हैं; कभी दूसरे से प्रतिग्रह नहीं लेते; वे अप्रिय कभी नहीं बोलते। साधारण स्थिति की

बात नहीं, प्राण-सङ्कट उपस्थित होने की विषम दशा में श्री राम इन नियमों का उल्लङ्घन नहीं करते ।

दद्यान्न प्रतिगृह्णीयान्न ब्रूयात् किञ्चिदप्रियम् ।
अपि जीवितहेतोर्वा रामः सत्यपराक्रमः ॥
(रामायण ५।३३।२६)

अपने कुटुम्बियों के प्रति उनका व्यवहार कितना कोमल तथा सहानुभूति पूर्ण है ! सीता के प्रति राम के प्रेम का वर्णन करते समय आदिकवि ने मानव-तत्त्व का बड़ा ही सूक्ष्म निरीक्षण प्रस्तुत किया है । राम सीता के वियोग में चार कारणों से सन्तप्त हो रहे हैं—सीता के प्रति उनके परि-ताप का कारण चतुर्मुखी है । धर्मशास्त्र आपत्ति में स्त्री की रक्षा करने का उपदेश देता है, परन्तु राम से यह न हो सका; अतः वह अबला स्त्री की रक्षा न कर सकने के कारण कारुण्य से सन्तप्त हैं । वन में सीता रामकी आश्रिता थीं, परन्तु राम ने अपने आश्रित की रक्षा नहीं की; अतः आनृ-शंस्य—आश्रित जनों के संरक्षक-स्वभाव से सन्तप्त हैं । सीता उनकी पत्नी सहधर्मिणी ठहरीं । उनके नष्ट होने पर उनके (श्रीराम के) धर्म का पालन क्योंकर हो सकेगा, अतः शोक से । वे उनकी प्रिया, प्रियतमा ठहरीं, परम सुख की साधिका ठहरीं । उस परम लावण्यमयी स्त्री के नाश ने उनके हृदय में अतीत के उस आनन्दमय जीवन की मधुर स्मृति जगा दी है—इस कारण प्रेम से । इन नाना भावों के कारण सीता के वियोग में राम सन्तप्त हो रहे हैं—

इयं सा यत्कृते रामश्चतुर्भिः परितप्यते ।
कारुण्येनानृशंस्येन शोकेन मदनेन च ॥
स्त्री प्रणष्टेति कारुण्यादाश्रितेत्यानृशंस्यतः ।
पत्नी नष्टेति शोकेन प्रियेति मदनेन च ॥
(रामायण ५।१५।४८-४९)

लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम ने भ्रातृप्रेम के विषय में जो उद्गार निकाले हैं, उनकी समता भला किसी अन्य सुशिक्षित कहलानेवाले देश के साहित्य में भी कभी मिल सकती है ? 'यदि मनुष्य चाहे तो एक देश के बाद दूसरे देश में उसे विवाहयोग्य स्त्रियाँ मिल सकती हैं, प्रत्येक देश में मित्र भी मिल सकते हैं; परन्तु मैं उस देश को नहीं देखता, जहाँ सहोदर भ्राता मिल सकें।' धन्य हैं भगवान् रामचन्द्र। केवल इस उक्ति के अनूठेपन पर समस्त साहित्य को न्योछावर कर देने का मन होता है। यह सूक्ति हृदय पर कितना अधिक चोट कर रही है—

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः॥

रामचन्द्र की शरणागत-वत्सलता का चरम दृष्टान्त है—अपने मायावी शत्रु के भाई को उसी की नगरी में आश्रय प्रदान करना। उनके औदार्य की झलक रावणवध होने के बाद रावण के दाह-संस्कार के समय मिलती है। राम का कहना है कि रावण जिस प्रकार विभीषण का सगा सम्बन्धी है, उसी प्रकार उनका भी है। रावण की मृत्यु के साथ-साथ उनका उसके प्रति वैर-भाव भी शान्त हो गया है। अब वैर लेने की क्या आवश्यकता रह गई ?

मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव॥

१० सीता-चरित्र

भगवती जनक-नन्दिनी के शील-सौन्दर्य की ज्योत्स्ना किस व्यक्ति के हृदय को शीतलता तथा शान्ति नहीं प्रदान करती ? जानकी का चरित्र भारतीय ललना के महान् आदर्श का प्रतीक है। रावण के बारंबार प्रार्थना करने पर भी सीता ने जो अवहेलना-सूचक वचन कहा है, वह भारतीय नारी के गौरव को सदा उद्घोषित करता रहेगा। इस निशाचर रावण से

प्रेम करने की बात तो दूर रही, मैं तो इसे अपने पैर से—नहीं-नहीं, बायें पैर से भी नहीं छू सकती—

चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम्।
रावणं किं पुनरहं कामयेयं विगर्हितम्॥
(रामायण ५।२६।१०)

रावण की मृत्यु के अनन्तर राम ने सीता के चरित्र की विशुद्धि सामान्य जनता के सामने प्रकट करने के लिये अनेक कटु वचन कहे। उन वचनों के उत्तर में सीता के वचन इतने मर्मस्पर्शी हैं कि आलोचकका हृदय आनन्दातिरेक से गद्गद हो जाता है। सीताजी के कतिपय कथनों पर दृष्टि डालिये। 'मनुष्य उसी वस्तु के लिये उत्तरदायी हो सकता है, जिसपर उसका अधिकार हो। मैं अपने हृदय की स्वामिनी हूँ। वह सदा आपके चिन्तन में निरत रहा है। अङ्गों पर मेरा अधिकार नहीं। वे पराधीन ठहरे। रावण ने बलात्कार से उनका स्पर्श कर लिया तो इसमें मेरा क्या अपराध है?—

मदधीनं तु यत्तन्मे हृदयं त्वयि वर्तते।
पराधीनेषु गात्रेषु किं करिष्याम्यनीश्वरा॥

'मेरे चरित्र पर लाञ्छन लगाना कथमपि उचित नहीं है। मेरे निर्बल अंश को आपने पकड़कर आगे किया है, परन्तु मेरे सबल अंश को पीछे ढकेल दिया है। नारी का दुर्बल अंश है—उसका स्त्रीत्व और उसका सबल अंश है—उसका पत्नीत्व तथा पातिव्रत। नर-शार्दूल! आप मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं; परन्तु क्रोध के आवेश में आपका यह कहना साधारण मनुष्यों के समान है। आपने मेरे स्त्रीत्व को तो दोषारोपण करने के निमित्त आगे किया है, परन्तु आपने इस बात पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया कि बालकपन में ही आपने मेरा पाणिग्रहण किया है, आपकी मैं शास्त्रानुमोदित धर्मपत्नी हूँ। मैं आपकी भक्ति करती हूँ तथा मेरा स्वभाव निश्छल और पवित्र है। आश्चर्य है आप जैसे नर-शार्दूल ने मेरे स्वभाव को, भक्ति को,

तथा पाणिग्रहण को पीछे ढकेल दिया, केवल स्त्रीत्व को आगे रखा है—

त्वया तु नरशार्दूल ! क्रोधमेवानुवर्तता ।
लघुनेव मनुष्येण स्त्रीत्वमेव पुरस्कृतम् ॥
न प्रमाणीकृतः पाणिर्बाल्ये बालेन पीडितः ।
मम भक्तिश्च शीलं च सर्वं ते पृष्ठतः कृतम् ॥

कितनी ओजस्विता भरी है इन सीधे-सादे निष्कपट शब्दों में। अनादृता भारतीय ललना का यह हृदयोद्गार कितना हृदय-वेधक है ! सुनते ही सहृदय मनुष्य की आँखों में सहानुभूति के आँसू छलक पड़ते हैं ।

राम और सीता का निर्मल चरित्र वाल्मीकि की कोमल काव्य-प्रतिभा का मनोरम निदर्शन है । रामायण हमारा जातीय महाकाव्य है । यह भारतीय हृदय का उच्छ्वास है । वाल्मीकि हमारे प्रतिनिधि कवि हैं । रामायण का जितना पठन किया जायेगा, रामचरित्र का जितना चिन्तन किया जायेगा, वह उतना ही मङ्गलप्रद होगा; क्योंकि सचमुच यह मानव-जीवन राम-दर्शन के बिना निरर्थक है—'राम-दर्शन' उभय अर्थ में—राम-कर्तृक दर्शन (राम के द्वारा देखा जाना) तथा राम-कर्मक दर्शन (राम को देखना) । राम जिसको नहीं देखते, वह लोक में निन्दित है। और जो व्यक्ति राम को नहीं देखता, उसका जीवन भी निन्दित है । उसका अन्तःकरण स्वयं उसकी निन्दा करने लगता है—

यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति ।
निन्दितः स भवेल्लोके स्वात्माप्येनं विगर्हते ॥

राम की अनुकम्पा का उपाय है—राम का चिन्तन । इस राम-चरित्र के मनन की सामग्री है—वाल्मीकीय रामायण । भगवान् करे आदि कवि की निर्मल रसामृत-तरङ्गिणी प्रत्येक भारतीय के द्वार पर सुख तथा शान्ति बहाती हुई उसे मङ्गलमय बनाये ।

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन् रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥

(४) महाभारत

व्यासगिरां निर्यासं सारं विश्वस्य भारतं वन्दे ।
भूषणतयैव संज्ञां यदङ्कितां भारती वहति ॥—गोवर्धनाचार्य ।

धर्मे ह्यर्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ॥ —महाभारत ।

रामायण तथा महाभारत हमारे जातीय इतिहास हैं। भारतीय सभ्यता का भव्य रूप इन ग्रन्थों में जिस प्रकार से फूट निकलता है वैसा अन्यत्र नहीं। कौरवों और पाण्डवों का इतिहास वर्णन ही इस ग्रन्थ का उद्देश्य नहीं है, अपितु हमारे हिन्दू-धर्म का विस्तृत एवं पूर्ण चित्रण भी प्रयोजन है। महाभारत का

महत्त्व

शान्तिपर्व जीवन की समस्याओं को सुलझाने का कार्य हजारों वर्षों से करता आ रहा है। इसलिए इस इतिहास-ग्रन्थ को हम अपना धर्मग्रन्थ मानते आये हैं जिसका पठन-पाठन, श्रवण-मनन, सब प्रकार से हमारा कल्याणकारक है। इस ग्रन्थ का सांस्कृतिक मूल्य भी कम नहीं है। सच तो यह है कि केवल इसी ग्रन्थ के अध्ययन से हम अपनी संस्कृति के शुद्ध स्वरूप से परिचय पा सकते हैं। भारतीय साहित्य का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ 'भगवद्गीता' इसी महाभारत का एक अंश है। इसके अतिरिक्त 'विष्णुसहस्रनाम', 'अनुगीता', 'भीष्मस्तवराज', 'गजेन्द्रमोक्ष' जैसे आध्यात्मिक तथा भक्तिपूर्ण ग्रन्थ यहीं से उद्धृत किये गये हैं। इन्हीं पाँच ग्रन्थों को 'पञ्चरत्न' के नाम से पुकारते हैं। इन्हीं गुणों के कारण 'महाभारत' पञ्चम वेद के नाम से विख्यात है। वाल्मीकि के समान व्यास जी भी संस्कृत के कवियों के लिये उपजीव्य हैं। महाभारत के उपाख्यानों का अवलम्बन कर ही कालान्तर में हमारे कवियों ने काव्य,

नाटक, गद्य, पद्य, चम्पू, कथा, आख्यायिका नानाप्रकार के साहित्य की सृष्टि की है। इतना ही क्यों? जावा सुमात्रा के साहित्य में भी महाभारत विद्यमान है। वहाँ के लोग भी महाभारत के कथानक से उसी प्रकार शिक्षा ग्रहण करते हैं तथा पाण्डव-चरित के अभिनय से उसी प्रकार अपना मनोरञ्जन करते हैं जिस प्रकार यहाँ के लोग। महाभारत इतना विशाल है कि व्यास जी का यह कथन सर्वथा सत्य प्रतीत होता है—'इस ग्रन्थ में जो कुछ है वह अन्यत्र है, परन्तु जो कुछ इसमें नहीं है वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है।' प्राचीन राजनीति जानने के लिये हमें इसी ग्रन्थ की शरण लेनी पड़ती है। विदुरनीति जिसमें आचार तथा लोक-व्यवहार के नियमों का सुन्दर निरूपण हैं महाभारत का ही एक अंश है। इस प्रकार ऐतिहासिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि अनेक दृष्टियों से महाभारत एक गौरवपूर्ण ग्रन्थ है।

आजकल महाभारत में एक लाख श्लोक मिलते हैं इसलिए इसे 'शतसाहस्री संहिता' कहते हैं। इसका यह स्वरूप कम से कम डेढ़ हजार वर्ष से अवश्य है क्योंकि गुप्तकालीन एक शिलालेख में यह 'शतसाहस्री' संहिता के नाम से उल्लिखित हुआ है। विद्वानों का

विकास

कहना है कि महाभारत का यह रूप अनेक शताब्दियों में विकसित हुआ है। बहुत प्राचीन काल से अनेक गाथाएँ तथा आख्यान इस देश में प्रचलित थे जिनमें कौरवों तथा पाण्डवों की वीरता का वर्णन किया गया था। अथर्ववेद में परीक्षित का आख्यान उपलब्ध होता है। अन्य वैदिक ग्रन्थों में यत्रतत्र महाभारत के वीर पुरुषों की बातें उल्लिखित मिलती हैं। इन्हीं सब गाथाओं तथा आख्यानों को एकत्र कर महर्षि वेदव्यास ने साहित्य का रूप दिया और वही आजकल का सुप्रसिद्ध महाभरित है। इसके विकास के तीन क्रमिक स्वरूप माने जाते हैं—(१) जय, (२) भारत, (३) महाभारत। इस ग्रन्थ का

मौलिक रूप 'जय' नाम से प्रसिद्ध था। ग्रन्थ के आरम्भ में नारायण[1], नर, सरस्वती देवी को नमस्कार कर जिस 'जय' नामक ग्रन्थ के पठन का विधान है वह 'महाभारत' का मूल प्रतीत होता है। वहीं स्वयं लिखा हुआ है कि इसका प्राचीन नाम जय था[2]। पाण्डवों के विजय वर्णन के कारण ही इस ग्रन्थ का ऐसा नामकरण किया गया प्रतीत होता है।

(२) भारत—दूसरी अवस्था में इसका नाम 'भारत' पड़ा। इसमें उपाख्यानों का समावेश नहीं था। केवल युद्ध का विस्तृत वर्णन ही प्रधान विषय था। इसी भारत को वैशम्पायन ने पढ़कर जनमेजय को सुनाया था[3]।

(३) महाभारत—इस ग्रन्थ का यही अन्तिम रूप है। इसमें एक लाख श्लोक बतलाये जाते हैं। यह श्लोक संख्या अठारह 'पर्वों' की ही नहीं है, किंतु 'हरिवंश' के मिलाने से ही एक लाख तक पहुँचती है। यह विकसित रूप भी बड़ा प्राचीन है। विक्रम से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व विरचित आश्वलायन गृह्यसूत्र में 'भारत' के साथ 'महाभारत' का नाम निर्दिष्ट है। अतः यह रूप भी दो हजार वर्ष से पुराना ही प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ के दो प्रधान पाठ-सम्प्रदाय हैं; एक उत्तर भारत का दूसरा दक्षिण भारत का। दोनों की श्लोक संख्या, अध्यायों के क्रम, आख्यानों

---

१ नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्॥
महाभारत—मंगल-श्लोक।

२ 'जय' नामेतिहासोऽयम्।

३ चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्।
उपाख्यानैर्विना तावत् भारतं प्रोच्यते बुधैः॥
महाभारत।

का सन्निवेश—आदि विषयों में महान् अन्तर है। मूल महाभारत की खोज बहुत दिनों से हो रही है। आजकल भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना से एक संस्करण निकल रहा है जिसमें इस ग्रन्थ के विशुद्ध रूप को निश्चित करने का उद्योग है।

इस महाभारत की रचना कब हुई? इस प्रश्न का उत्तर विद्वानों की राय में भिन्न-भिन्न है। निम्नलिखित प्रमाणों से इस ग्रन्थ का समय निरूपण किया जा सकता है:—

रचना-काल

(क) ४४५ ई० (५०२ वि०) के एक शिलालेख में महाभारत का निर्देश इस प्रकार है—'शतसाहस्र्यां संहितायां वेदव्यासेनोक्तम्'। इससे प्रतीत होता है कि इससे कम से कम २०० वर्ष पहले इसका अस्तित्व अवश्य होगा।

(ख) कनिष्क के सभापण्डित अश्वघोष ने 'वज्रसूची' उपनिषद् में हरिवंश के श्लोक तथा स्वयं महाभारत के भी कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं[1]। अश्वघोष का समय ई० सन् की प्रथम शताब्दी है। अतः उस समय यह ग्रन्थ हरिवंश के साथ लक्षश्लोकात्मक था, इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता।

(ग) आश्वलायन गृह्यसूत्र (३।४।४) में 'भारत' तथा 'महाभारत' का पृथक् पृथक् उल्लेख किया गया है[2]।

(घ) बौधायन के गृह्यसूत्र में 'विष्णु सहस्रनाम' का स्पष्ट उल्लेख है तथा भगवद्गीता का एक श्लोक प्रमाण रूप से उद्धृत किया गया

---

१ सप्त व्याधा दशार्णेषु मृगाः कालञ्जरे गिरौ।

२ सुमन्तुजैमिनिवैशम्पायनपैल सूत्रभाष्यभारतमहाभारतधर्माचार्याः—आश्वलायन गृह्य०, अध्याय ३ खण्ड ४।

है[1]। इन दोनों ग्रन्थकारों की स्थिति ईस्वी के लगभग चार सौ वर्ष पहले मानी जाती है। ये दोनों ग्रन्थकार महाभारत के विस्तृत रूप से परिचित हैं। गीता को भगवान् के वचन रूप से जानते हैं। ययाति के उपाख्यान का निर्देश करते हैं। अतः स्पष्ट है कि मूल महाभारत की रचना इससे (४०० ई० पू०) कम से कम दो सौ वर्ष पूर्व अवश्य हुई होगी। महाभारत युद्ध के पहले की रचना है; परन्तु वर्तमान रूप उसे बुद्ध के पीछे प्राप्त हुआ, यही मानना न्याय-संगत है।

महाभारत के खण्डों को पर्व कहते हैं। ये संख्या में अठारह हैं (१) आदि (२) सभा (३) वन (४) विराट् (५) उद्योग (६) भीष्म (७) द्रोण (८) कर्ण (९) शल्य (१०) सौप्तिक (११) स्त्री (१२) शान्ति (१३) अनुशासन (१४) अश्वमेध (१५) आश्रमवासी (१६) मौसल (१७) महाप्रस्थानिक (१८) स्वर्गारोहण।

विषय

आदि पर्व में चन्द्रवंश का विस्तृत इतिहास तथा कौरव पाण्डवों की उत्पत्ति का वर्णन है। सभा पर्व में है द्यूतक्रीड़ा, वन पर्व में पाण्डवों का वनवास, विराट् पर्व में पाण्डवों का अज्ञातवास, उद्योग पर्व में श्रीकृष्ण का दूत बन कर कौरवों की सभा में जाना तथा शान्ति का उद्योग करना, भीष्म पर्व में अर्जुन को गीता का उपदेश, युद्ध का आरम्भ, भीष्म का युद्ध और शरशय्या पर पड़ना; द्रोण पर्व में अभिमन्यु-वध, द्रोणाचार्य का युद्ध और वध; कर्ण पर्व में कर्ण का युद्ध और वध, शल्य पर्व में शल्य की अध्यक्षता में लड़ाई और अन्त में वध, सौप्तिक पर्व में वन में पाण्डवों के सोये हुए पुत्रों का

---

१ देशाभावे द्रव्याभावे साधारणे कुर्यात् मनसा वार्चयेत् इति तदाह भगवान्—

> पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
> तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
>
> (गीता ९।२६)

रात में अश्वत्थामा द्वारा वध, स्त्री पर्व में स्त्रियों का विलाप; शान्ति पर्व में भीष्मपितामह का युधिष्ठिर को मोक्ष धर्म का उपदेश, अनुशासन पर्व में धर्म तथा नीति की कथाएँ, अश्वमेध में युधिष्ठिर का अश्वमेध यज्ञ करना, आश्रमवासी पर्व में धृतराष्ट्र गान्धारी आदि का वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना, मौसल पर्व में यादवों का मूसल के द्वारा नाश, महाप्रस्थानिक पर्व में पाण्डवों की हिमालय-यात्रा तथा स्वर्गारोहण पर्व में पाण्डवों का स्वर्ग में जाना वर्णित है।

इनके अतिरिक्त महाभारत में अनेक रोचक तथा शिक्षाप्रद उपाख्यान भी हैं जिनमें निम्नलिखित आख्यान विशेष प्रसिद्ध हैं—

उपाख्यान

(१) शकुन्तलोपाख्यान—यह उपाख्यान महाभारत के आदि पर्व में है जिसमें दुष्यन्त और शकुन्तला की मनोहर कथा है। महाकवि कालिदास के 'शाकुन्तल' नाटक का आधार यही आख्यान है।

(२) मत्स्योपाख्यान—यह वन पर्व में है। इसमें मत्स्यावतार की कथा है जिसमें प्रलय उपस्थित होने पर मत्स्य के द्वारा मनु के बचाये जाने का विवरण है। यह कथा 'शतपथ' ब्राह्मण में भी उपलब्ध होती है, तथा भारत से भिन्न देशों के इतिहास में भी इसका उल्लेख मिलता है।

(३) रामोपाख्यान—यह भी कथा वनपर्व में है। वाल्मीकीय रामायण की कथा का यह संक्षेपमात्र है। वाल्मीकि ने बालकाण्ड में गङ्गावतरण की जो कथा लिखी है, वह भी यहाँ उपलब्ध होती है। इससे स्पष्ट है कि वाल्मीकीय रामायण महाभारत से पहले लिखा गया है।

(४) शिवि उपाख्यान—यह सुप्रसिद्ध कथानक वनपर्व में ही है

जिसमें उशीनर के राजा शिवि ने अपना प्राण देकर शरण में आये हुए कपोत की रक्षा बाज से की थी। यह कथा जातकों में भी आती है।

(५) सावित्री उपाख्यान—भारतीय ललनाओं के लिए आदर्श रूप सावित्री की कथा वनपर्व में मिलती है। महाराज द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान् तथा सावित्री का उपाख्यान पातिव्रत धर्म की पराकाष्ठा है। ऐसी सुन्दर कथा शायद ही किसी अन्य साहित्य में प्राप्त हो।

(६) नलोपाख्यान—राजा नल और दमयन्ती की कमनीय कथा इसी पर्व में मिलती है। श्रीहर्ष के 'नैषधचरित' महाकाव्य का यही आधार भूत है।

हरिवंश महाभारत का ही अंश समझा जाता है। इसमें सोलह हजार श्लोक हैं जिनमें यादवों की कथा बड़े विस्तार के साथ दी गई है। इसमें तीन पर्व हैं—(१) हरिवंशपर्व—जिसमें श्रीकृष्ण के पूर्वजों का वर्णन है (२) विष्णुपर्व—जिसमें श्रीकृष्ण की लीला का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया गया है (३) भविष्यपर्व—जिसमें कलियुग के प्रभाव का कथन है।

संस्कृत साहित्य में आदिकवि वाल्मीकि के अनन्तर महर्षि व्यास ही सर्वश्रेष्ठ कवि हुए। इनके लिखित काव्य 'आर्ष काव्य' के नाम से प्रसिद्ध हैं। पिछली शताब्दियों में संस्कृत साहित्य की जो उन्नति हुई, जिन काव्य-नाटकों की रचना की गई उसमें इन दो ग्रन्थों का प्रभाव मुख्य है। महाकवि कालिदास ने रघुवंश, में इन कवियों की ओर बड़े आदर के शब्दों में सङ्केत किया है।

विवेचन

व्यास की प्रतिभा की परिचायक यही घटना है कि युद्धों के वर्णन में कहीं भी पुनरुक्ति नहीं दीख पड़ती। व्यास जी का अभिप्राय महाभारत लिखकर केवल युद्धों का वर्णन नहीं है, अपितु इस भौतिक जीवन की निःसारता दिखला कर प्राणियों को मोक्ष के लिये उत्सुक बनाना है।

इसी लिये महाभारत का मुख्य रस शान्त है[1]। वीर तो अङ्गी भूत है। इसमें प्राकृतिक वर्णन नितान्त अनूठे तथा नवीनता-पूर्ण हैं। व्यास जी की यह कृति महाकाव्य न होकर इतिहास कही जाती है क्योंकि वह हमारे आदरणीय वीरों की पुण्यमयी गाथा है। यह वह धार्मिक ग्रन्थ है जिससे प्रत्येक श्रेणी का मनुष्य अपने जीवन के सुधार की सामग्री प्राप्त कर सकता है। राजनीति का तो यह सर्वस्व ही है। राजा और प्रजा के पृथक् पृथक् कर्तव्यों तथा अधिकारों का समुचित वर्णन इसकी महती विशेषता है। वाल्मीकि के साथ-साथ व्यास से भी हमारे कवियों को काव्यसृष्टि के लिये प्रेरणा तथा स्फूर्ति मिलती आई है और आगे भी मिलेगी। भगवद्-गीता की महत्ता का प्रदर्शन करना आवश्यक है। कर्म, ज्ञान और भक्ति का जैसा मञ्जुल समन्वय गीता में किया गया है वैसा अन्यत्र अप्राप्य है। व्यास जी का कथन है कि इस आख्यान को बिना जाने हुए जो पुरुष अङ्ग तथा उपनिषदों को भले जाने, वह कभी विचक्षण नहीं कहा जा सकता[2], क्योंकि यह महाभारत एक साथ ही अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा कामशास्त्र है[3]। जिसने इस आख्यान का रसमय श्रवण किया है उसे अन्य कथानकों में किसी प्रकार का रस नहीं मिलता, ठीक उसी प्रकार, जैसे कोकिल की

---

१ महाभारतेऽपि शास्त्रकाव्यरूपच्छायान्वयिनि वृष्णिपाण्डवविरसावसान—वैमनस्यदायिनीं समाप्तिमुपनिबध्नता महामुनिना वैराग्य-जननं तात्पर्यं प्राधान्येन प्रबन्धस्य दर्शयता मोक्ष-लक्षणः पुरुषार्थः शान्तो रसश्च मुख्यतया सूचितः। ध्वन्यालोक ४ उद्योत।

२ यो विद्याच्चतुरो वेदान्साङ्गोपनिषदो द्विजः।
चाख्यानमिदं विद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः॥ ८२॥

३ अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्।
कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना॥ ८३॥
महा० आदि० अ० २

मधुर कूक के आगे कौए की बोली नितान्त रूखी प्रतीत होती है[1]। महाभारत की प्रशंसा में व्यास ने स्वयं इसे समस्त कविजनों के लिए उपजीव्य बतलाया है। इस ग्रन्थ के अभ्यास से कवियों की बुद्धि में स्फूर्ति उत्पन्न होती है। व्यास जी का यह कथन अक्षरशः सत्य है। बाद के कवि-जनों ने सचमुच महाभारत से बहुत कुछ लिया है :—

इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कवि-बुद्धयः।
पञ्चभ्य इव भूतेभ्यो लोकसंविधयस्त्रयः॥

× × ×

इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते।
उदयेप्रप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः॥

महाभारत का प्रधान उद्देश्य संसार की अनित्यता दिखलाकर मोक्ष का प्रतिपादन करना है। महाभारत के पात्रों में एक विचित्र सजीवता भरी हुई है। सब अपने अपने ढंग से निराले पात्र हैं। परन्तु धर्मराज में जो धार्मिकता दिखाई पड़ती है वह एक अद्भुत वस्तु है। महाभारत सदा से धर्मशास्त्र के रूप में ही गृहीत होता आया है और वस्तुतः वह है भी धर्म का ही प्रतिपादक ग्रन्थ। व्यास ने अपना सन्देश मनुष्यों के लिए इस सुन्दर श्लोक में निबद्ध कर दिया है[2]। यदि मनुष्य सच्चा सुख का अभिलाषी है तो उसका परम कर्तव्य धर्म का सेवन है। इसी धर्म

---

१ श्रुत्वा त्विदमुपाख्यानं श्राव्यमन्यन्न रोचते।
पुंस्कोकिलगिरं श्रुत्वा रूक्षा ध्वाङ्क्षस्य वागिव॥ ८४॥
महाभारत आदिपर्व, अध्याय २

२ ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष, न च कश्चित् शृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च; स किमर्थं न सेव्यते॥
महाभारत।

से अर्थ और काम दोनों सिद्ध हो जाते हैं। महाभारत का वास्तविक संदेश यही है।

(५) तुलना

रामायण और महाभारत की तुलना करने से अनेक आवश्यक तथ्यों का पता चलता है। मुख्य तुलना दो विषयों में की जा सकती है। प्रथम तो उनके वर्णनीय विषय को लेकर और दूसरा उनके रचना काल को लेकर

स्वरूपतः तुलना

I रामायण आदिकाव्य माना जाता है, और महाभारत इतिहास गिना जाता है। इस साम्प्रदायिक भेद का यह अभिप्राय है कि रामायण में काव्यगत चमत्कार महत्त्व की वस्तु है। महाभारत में प्राचीनकाल के अनेक प्रसिद्ध राजाओं के इतिवृत्ति का वर्णन करना ही ग्रंथकार का उद्देश्य है। इसीलिए रामायण में राम रावण युद्ध की घटना ही सर्वतोभावेन मुख्य है। अन्य छोटे मोटे कथानक भी हैं, परन्तु वे प्रधान वृत्त को पुष्ट करने के लिए ही रचित हैं। उधर महाभारत में प्रधान घटना कौरवों तथा पाण्डवों का युद्ध है, पर इसके साथ साथ प्राचीन काल की अनेक कथायें अवान्तर रूप से दी हुई हैं जो मुख्य घटना से कम महत्त्व नहीं रखतीं।

II दोनों का भौगोलिक विस्तार भिन्न भिन्न है। रामायण में जिस भारतवर्ष की चर्चा है उसकी दक्षिणी सीमा विन्ध्य और दण्डक है, पूर्वी सीमा विदेह है तथा पश्चिमी सीमा सुराष्ट्र है। परन्तु महाभारत के समय आर्य्यावर्त का विशेष विस्तार दीख पड़ता है। पूर्वी सीमा गङ्गा-सागर का सङ्गम है, दक्षिण में चोल तथा मालावार प्रान्तों की सत्ता है। इतना ही नहीं, लङ्का के भी अधिपति उपहार लेकर युधिष्ठिर के राजसूय में उपस्थित होते हैं।

दोनों के स्वरूप में भी, पर्याप्त अन्तर है। रामायण में एक ही कवि की कोमल लेखनी ने अपना चमत्कार दिखलाया है। कविता में सरसता

२४ हजार

है, शब्द और अर्थ का मञ्जुल सामञ्जस्य है जिससे यह स्पष्ट है कि इसके रचना का श्रेय किसी एक ही व्यक्ति को है। परन्तु महाभारत के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह तो अनेक शताब्दियों के साहित्यिक प्रयासों का फल है। धीरे-धीरे अपने अल्पकलेवर से बढ़ता हुआ वह लक्षश्लोक विशालकाय ग्रन्थ के रूप में आ गया है। रामायण के लेखक की चर्चा कहीं नहीं है, प्रत्युत लव तथा कुश के उसके गाये जाने की बात से हम परिचित हैं[1]। परन्तु महाभारत लिपिबद्ध किया गया ग्रन्थरत्न है, जिसके प्रथम लिपिबद्ध करने का श्रेय स्वयं गणेशजी को प्राप्त है। व्यासजी बोलते जाते थे और गणेशजी उसे लिखते जाते थे।

रामायण और महाभारत में किसकी रचना पहले हुई? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। गत शताब्दी के प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डाक्टर वेबर ने पहले पहल यह कहना प्रारम्भ किया था कि रामायण की अपेक्षा महाभारत की रचना पहले हुई थी। रामायण में सुन्दर पद-विन्यास तथा सुबोध रचना को वे अर्वाचीनता का परिचायक मानते थे। भारत के भी कतिपय विद्वानों ने भी इसी मत की घोषणा की, परन्तु भारतीय की परम्परा उक्त मत के अत्यन्त विरुद्ध है। वाल्मीकि आदि कवि हैं और महाभारत के रचयिता व्यास उनके पश्चाद्वर्ती द्वितीय कवि हैं। युग के हिसाब से भी अन्तर पड़ता है। वाल्मीकि त्रेता युग में होने वाले रामचन्द्र के समकालिक हैं और व्यास द्वापर युग में उत्पन्न होने वाले पाण्डवों के समसामयिक हैं। इतना ही नहीं, दोनों ग्रन्थों के अनुशीलन से स्पष्ट पता चलता है कि कालक्रम में वाल्मीकि-रामायण महाभारत से पहले की रचना है। इसके

रचना-काल की तुलना

---

१ ऋषीणां च द्विजातीनां साधूनां च समागमे।
यथोपदेशं तत्त्वज्ञौ जगतुस्तौ समाहितौ ॥१३॥
—बालकाण्ड, ४ सर्ग

पोषक प्रमाण मुख्यः नीचे दिये जाते हैं—

(१) महाभारत के पात्रों के चरित्र में तथा घटनाओं में व्यावहारिकता का पुट है। जुआ खेलना, खेल में हार जाना, राज्य का न मिलना और उसके लिये युद्ध करना आदि घटनाएँ व्यवहार तथा विश्वास के क्षेत्र से बाहर नहीं हैं। पर रामायण में ऐसी घटनाएँ हैं जिन पर साधारण मनुष्य अपना विश्वास नहीं जमाता। सन्तान के लिये पुत्रेष्टि याग करना, रीछ और वानरों की सहायता से लड़ना, समुद्र के ऊपर पत्थर का विराट पुल बाँधना, रावण का दस सिर होना आदि घटनाएँ मानव संस्कृति की उस प्राथमिक दशा की ओर संकेत करती हैं जब आश्चर्यजनक घटनाओं में विश्वास करना कोई अस्वाभाविक बात न थी।

(२) रामायण में आर्य सभ्यता अपने विशुद्धरूप में चित्रित की गई है। उसमें म्लेच्छों का, जो सम्भवतः भिन्न धर्म तथा संस्कृति के अनुयायी थे, तनिक भी सम्पर्क नहीं दीख पड़ता। परन्तु महाभारत में म्लेच्छों का सम्पर्क पर्याप्त रूप से विद्यमान है। दुर्योधन की आज्ञा से जिस पुरोचन नामक मन्त्री ने लाख (लाक्षा) का घर बनाया था वह म्लेच्छ था। महाभारत के युद्ध में दोनों ओर से लड़ने वाले अनेक म्लेच्छ राजाओं के भी नाम मिलते हैं। इतना ही नहीं, विद्वान् लोग म्लेच्छों की भाषा से भी परिचित थे। विदुर ने इसी म्लेच्छ भाषा में युधिष्ठिर को लाख के घर की घटना की सूचना पहले ही सभा में दे रखी थी। उक्त भाषा का प्रयोग इसीलिये किया गया कि अन्य सभासद इस को समझ न सकें।[1]

---

१ इस भाषा का उल्लेख निम्नलिखित श्लोक में किया गया है—जिसके अर्थ को समझने के लिये नीलकण्ठ की टीका देखनी आवश्यक है:—

प्राज्ञः प्राज्ञप्रलापज्ञः प्रलापज्ञमिदं वचः।
प्राज्ञं प्राज्ञः प्रलापज्ञः प्रलापज्ञं वचोऽब्रवीत् ॥१४५॥

आदिपर्व, अ० २०

(३) भौगोलिक दृष्टि से विचार करने पर भी महाभारत पीछे लिखा गया मालूम होता है। रामायण की रचना के समय में दक्षिण भारत में अनार्य जंगली जातियों का ही निवास था। आर्यों की सभ्यता विन्ध्य पर्वत तक ही समित थी। परन्तु महाभारत के समय में दक्षिण भारत राजनीतिक दृष्टि से व्यवस्थित, सुशासित तथा सभ्य दीख पड़ता है। भीष्मपर्व में दक्षिण भारत के राजाओं के प्रतिनिधि राजसूय यज्ञ में उपहार लेकर उपस्थित होते हैं। दक्षिण भारत का यह राजनीतिक परिवर्तन सूचित करता है महाभारत की रचना पीछे हुई।

(४) महाभारत युद्ध में युद्धकला की विशेष उन्नति दिखाई पड़ती है। द्रौपदी के स्वयम्वर में सीता-स्वयम्वर के समान केवल एक धनुष को तोड़ देना ही वीरत्व का मानदण्ड नहीं है, प्रत्युत एक विशिष्ट प्रकार से लक्ष्य-भेद करना वीरता की कसौटी है। लंकायुद्ध में योद्धागण परस्पर केवल पत्थरों और वृक्षों से प्रहार करते हैं, परंतु महाभारत युद्ध में सैनिक लोग विशिष्ट सेनापति की देख रेख में लड़ते हैं। व्यूह की रचना इस युद्ध की महती विशेषता है जिसमें अल्पसंख्यक सैनिक बहुसंख्यक सेना के आक्रमण को रोकने में असमर्थ होते हैं। युद्धकला का यह महाभारत-कालीन विकास इस बात को प्रमाणित कर रहा है कि महाभारत बाद की रचना है।

(५) दोनों की सामाजिक दशा में विशेष अंतर है। रामायण का समाज आदर्शवाद पर प्रतिष्ठित है। पिता कुटुम्ब का नेता तथा पोषक है। राम आदर्श पुत्र हैं, भरत भ्रातृत्व के गुणों के आगार हैं, सुग्रीव मित्रता की कसौटी हैं। उधर महाभारत की सामाजिक दशा में आदर्शवाद के लिए स्थान नहीं है। भरत के समान भीम पितृतुल्य अपने जेठे भाई के आदेश का पालन करना अपना कर्तव्य नहीं मानते। यदि धर्मराज संधि करने के इच्छुक हैं, तो वे उनका घोर विरोध करने पर तुले हैं। विजय की सिद्धि के लिए चोरी करना या असत्य भाषण किसी प्रकार का पाप नहीं माना जाता था।'

(६) रामायण में नैतिक भावना अपने ऊँचे आदर्श पर प्रतिष्ठित है, परंतु महाभारत में यह भावना ह्रास को पाकर नीचे खिसकने लगी है। मैथिली तथा द्रौपदी के चरित्र की तुलना इसे स्पष्ट करती है। सुंदरकाण्ड में हनुमान् सीता को अपनी पीठ पर बैठाकर राम के पास ले चलने का प्रस्ताव करते हैं, परन्तु सीता परपुरुष के शरीर का स्पर्श नहीं कर सकती है। अतः वह इसे तिरस्कार कर देती है। रावण वध के अनन्तर सीता कठिन अग्निपरीक्षा में तप्त होकर अपने पावन चरित्र को सिद्ध करती हैं। महाभारत की द्रौपदी काम्यक वन में जयद्रथ के द्वारा हरण की जाती है परन्तु उसका पुनर्ग्रहण बिना किसी रोक टोक के धीरे से कर लिया जाता है।

(७) रामायण में महाभारत की घटनाओं तथा पात्रों का उल्लेख तक नहीं है, परन्तु महाभारत रामायण की कथा तथा पात्रों से पूरी तरह परिचित है। वनपर्व के तीर्थ-यात्रा प्रसंग में श्रृङ्गवेरपुर[1] (प्रयाग जिले का सिंगरामऊ) तथा गोप्रतार[2] (फैजाबाद में सरयू का गुप्तार घाट) तीर्थ में गिने गये हैं, क्योंकि पहले स्थान पर राम ने गंगा पार किया और दूसरे पर वे अपनी प्रजाओं के साथ भूलोक से स्वर्ग में चले गये। वनपर्व के १९ अध्यायों में (अ० २७३–९३) रामोपाख्यान पर्व है जिसमें रामचन्द्र की कथा विस्तार से वर्णित है। इस उपाख्यान में वाल्मीकीय रामायण के श्लोक ज्यों के त्यों रखे गये हैं। उपमायें तथा कल्पनायें वाल्मीकि से ली गई हैं।

रामायण के श्लोकों की समता केवल रामोपाख्यान में ही उपलब्ध नहीं होती, प्रत्युत महाभारत के अन्य पर्वों में भी यह समता तथा निर्देश नितान्त सुस्पष्ट है। उदाहरणार्थ मायासीता के मारते समय इन्द्रजीत ने

---

१ वनपर्व ८५।६५

२ म० भा० वनपर्व ८५।७०।

हनुमान्जी से जो वचन कहे थे, वे ही वचन द्रोणपर्व में भी अक्षरशः प्राप्त होते हैं।

न हन्तव्याः स्त्रिय इति यद् ब्रवीषि प्लवंगम।
पीडाकरममित्राणां यच्च कर्तव्यमेव तत्॥ —युद्ध ८१।२८

अति चायं पुरा गीतः श्लोको वाल्मीकिना भुवि।
न हन्तव्याः स्त्रिय इति यद् ब्रवीषि प्लवङ्गम॥
सर्वकालं मनुष्येण व्यवसायवता सदा।
पीडाकरममित्राणां यत् स्यात् कर्तव्यमेव तत्॥ —द्रोणपर्व

इन प्रमाणों के अनुशीलन से किसी भी आलोचकको भारतीय परम्परा की सत्यता का पता चलेगा कि रामायण कालक्रम से महाभारत से पूर्व की रचना है।

तृतीय परिच्छेद

पुराण

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

—महाभारत

भारतीय साहित्य में पुराणों का विशेष महत्त्व है। भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति को साधारण जनता में प्रचारित करने का श्रेय इन्हीं पुराणों को है। आज भी हिन्दूधर्म के मूलाधार ये पुराण ही हैं। परन्तु बड़े दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि आजकल पाश्चात्य शिक्षा में दीक्षित भारतीय विद्वानों की दृष्टि इन पुराणों के प्रति बड़ी उपेक्षापूर्ण है। वे ज्ञान के इन भण्डार पुराणों को गल्प से अधिक महत्त्व नहीं देते। जब भारतीय विद्वानों की यह दशा है, तब पाश्चात्य विद्वानों का क्या पूछना? वे तो पुराणों को नितान्त कपोल-कल्पित ही समझते हैं। पुराणों में जो इतिहास वर्णित है, उसे वे पुरातन कथा (माइथोलाजी) मानते हैं तथा उन पर तनिक भी विश्वास नहीं करते। इन्हीं पश्चिमी विद्वानों के द्वारा फैलायी गई इस भ्रान्त धारणा के अनुसार पुराणों के प्रति लोगों की उपेक्षा की प्रवृत्ति चली आ रही थी। परन्तु हर्ष का विषय है कि अब भारतीय विद्वान् ही नहीं, पाश्चात्य मनीषी भी इसकी महत्ता समझने लगे हैं और भारतीय इतिहास के लिए इनको अमूल्य निधि मानने लगे हैं।

'पुराण' शब्द का अर्थ 'पुराना आख्यान' है—'पुराणमाख्यानम्'। संस्कृत-साहित्य में 'पुराण' शब्द का अर्थ 'पुराना' है। सम्भवतः पुराणों की अत्यन्त प्राचीनता के कारण ही इनको यह नाम प्राप्त हुआ है।

'पुराण शब्द' का अर्थ

पुराणों में प्राचीन आख्यानों की ही विशेषता रही है। भारतीय साहित्य में पुराणों के साथ इतिहास का भी नाम आता है। इतिहास उन्हीं घटनाओं का वर्णन करता है, जो भूतकाल में हो गई हैं; परन्तु पुराण का विषय इतिहास से अधिक व्यापक और विस्तृत है। इसी मौलिक पार्थक्य को लक्ष्य में रख-कर इतिहास और पुराण का नामकरण अलग-अलग किया गया है।

अब हमें इस बात पर विचार करना है कि हमारे शास्त्रों में पुराण की कैसी कल्पना की गई है। मत्स्य, विष्णु तथा ब्रह्माण्ड आदि महा-पुराणों में पुराण का लक्षण बतलाते हुए लिखा है—

पुराण की कल्पना

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

अर्थात (१) सर्ग या सृष्टि, (२) प्रतिसर्ग अर्थात् सृष्टि का विस्तार, लय तथा पुनः सृष्टि, (३) सृष्टि की आदि की वंशावली (४) मन्वन्तर अर्थात् किस-किस मनु का समय कब-कब रहा और उस काल में कौन-सी महत्त्व की घटना हुई तथा (५) वंशानुचरित—सूर्य तथा चन्द्र वंशी राजाओं का वर्णन—यही पुराणों के पाँच विषय हैं। यही लक्षण साधारणतया पुराणों का है। परन्तु ध्यान से देखने पर पता चलता है कि पुराणों में इतनी ही बातों का वर्णन नहीं है, प्रत्युत इनसे भी कहीं अधिक बातें हैं। उदाहरण के लिये अग्निपुराण को ले लीजिये, यदि इसे हम 'भारतीय ज्ञानकोष' कहें तो कुछ अत्युक्ति न होगी। कुछ ऐसे भी पुराण हैं, जिनमें इन पाँचों विषयों का यथावत् वर्णन नहीं मिलता। फिर भी पुराण की सामान्य कल्पना यही समझनी चाहिये। हम लोगों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि हमारे पुराण ही सच्चे

तथा आदर्श इतिहास हैं। किसी मानव-समाज का इतिहास तभी पूर्ण समझा जायगा, जब उसकी कहानी सृष्टि के आरम्भ से लेकर वर्तमान काल तक क्रमबद्ध रूप से दी जाय। जब तक किसी देश की कथा सृष्टि के आरम्भ से न लिखी जाय, तबतक उसे अधूरा ही समझना चाहिये। इतिहास की इस वास्तविक कल्पना को पुराणों में हम पाते हैं। आधुनिक विद्वानों ने इतिहास-लेखन-शैली में इस प्रणाली की चिरकाल से उपेक्षा कर रखी थी; परन्तु हर्ष का विषय है इङ्गलैंड के सुप्रसिद्ध विचारशील विद्वान् एच० जी० वेल्स ने अपने 'इतिहास की रूप-रेखा' (आउटलाइन आफ हिस्ट्री) में इसी पौराणिक प्रणाली का अनुकरण किया है। उन्होंने अपने इस प्रसिद्ध इतिहास में मानव-समाज का इतिहास लिखने के पूर्व सृष्टि के प्रारम्भ से मनुष्य के विकास का इतिहास लिखा है। मनुष्य योनि को प्राप्त करने के पहले मानव को कौन-सा रूप धारण करना पड़ा था तथा उसका क्रमिक विकास कैसे हुआ? इसका बड़ा ही सुन्दर वर्णन उन्होंने किया है। इस प्रकार यदि मनुष्य का इतिहास लिखना हो तो सृष्टि के प्रारम्भ से ही उसके विकास की कथा लिखनी ठीक है। इतिहास लिखने का यही पौराणिक आदर्श प्रकार है।

पुराणों की दूसरी विशेषता उनकी वर्णन शैली है। कुछ लोग पुराणों में लिखी हुई किसी बात को लेकर उसे असम्भव मानकर कपोल-कल्पित कहने का दुःसाहस कर बैठते हैं। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि हमारे शास्त्रों में वस्तु-कथन के तीन प्रकार बतलाये गये हैं— जिन्हें आलङ्कारिक भाषा में स्वभाव-कथन, रूपक-कथन तथा अतिशयोक्ति-कथन कह सकते हैं। जो वस्तु जैसी हो, उसे ठीक वैसा ही कहना तथ्य-कथन है। यह कथन वैज्ञानिक लोगों के लिये उपयुक्त है। जहाँ रूप-कालङ्कार का आश्रय लेकर कुछ कहा जाय, उसे 'रूपक कथन' कहते हैं। यह कथन-प्रणाली वेदों में पायी जाती है, जहाँ सूर्य की किरणों में पाये जानेवाले सात रंगों को रंग न कहकर घोड़ों का रूपक दिया गया है।

पुराणों में वस्तु-वर्णन के लिए अतिशयोक्ति अलङ्कारका आश्रय सदा लिया गया है तथा जो कुछ बात कही गयी है, उसे बड़ा ही विस्तृत रूप दिया गया है; जैसे इन्द्र-वृत्र के युद्ध में वृत्र की राजा के रूप में विस्तृत कल्पना। इस प्रकार पुराणों में जहाँ कहीं कोई बात कही गई है, वहाँ वह बड़े विस्तार से कही गई है। अतः पौराणिक कथाओं के सम्बन्धमें इस कथन प्रणाली पर ध्यान रख कर ही विचार करना चाहिए। यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय तो पुराण शुद्ध तथा आदर्श इतिहास के रूप में ही हम लोगों को दिखाई पड़ेंगे।

१—पुराणों का काल

पुराणों के समय-निर्णय के लिए निम्नलिखित प्रमाणों पर ध्यान देना आवश्यक है—

(१) शङ्कराचार्य तथा कुमारिलभट्ट ने अपने ग्रन्थों में पुराणों से उद्धरण दिये हैं। बाणभट्ट (६२५ ई०) ने हर्षचरित में इस बात का उल्लेख किया है कि उन्होंने अपने जन्मस्थान में वायुपुराण के कथा-पारायण को सुना था। कादम्बरी में भी उन्होंने 'पुराणेषु वायुप्रलपितम्' कह कर वायु-पुराण के अस्तित्व की सूचना दी है।

(२) पुराणों में कलियुग के राजाओं का जो वर्णन किया गया है उसकी परीक्षा भी समय-निरूपण करने में विशेष सहायक है। विष्णु पुराण में मौर्य वंश का प्रामाणिक विवरण दिया गया है। मत्स्य पुराण दक्षिण के आन्ध्र राजाओं (लगभग २२५ ई०) का प्रामाणिक इति-वृत्त प्रस्तुत करता है। वायुपुराण गुप्त राजाओं के प्रारम्भिक साम्राज्य से परिचित है। अतः पुराणों की रचना का काल गुप्तकाल के अनन्तर कथमपि नहीं माना जा सकता।

(३) वर्तमान महाभारत और पुराणों का परस्पर सम्बन्ध एक विवेचनीय वस्तु है। महाभारत के वर्तमान रूप प्राप्त होने से

भी पहले पुराणों का अस्तित्व था। महाभारत कथा के वक्ता उग्रश्रवा सूत लोमहर्षण के पुत्र थे। वे पुराणों में रूप से निष्णात बतलाये गये हैं। शौनक ऋषि ने उग्रश्रवा को महाभारत की कथा कहने के लिये प्रार्थना करते समय कहा—"हे लोमहर्षणि! तुम्हारे पिता ने प्राचीन काल में समस्त पुराणों को पढ़ा है, तुमने इन पुराणों का अध्ययन किया है या नहीं? पुराण में देवताओं की कथाएँ तथा बुद्धिमान् ऋषियों के वंश वर्णित है जिन्हें हम लोगों ने आपके पिता से सुना था[1]।" हरिवंश में वायुपुराण के निर्देश ही नहीं मिलते,प्रत्युत वह वर्तमान वायुपुराण के साथ अनेक अंशों में पर्याप्त साम्य भी रखता है। बहुत से आख्यान तथा उपदेशात्मक श्लोक पुराणों तथा महाभारत में समान रूप में उपलब्ध होते हैं। डाक्टर लूडर्स ने इस बातको प्रमाणतः सिद्ध किया है कि ऋष्यश्रृंग का जो आख्यान पद्मपुराण में मिलता है वह महाभारत में उपलब्ध आख्यान की अपेक्षा प्राचीन है। इस परीक्षा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाभारत के वर्तमान संस्करण होने से बहुत ही पहले पुराण वर्तमान थे। और जो पुराण इस समय उपलब्ध हो रहे हैं उनमें भी बहुत सी सामग्री महाभारत की अपेक्षा कहीं अधिक पुरानी और प्रामाणिक है।

(४) कौटिल्य का अर्थशास्त्र पुराणों से अच्छी तरह परिचित है। कौटिल्य का कथन है कि उन्मार्ग पर चलने वाले राजकुमारों को पुराणों का उपदेश देकर सन्मार्ग पर लाना चाहिए। इतना ही नहीं, कौटिल्य ने

---

१ पुराणमखिलं तात पिता तेऽधीतवान् पुरा।
कच्चित् त्वमपि तत् सर्वमधीषे लोमहर्षणे॥ १॥
पुराणे हि कथा दिव्या आदिवंशाश्च धीमताम्।
कथ्यन्ते ये पुराऽस्माभिः श्रुतपूर्वाः पितुस्तव॥ २॥
म० भा० आदिपर्व ५ अ०

पौराणिक को राजा के अधिकारियों में अन्यतम स्थान दिया है। अतः पुराणों को कौटिल्य से प्राचीन मानना उचित है। परन्तु कौटिल्य के विषय में भी विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। कुछ लोग अर्थशास्त्र को ईसा की तीसरी शताब्दी की रचना मानते हैं; परन्तु अधिकांश विद्वानों की सम्मति है कि अर्थशास्त्र में चन्द्रगुप्त मौर्य की ही शासन-पद्धति का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। अतः अर्थशास्त्र ईस्वी पूर्व तृतीय शतक की रचना है। अतः कहना पड़ेगा कि पुराणों की रचना ईस्वी पूर्व तृतीय से बहुत पहले ही हो चुकी थी।

(५) सूत्र-ग्रन्थों के अवलोकन से पुराणों के अस्तित्व का कुछ परिचय मिलता है। उस समय पुराण ग्रन्थरूप में निबद्ध हो चुके थे और उनका स्वरूप वही था जिस रूप में वे आजकल हमें उपलब्ध हो रहे हैं। गौतम तथा आपस्तम्ब के धर्मसूत्र कालगणना के अनुसार बहुत पुराने माने जाते हैं। इनकी रचना ईस्वी सन् के पूर्व पञ्चम शतक में सर्वसम्मति से मानी जाती है। गौतम धर्मसूत्र (११।१९) में लिखा है कि राजा को अपनी शासन-व्यवस्था के लिए वेद, धर्मशास्त्र, वेदाङ्ग और पुराण को प्रमाण बनाना चाहिए। वेद के समकक्ष रखे जाने के कारण यहाँ पुराण से आख्यान विशेष का अर्थ निकाला जा सकता है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में उपलब्ध निर्देश इससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उसमें दो पद्य पुराण से उद्धृत किये गये हैं और तीसरा उद्धरण भविष्यत् पुराण से है। ये तीनों उद्धरण वर्तमान पुराणों में नहीं मिलते; परन्तु इन्हीं के समानार्थक श्लोक पुराणों में मिलते हैं। बहुत सम्भव है कि उस समय विरचित पुराणों का पुनः संस्करण पीछे किया गया हो। जो कुछ हो, सूत्रकाल में पुराणों की ग्रन्थरूप में सत्ता निःसंदिग्ध सिद्ध है।

(६) उपनिषद् काल में भी पुराणों का उल्लेख हमें मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार और नारद के प्रसंग में तत्कालीन प्रच-

लित अनेक शास्त्रों का निर्देश उपलब्ध होता है। उसमें वेदों के अनन्तर पुराणों का भी उल्लेख किया गया है[1]।

(७) इससे भी महत्त्वपूर्ण उल्लेख स्वयं अथर्व-संहिता का है[2]। अथर्व के एक मन्त्र में 'उच्छिष्ट' नाम से अभिहित परमपुरुष से चारों वेदों के अनन्तर पुराण की उत्पत्ति का निर्देश किया गया है। प्रसङ्ग से प्रतीत होता है कि यहाँ पुराण शब्द से केवल पुराने आख्यान का अर्थ नहीं है प्रत्युत ग्रन्थ विशेष से है। इस प्रसंग में एक बात ध्यान देने की यह है कि 'पुराण' शब्द का प्रयोग प्राचीन ग्रन्थों में दो प्रकार से मिलता है—(१) एक विशिष्ट प्रकार की साहित्यिक रचना (२) पुराने आख्यानों के वर्णन करने वाले ग्रन्थ विशेष। अतः पुराण शब्द के उपलब्ध होते ही उससे वर्तमान पुराणों का अर्थ निकालना न्याय-संगत नहीं होगा।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पुराण का अस्तित्व वैदिक काल में भी था। ईस्वी से छः सौ वर्ष पूर्व भी वर्तमान काल में उपलब्ध होने वाले पुराणों के समान ही पुराण ग्रन्थों का निर्माण हो चुका था। मूल पुराण उपलब्ध नहीं होता। पुराण किसी एक शताब्दी की रचना नहीं है। समय-समय पर उनमें नये-नये अध्याय जोड़े गये थे। इतना तो निश्चित है कि गुप्तकाल तक पुराणों की रचना समाप्त हो गई थी।

पुराणों का महत्त्व अनेक दृष्टियों से विशेष है। धार्मिक दृष्टि से पुराण वेदविहित धर्म का सरल सुबोध भाषा में वर्णन करता है। जब वेदों की भाषा सर्वसाधारण के समझने लायक न रह गई तब उनके

---

१ ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्—छान्दोग्य ७।१।२

२ ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥—अथर्व ११।७।२४

तत्वों को जनता तक पहुँचाने के लिये पुराण बनाये गये। पुराणों का सामाजिक महत्त्व भी कम नहीं है। उस समय के भारतीय समाज का स्वरूप हमें पुराण के पृष्ठों में ही उपलब्ध होता है।

महत्त्व

पुराणों में प्राचीन इतिहास प्रामाणिकरूप से भरा हुआ है, ऐसी धारणा तो अब अंग्रेजी पढ़े-लिखे विद्वानों की भी होने लगी है। पुराण में दिये गये इतिहास की पुष्टि शिलालेखों से, मुद्राओं से और विदेशियों के यात्रा-विवरणों से, पर्याप्त मात्रा में होने लगी है। अतः विद्वान् ऐतिहासिकों का कथन है कि यह पूरी सामग्री प्रामाणिक तथा उपादेय है। प्राचीन राजाओं के समान यदि हमें प्राचीन ऋषियों के जीवन वृत्त का परिचय प्राप्त करना हो तो पुराणों ही की शरण में जाना पड़ेगा। पुराणों का भौगोलिक मूल्य भी कम नहीं है। पुराणों में तीर्थों का बड़ा विस्तृत विवेचन है जिससे हम इन स्थानों के विस्तृत भूगोल का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। उदाहरण के लिये काशीखण्ड को ही लीजिये। यह स्कन्द पुराण का एक खण्ड है। इसमें काशी के स्थानों का और शिवलिंगों का बड़ा विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है जिसकी सहायता से हम प्राचीन काशी के प्रसिद्ध भागों का ज्ञान भलीभाँति प्राप्त कर सकते हैं। पुराणों की रचना-शैली अतिशयोक्तिपूर्ण है। इसी शैली के कारण ही पुराणों में बड़ी लम्बीचौड़ी बातें कहीं-कहीं मिलती हैं। इन्हीं को देखकर सर्वसाधारण में पुराणों के प्रति अनास्था का भाव बना हुआ है। परन्तु पुराणों के तुलनात्मक अध्ययन से उनके सच्चे इतिहास तथा सामाजिक वृत्त का परिचय प्रत्येक विद्वान को लग सकता है।

२—पुराण और वेद

भगवान् के हृदय से आविर्भूत होकर वेद पहिले ऋषि, मुनि, ज्ञानी, कर्मी तथा भक्त लोगों के मानस में विचरण करने लगा। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के अतिरिक्त अन्यान्य साधारण मनुष्यों को उनमें दीक्षित

होकर जीवन की सार्थकता सम्पादन करने का अधिकार नहीं था। वेद की भाषा समझने की तथा वैदिक मन्त्रों के तात्पर्य को हृदयङ्गम करने की योग्यता मानव समाज में थोड़े ही लोगों में थी। दीक्षा तथा उपनयन से विरहित होने के कारण समाज के निम्नस्तर के लोग अपने जीवन को वेद-मय बनाने से वंचित रह गये। इस कमी की पूर्ति के लिए महर्षि वेदव्यास तथा उनके शिष्य और प्रशिष्यों ने वेदरूपिणी सरस्वती को जनता के कल्याण के लिये मानव समाज के उर्ध्वलोक से निम्नस्तर में लाने के लिये अपने को नियुक्त किया। इसी का सुभग परिणाम हुआ पुराणों की रचना। वेद और पुराण वस्तुतः अभिन्न हैं। किन्तु वेद द्विज-समुदाय में प्रतिष्ठित हैं और पुराण सभी श्रेणियों के नर नारियों में विचित्र वेश भूषा और विचित्र गतिभंगी से विचरने वाले हैं। पुराण का उद्देश्य वेद के तत्त्वों को जन साधारण तक पहुँचाना है। इसकी सिद्धि के लिये उसने सरल संस्कृत वाणी को अपना माध्यम बनाया है। केवल भारत के प्रान्तों में ही नहीं, प्रत्युत भारत के बाहर अनेक द्वीप-द्वीपान्तर और देश-देशान्तरों में भी पुराणों ने भारतीय सनातन वैदिक विचारधारा, कर्मधारा और भावधारा को प्रवाहित किया है। पुराणों की कृपा से सनातन वेदों ने सभी श्रेणियों के नर नारियों के जीवन को नियन्त्रित करके परम कल्याण, विमल प्रेम तथा विशुद्ध आनन्द के मार्ग में प्रवृत्त कराने का अधिकार प्राप्त किया है।

पुराणों का प्रधान गौरव यह है कि वेद ने जिस परम तत्त्व को ऋषियों के भी इन्द्रिय, मन और बुद्धि से अप्राप्य देश में रख दिया था, पुराणों ने उसको सर्वसाधारण के इन्द्रिय, मन और बुद्धि के समीप लाकर रख दिया है। वेदों के सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्म ने पुराणों में सौन्दर्यमूर्ति तथा पतित-पावन भगवान् के रूप में अपने को प्रकाशित किया है। वेदों ने घोषणा की है कि ब्रह्म सब प्रकार के नाम, रूप तथा भावों से परे हैं। पुराण कहते हैं कि ब्रह्म सर्वनामी, सर्वरूपी और सर्व

भावमय है। वेद कहते हैं:—एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति। पुराण कहते हैं—एकं सत् प्रेम्णा बहुधा भवति। भगवान् की अनन्त विभूतियों के मधुर रूपों का दर्शन हमें पुराणों में मिलता है। पुराणों ने यह उद्घाटित किया है कि एक ही परम तत्त्व भगवान् विभिन्न रूप और नामों में विचित्र शक्ति सामर्थ्य तथा सौंदर्य को प्रकट कर सम्पूर्ण संसार में लीला-विलास कर रहे हैं। तथा प्रत्येक उपासक सम्प्रदाय किसी न किसी रूप में उसी भगवान् की ही उपासना करके कृतार्थता प्राप्त करता है। इसी कारण भारत के समग्र धार्मिक-सम्प्रदाय एकत्व के सूत्र में बँधे हुये हैं। इस प्रकार पुराणों ने सर्वातीत ब्रह्म को सबके बीच में लाकर, मनुष्य के भीतर देवत्व के बोध को तथा भगवत्ता की अनुभूति को जागृत कर दिया है। पुराणों में मानव जाति का इतिहास और विशेषतः भारत के प्राचीन इतिहास का वर्णन है, पर साथ ही साथ पुराणों का प्रधान लक्ष्य यह दिखलाना है कि यह सब संसार भगवान् की लीला का विलास है। इस प्रकार पुराणों में वैदिक तत्वों को रोचक रूप से जन साधारण के सामने रखने का श्लाघनीय प्रयत्न किया गया है। वैदिक धर्म को लोकप्रिय बनाने का श्रेय इन्हीं पुराणों को प्राप्त है।

वेद और पुराण की इस मौलिक एकता से अपरिचित होने वाले विद्वान् ही वैदिक और पौराणिक इन दो विभिन्न धर्मों की चर्चा करते हैं। जो व्यक्ति वेद में श्रद्धा रखते हुए पुराणों में आस्था नहीं रखता वह हिन्दू धर्म के मौलिक सिद्धान्तों से नितान्त अनभिज्ञ है। वेद और पुराण एक ही अभिन्न सनातन धर्म के भिन्नकाल में आविर्भूत होने वाले विशिष्ट ग्रन्थ हैं। वैदिक संहिताओं में कर्मकाण्ड का विशेष प्राबल्य हमें मिलता है। परन्तु उन्हें ज्ञान तथा भक्ति से शून्य बतलाना भी नितान्त उपहास्यास्पद है। तथ्य बात यह है कि संहिताओं में बीज रूप से निहित सिद्धान्तों का ही पल्लवीकरण हमें पिछले साहित्य में उपलब्ध होता है। भक्ति की चर्चा केवल पुराणों ही में है, उपनिषदों में नहीं,

यह कथन दुःसाहसपूर्ण है। कठोपनिषद् का स्पष्ट कथन है कि बिना ईश्वर की कृपा के ईश्वर को प्राप्त नहीं किया जा सकता। विद्या और बुद्धि उसकी प्राप्ति में नितान्त व्यर्थ है। भगवत्कृपा का यह तत्त्व कितने सुन्दर रूप में अभिव्यक्त किया गया है।:—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥
(कठ० उप० १।२।२३)

केनोपनिषद् में कहा है कि ईश्वर भजनीय हैं, इस दृष्टि से उनकी उपासना करनी चाहिए।:—

तद्वनमिति उपासितव्यम् (केन. उप.)

वरुण सूक्तों में भक्तों की भावना जिस मधुर रूप में व्यक्त की गई है वह विद्वानों से अपरिचित नहीं है। इन प्रमाणों के रहते हुए भक्ति को पुराण काल की नई उपज मानना भ्रान्ति की चरम सीमा नहीं तो क्या है?

पुराण में भगवान् के नाना अवतार की कथाएं विस्तार के साथ वर्णित हैं। इन कथाओं को पुराणों में वर्णित होने के कारण बहुत से लोग कपोल कल्पित मानते हैं। परन्तु क्या यह बात ऐसी ही है? क्या इन अवतार की कथाओं का प्रथम दर्शन हमें पुराणों के पृष्ठों में ही मिलता है? नहीं, बिलकुल नहीं। इन कथाओं का बीज रूप से उल्लेख स्वयं वेदों में उपलब्ध होता है। यह हमारे इस कथन का पुष्ट प्रमाण है कि पुराणों में वेद से किसी प्रकार की विभिन्नता या पृथक्ता नहीं है। कतिपय उदाहरणों से इस कथन को स्पष्ट किया जा सकता है:—

(१) भगवान् के मत्स्य रूप में अवतीर्ण होने की कथा बड़े विस्तार के साथ शतपथ ब्राह्मण में उपलब्ध होती है। मत्स्य के द्वारा महाराज मनु को आगामी जलप्लावन की सूचना किस प्रकार मिली और किस तरह उन्होंने मत्स्य के अनुग्रह से इस सृष्टि के बीजों की रक्षा की

तथा कालान्तर में उन्हें पल्लवित किया इसका सबसे प्राचीन वर्णन हमें यहीं उपलब्ध होता है।

"तस्य (मनोः) अवने निजातस्य मत्स्यः पाणी आपेदे।"

(शत. ब्रा. १।८।१।१-२)

(२) कूर्मावतार की सूचना हमें इसी शतपथ ब्राह्मण से मिलती है।

"स यत्कूर्मो नाम एतद् वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत्।"

(शत० ब्रा० १०।५।१।५)

(३) वाराहावतार का उल्लेख अथर्ववेद में पाया जाता है:—

"वाराहेण पृथिवी संविदाना" (अथर्व० १२।१।४८)

(४) वामनावतार का निर्देश ऋग्वेद के विष्णु सूक्त में स्पष्ट ही है।

"इदं विष्णुर्विचक्रमे, त्रेधा निदधे पदम्।
समूढमस्य पांसुरे।" ऋ० वे० १।२२।१७

३—पुराणों के वक्ता 'सूत'

सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् पार्जिटर का यह मत है (और इस मत के माननेवालों की संख्या पूर्व और पश्चिम में कुछ कम नहीं है) कि प्राचीन भारत में दो प्रकार की ऐतिहासिक परम्परा प्रचलित थी—(१) वेद से सम्बद्ध और (२) पुराणों से सम्बद्ध। पहिली परम्परा के प्रचारक ब्राह्मण थे परन्तु दूसरी परम्परा का प्रचार करने का श्रेय अब्राह्मणों को प्राप्त है। इस कल्पना का मूल आधार यह है कि पुराण के प्रचारक तथा व्याख्याता सूत लोमहर्षण सूत-जाति में उत्पन्न माने जाते हैं। मनुस्मृति (१०।१७) के "क्षत्रियात् सूत एव तु" वाक्य के अनुसार क्षत्रिय से ब्राह्मणी में प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न होने वाला व्यक्ति 'सूत' कहलाता है। यह वस्तुतः निकृष्ट वर्ण संकर जाति थी जिसका काम प्रधानतया रथ चलाना था। इस मत के अनुयायी लोग सूत उपाधिकारी लोमहर्षण को इसी निकृष्ट वर्णसंकर जाति का व्यक्ति मानते हैं। जब वे

ही पुराणों के प्रथम व्याख्याता ठहरे, तो यह मानना ही पड़ेगा कि पुराणों के प्रचार में अब्राह्मणों का हाथ है।

परन्तु इस विषय की पर्याप्त समीक्षा से यह मत नितान्त निराधार तथा निर्मूल ठहरता है। नैमिषारण्य में एकत्रित अठासी हज़ार ऋषियों की जिज्ञासा जिन लोमहर्षण ऋषि ने पुराणों द्वारा पूर्ण की वे 'सूत' अवश्य कहलाते थे। परन्तु वे उच्च कुल के ज्ञानी विद्वान् ब्राह्मण थे। 'सूत' नामकरण का कारण यह था कि वेन के पुत्र महाराज पृथु के यज्ञ में वे अग्निकुण्ड से उत्पन्न हुए थे। अतः अग्निकुण्ड-सूत होने के कारण वे संक्षेप में 'सूत' नाम से अभिहित किये गये थे। वायुपुराण में इस उत्पत्ति का बड़ा प्रामाणिक वर्णन है[1]। सूत लोमहर्षण के पुत्र भी पुराणेतिहास के महान् व्याख्याता थे। उनका नाम था—सौति उग्रश्रवा और इन्होंने ही महाराज जनमेजय को हरिवंश (जो महाभारत का परिशिष्ट है) सुनाया था। 'सौति' शब्द की व्याकरणलभ्य व्युत्पत्ति है—सूतस्यापत्यं सौतिः द्रौणिवत्। जिस प्रकार द्रोण के पुत्र 'द्रौणि' कहलाते हैं, उसी प्रकार सूत के पुत्र हुए सौति। ध्यान देने की बात है कि यह अपत्य प्रत्यय का योग ही सूचित करता है कि 'सूत' किसी व्यक्ति का नाम है, जाति का नहीं[2]। ब्राह्मण जाति में उत्पन्न होनेवाला व्यक्ति 'ब्राह्मण' ही कहलाता है, 'ब्राह्मणि' नहीं।[3]

---

१ वैन्यस्य तु पृथोर्यज्ञे वर्तमाने महात्मनः।
सुत्यायामभवत् सूतः प्रथमं वर्णवैकृतम्॥
ऐन्द्रेण हविषा तत्र हविः पृक्तं बृहस्पतेः।
जुहावेन्द्राय दैवेन ततः सूतो व्यजायत॥
— वायु० १।३३।३४

२ सूतः 'अग्निकुण्डसमुद्भूतः सूतो निर्मलमानस' इति पौराणिक प्रसिद्धेः।

३ अग्निजो लोमहर्षणः। तस्य पुत्रः सौतिः उग्रश्रवाः, न तु 'ब्राह्मण्यां क्षत्रियात् सूतः' इति स्मृत्युक्तः। तद्धितानर्थक्यापत्तेः। हरिवंश १।४ की टीका।

इस विषय में महाभारत तथा भागवत के मान्य टीकाकारों का ऐकमत्य है। कौटिल्य की सम्मति भी इसी पक्ष में है। संकर जातियों के वर्णन के अवसर पर अर्थशास्त्रकार का कथन है—

वैश्यान्मागध वैदेहकौ (क्षत्रियाब्राह्मण्योः) ।
क्षत्रियात् (ब्राह्मण्यां) सूतः ।
पौराणिकस्तु अन्यः सूतो मागधश्च ।
ब्राह्मणात् क्षत्राद् विशेषः । (३।७।२९—३१)

आशय है कि वैश्य से क्षत्रिया में उत्पन्न प्रतिलोमज वर्णसंकर 'मागध' कहलाता है। ब्राह्मणी में उत्पन्न 'वैदेहक' कहलाता है। क्षत्रिय का ब्राह्मणी में उद्भूत प्रतिलोमज 'सूत' कहलाता है। पौराणिक सूत तथा मागध इनसे भिन्न होते हैं। सूत ब्राह्मण से श्रेष्ठ तथा मागध क्षत्रिय से श्रेष्ठ होता है। स्पष्टतः कौटिल्य की सम्मति में सूत ब्राह्मण से श्रेष्ठ है। वह सूत जाति से सम्बन्ध नहीं रखता। यही कारण था कि सूत के मार डालने से बलरामजी को ब्रह्महत्या लगी जिसके निवारण के लिए उन्होंने भारत के समग्र तीर्थों की यात्रा सम्पन्न की थी[1]।

कहीं कहीं सूतजी 'प्रतिलोमज' कहे गये हैं। यथा भागवत १०।७८।२४ पद्य में तथा बृहन्नारद पुराण में सूतजी ने स्वयं अपने विषय में लिखा है—विलोमजोऽपि धन्योऽस्मि यन्मां पृच्छथ सत्तमाः (२.५)। इन वाक्यों का एक रहस्य है। पृथु के यज्ञ में बृहस्पति द्वारा विहित आहुति इन्द्र की आहुति से अभिभूत हो गई थी। तब लोमहर्षण का जन्म हुआ। बृहस्पति यज्ञीय परिभाषा में ब्राह्मण ठहरे तथा इन्द्र क्षत्रिय ठहरे। इसी कारण उन्हें 'प्रतिलोमज' कहा गया है। वे 'योनिज' तो थे ही नहीं, पर उपचार से इस नाम से अभिहित किये गये हैं।

---

१ भागवत (१०।७८।२९—३३)

तथ्य बात यह है कि लोमहर्षण को व्यास जी ने इतिहास पुराण का अध्ययन कराया था और इनके प्रचार का कार्य उन्हीं को सुपुर्द किया था। वे ज्ञानी महाविद्वान् ब्राह्मण थे। पौराणिक ब्राह्मण ही होता है। इस विषय में प्राचीन सिद्धान्त स्पष्ट हैं। अग्निपुराण का कथन है—

पृषादाज्यात् समुत्पन्नः सूतः पौराणिको द्विजः।
वक्ता वेदादिशास्त्राणां त्रिकालानलधर्मवित्॥

जब 'सूत' जी उच्चकोटि के विद्वान् ब्राह्मण ठहरते हैं, तब अब्राह्मणों के द्वारा पुराणों का प्रचार, क्षत्रियपरम्परा की ब्राह्मण परम्परा से भिन्नता, पुराणों का वेद से विरोध—आदि बातें बालू की भीत के समान भूमिसात् हो जाती हैं।

४—पुराणों की संख्या

पुराण १८ हैं यह तो बात प्रसिद्ध ही है। परन्तु ये पुराण अलग अलग स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं हैं। किन्तु एक ही पुराण के १८ प्रकरण हैं। जैसे एक ग्रन्थ में कई अध्याय होते हैं, उसी प्रकार एक ही पुराण के १८ प्रकरण हैं। यही कारण है इनका क्रम नियत है। स्वतन्त्र ग्रन्थों में कोई नियत क्रम नहीं रहता। वक्ता की इच्छा से उनके अध्यायों में उलट फेर किया जा सकता है। किन्तु पुराणों में ऐसा नहीं हो सकता। इनका एक निश्चित क्रम है और उस क्रम का उल्लेख सर्वत्र पुराणों में उपलब्ध होता है। इन पुराणों के नाम श्लोकसंख्या के साथ इस प्रकार हैं—

क्रम संख्या	पुराण नाम	श्लोक संख्या
१	ब्रह्मपुराण	१०,०००
२	पद्म ,,	५५,०००
३	विष्णु ,,	२३,०००
४	शिव ,,	२४,०००

क्रम संख्या	पुराण नाम	श्लोक संख्या
५	श्रीमद्भागवत पुराण	१८,०००
६	नारद ,,	२५,०००
७	मार्कण्डेय ,,	९,०००
८	अग्नि ,,	१०,५००
९	भविष्य ,,	१४,५००
१०	ब्रह्म वैवर्त ,,	१८,०००
११	लिङ्ग ,,	११,०००
१२	वराह ,,	२४,०००
१३	स्कन्द ,,	८१,१००
१४	वामन ,,	१०,०००
१५	कूर्म ,,	१७,०००
१६	मत्स्य ,,	१४,०००
१७	गरुड़ ,,	१९,०००
१८	ब्रह्माण्ड ,,	१२,०००

ऊपर निर्दिष्ट यह क्रम तथा श्लोक संख्या भागवत (१२।१३।४-८ श्लोक), विष्णु पुराण (तृतीय अंश, अ० ६, श्लो०), नारद पुराण (अ० ९२), एवं सूत संहिता (१।७—११ श्लो०) आदि अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। यह ध्यान देने की बात है कि पुराणों का आरम्भ ब्रह्म से और अन्त ब्रह्माण्ड से होता है तथा मध्य में भी ब्रह्मवैवर्त में ब्रह्म की स्मृति करा दी जाती है। इससे स्पष्ट होता है कि पुराण सृष्टिविद्या का प्रतिपादन करता है जो ब्रह्म से आरम्भ कर ब्रह्माण्ड तक हमारे ज्ञान को पहुँचा देती है। वह आदि, मध्य और अन्त में ब्रह्म का कीर्तन करती हुई ब्रह्म पर हमारे ध्यान को विचिलित नहीं होने देती। इसीलिये यह उक्ति प्रसिद्ध है:—

"आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते"

उपपुराण

जिस प्रकार पुराणों की संख्या १८ है उसी प्रकार से उपपुराणों की संख्या २० बीस है। उपपुराणों के नाम, श्लोक संख्या तथा क्रम के विषय में पर्याप्त मतभेद है। अतः यहाँ पर उपपुराणों का नाम तथा क्रम सूतसंहिता (अ० १।१३-१८) के अनुसार दिये जाते हैं:— (१) सनत्कुमार उपपुराण (२) नरसिंह (३) नान्दी (४) शिवधर्म (५) दुर्वासा (६) नारदीय (७) कपिल (८) मानव (९) उपनस् (१०) ब्रह्माण्ड (११) वरुण (१२) कालिका (१३) वसिष्ठ (१४) लिङ्ग (१५) महेश्वर (१६) साम्ब (१७) सौर (१८) पराशर (१९) मारीच (२०) भार्गव।

पौराणिकों में इस विषय को लेकर महान् मतभेद पाया जाता है कि इन पुराणों में कौन पुराण है और कौन उपपुराण ? विशेषकर देवीभागवत और श्रीमद्भागवद् एवं शिव पुराण और वायु पुराण को लेकर विद्वानों में बड़ा झगड़ा है। कोई देवी भागवत को पुराण मानता है, तो कोई श्रीमद्भागवद् को। कोई वायु पुराण को पुराण कोटि में रखता है, तो कोई शिव पुराण को। इस विषय की पर्याप्त आलोचना करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि नारद आदि पुराणों के द्वारा निर्दिष्ट भागवत पुराण श्रीमद्भागवद् ही है। मत्स्य पुराण के अनुसार भागवत पुराण का लक्षण नीचे लिखा है—

"यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः।
वृत्रासुर-वधोपेतं तद् भागवतमुच्यते ॥"

यह लक्षण श्रीमद्भागवत में ही प्रधानतया घटित होता है। नारद पुराण में दी गई भागवत पुराण की जो विषय-सूची है वह श्रीमद्भागवद् पुराण से मिलती जुलती है। पद्म-पुराण में श्रीमद्भागवद् को सब पुराणों में श्रेष्ठ बतलाया गया है:—

पुराणेषु च सर्वेषु श्रीमद्भागवतं परम् ।
यत्र प्रतिपदं कृष्णो गीयते बहुदर्शिभिः ।।

इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि प्राचीन सम्प्रदायों के अनुसार भागवत पुराण के उल्लेख का अभिप्राय श्रीमद्भागवत पुराण से ही है।

शिवपुराण तथा वायुपुराण में भी इसी प्रकार मतभेद है। वायु पुराण का वर्णन हमने पुराणों के अन्तर्गत किया है। शिवपुराण उससे भिन्न ग्रन्थ है। शिव पुराण भी एक नहीं दो हैं। एक लक्ष-श्लोकात्मक है जिसमें १२ संहितायें कही जाती हैं जो ये हैं:—

(१) विद्येश्वर संहिता (२) रौद्र सं० (३) विनायक सं० (४) औम सं० (५) मातृ सं० (६) रुद्रैकादश सं० (७) कैलाश (८) शतरुद्र (९) कोटिरुद्र सं० (१०) सहस्रकोटि रुद्र (११) वायु प्रोक्त सं० और (१२) धर्म संहिता।

इन संहिताओं का उल्लेख शिवपुराणकी वायुसंहिता (अ, १।४१-५२) में किया गया है। परन्तु यह द्वादशसंहितावाला शिवपुराण इस समय उपलब्ध नहीं होता। बम्बई के वेङ्कटेश्वर प्रेस से जो शिवपुराण प्रकाशित हुआ है उसमें केवल ७ संहितायें और २४,००० श्लोक मिलते हैं। इन संहिताओं के नाम ये हैं:—

(१) विद्येश्वर संहिता (२) रुद्र सं० (३) शतरुद्र सं० (४) कोटिरुद्र सं० (५) उमा सं० (६) कैलाश सं० (७) वायवीय संहिता।

पण्डित ज्वाला-प्रसादजी ने अपने "अष्टादशपुराणदर्पण" (पृष्ठ० १२६—१३५ तक) में शिवपुराण की जो सूची दी है वह इससे भिन्न है। ज्वाला प्रसाद की सूची में (१) ज्ञान संहिता (२) सनत्कुमार सं० (३) धर्म सं० नामक तीन संहिताओं का वर्णन अधिक है। यहाँ शिव सम्बन्धी समग्र सिद्धान्तों का वर्णन है जिनमें बहुत से सिद्धान्त शैवतन्त्रों से लिये गये हैं। योग का वर्णन इस पुराण के अन्तर्गत विस्तृत रूप से है। इन्हीं अध्यायों का सारांश अग्नि-पुराण में भी मिलता है। श्लोक-

दोनों जगह एक ही हैं। शिव पुराण का वर्णन क्रमबद्ध तथा व्यवस्थित है। अग्निपुराण का वर्णन उतना सुसंगठित नहीं है। अन्तिम खण्ड के ३९वें अध्याय में 'शैवयोग' नामक एक विशिष्ट अध्याय है जिसमें योग के द्वारा भगवान् शंकर के विशिष्ट ध्यान का वर्णन है। शिव तत्व के जिज्ञासुओं के लिए यह पुराण अमूल्य निधि है। इन समस्त पुराणों[1] की श्लोक संख्या ४ लाख है। पुराणों में उल्लिखित है कि देवलोक में स्थित पुराणों की संख्या शतकोटि (सौ करोड़) थी परन्तु मानवों के अल्पज्ञ तथा अल्पायु होने के कारण व्यासजी ने चार लाख श्लोकों में समस्त पुराणों का संक्षेप में सारांश उपस्थित कर दिया। महाभारत हरिवंश के साथ एक लक्ष श्लोकात्मक है। रामायण में २४००० श्लोक हैं। पुराणों की श्लोक-संख्या महाभारत से चारगुनी है। इतिहास और पुराणों की सम्मिलित श्लोक-संख्या (टोटल) ६$\frac{1}{4}$ लाख है। इसके पश्चात् उपपुराणों की श्लोक-संख्या जोड़ लेने पर यह संख्या एक लाख (७$\frac{1}{4}$ लाख) और आगे बढ़ जाती है। इस प्रकार इतना बड़ा धार्मिक साहित्य संसार की किसी भी भाषा में उपलब्ध नहीं है। धन्य हैं ऋषि लोग जिन्होंने वैदिक धर्म के रहस्यों को, आचार तथा विचारों को, नियम तथा व्यवहारों को जनसाधारण तक पहुँचाने के लिये इतना विराट् साहित्य रचकर हमारा परम कल्याण तथा मंगल सम्पन्न किया है।

पुराणों का परिचय

ब्रह्मपुराण

(१) ब्रह्मपुराण—यह पुराण 'आदि ब्रह्म' के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसके अध्यायों की संख्या २४५ है और श्लोकों की संख्या १४,०००

---

१ इन पुराणों के विस्तृत विवरण के लिये देखिये
पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र—अष्टादश पुराण दर्पण।

के आसपास है। पुराण-सम्मत समस्त विषयों का वर्णन यहाँ उपलब्ध होता है। सृष्टि कथन के अनन्तर सूर्यवंश तथा सोमवंश का अत्यन्त संक्षिप्त विवरण है। पार्वती आख्यान बड़े विस्तार से १० अध्यायों में—(३४ अध्याय से ४० तक)—दिया गया है। मार्कण्डेय के आख्यान (अध्याय ५२) के अनन्तर गौतमी, गंगा, कृत्तिका तीर्थ, चक्रतीर्थ, पुत्रतीर्थ, यम तीर्थ आपस्तम्ब तीर्थ आदि अनेक प्राचीन तीर्थों के माहात्म्य गौतमी माहात्म्य के अन्तर्गत (अ० ७०—१७५) दिये गये है। भगवान् कृष्ण के चरित्र का भी वर्णन ३२ अध्यायों (अध्याय १८० से २१२ तक) में बड़े विस्तार के साथ वर्णित है। कथानक वही है जिसका वर्णन भागवत के दशम स्कन्ध में है। मरण के अनन्तर होनेवाली अवस्था का वर्णन अनेक अध्यायों में किया गया है। इस पुराण में भूगोल का विशेष वर्णन नहीं है। परन्तु उड़ीसा में स्थित कोणादित्य (कोणार्क) नामक तीर्थ तथा तत्संबद्ध सूर्य-पूजा का वर्णन इस पुराण की विशेषता प्रतीत होती है। सूर्य की महिमा तथा उनके व्यापक प्रभुत्व का निर्देश छ अध्यायों में है (अ० २८—३३)।

इस पुराण में सांख्य योग की समीक्षा भी बड़े विस्तार के साथ दस अध्यायों (अ० २३४—४४) में की गई है। कराल जनक के प्रश्न करने पर महर्षि वसिष्ठ ने सांख्य के महनीय सिद्धान्तों का विवेचन किया है। ध्यान देने की बात है कि इन पुराणों में वर्णित सांख्य अनेक महत्त्वपूर्ण बातों में अवान्तर कालीन सांख्य से भेद रखता है। पिछले सांख्य में तत्वों की संख्या केवल २५ ही है। परन्तु यहाँ मूर्धस्थानीय २६वें तत्त्व का भी वर्णन है। पौराणिक सांख्य निरीश्वर नहीं है तथा उसमें ज्ञान के साथ भक्ति का भी विशेष पुट मिला हुआ है। इस ग्रन्थ में एक और भी विशेषता है। इसके कतिपय अध्याय महाभारत के १२वें पर्व (शान्ति पर्व) के कतिपय अध्यायों से अक्षरशः मिलते हैं। धर्म ही

परम पुरुषार्थ है; इस तत्त्व का प्रतिपादन इस पुराण के अन्त में कितनी सुन्दर भाषा में किया गया है:—

धर्मे मतिर्भवतु वः पुरुषोत्तमानां,
स ह्येक एव परलोकगतस्य बन्धुः।
अर्था स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना,
नैव प्रभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम् ॥
(ब्र० पु० २४५।३६)

पद्मपुराण

(२) पद्म पुराण—यह पुराण परिमाण में स्कन्द पुराण को छोड़ कर अद्वितीय है। इसकी श्लोकों की संख्या ५०,००० बतलाई जाती है। इस प्रकार से इसे महाभारत का आधा और भागवत पुराण से तिगुना परिमाण में समझना चाहिये। इसके दो संस्करण उपलब्ध होते हैं (१) बंगाली संस्करण और (२) देवनागरी संस्करण। बंगाली संस्करण तो अभी तक अप्रकाशित हस्तलिखित प्रतियों में पड़ा है। देवनागरी संस्करण आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली में चार भागों में प्रकाशित हुआ है। आनन्दाश्रम संस्करण में छः खण्ड हैं:—(१) आदि (२) भूमि (३) ब्रह्म (४) पाताल (५) सृष्टि और (६) उत्तर खण्ड। परन्तु भूमिखण्ड (अध्याय १२५—४८।४९) से ही पता चलता है कि छः खण्डों की कल्पना पीछे की है। मूल में पाँच ही खण्ड थे जो बंगाली संस्करण में आज भी उपलब्ध होते हैं।

प्रथमं सृष्टिखण्डं हि, भूमिखण्डं द्वितीयकम्
तृतीयं स्वर्गखण्डं च, पातालञ्च चतुर्थकम् ॥
पञ्चमं चोत्तरं खण्डं, सर्वपापप्रणाशनम्।

अब इन्हीं मूलभूत पाँच खण्डों का वर्णन क्रमशः किया जा रहा है।

(१) सृष्टि खण्ड—इसमें ८२ अध्याय हैं। इसके प्रथम अध्याय (श्लोक ५५-६०) से पता चलता है कि इसमें ५५,००० श्लोक थे तथा यह पुराण पाँच पर्वों में विभक्त था—(१) पौष्कर पर्व—जिसमें देवता, मुनि, पितर तथा मनुष्यों की ९ प्रकार की सृष्टि का वर्णन है। (२) तीर्थपर्व—जिसमें पर्वत, द्वीप तथा सप्त सागर का वर्णन है। (३) तृतीय पर्व—जिसमें अधिक दक्षिणा देनेवाले राजाओं का वर्णन है। (४) राजाओं का वंशानुकीर्तन है। (५) मोक्ष पर्व में मोक्ष तथा उसके साधन का वर्णन किया गया है। इस खण्ड में समुद्र मंथन, पृथु की उत्पत्ति पुष्कर तीर्थ के निवासियों का धर्मकथन, वृत्रासुर संग्राम, वामनावतार, मार्कण्डेय की उत्पत्ति, कार्तिकेय की उत्पत्ति, रामचरित, तारकासुरवध आदि कथाएँ विस्तार के साथ दी गई हैं।

(२) भूमिखण्ड—इस खण्ड के आरम्भ में शिवशर्मा नामक ब्राह्मण की पितृभक्ति के द्वारा स्वर्गलोक की प्राप्ति का वर्णन है। राजा पृथु के जन्म और चरित्र का वर्णन है। किसी छद्मवेश धारी पुरुष के द्वारा जैनधर्म का वर्णन सुनकर वेन उन्मार्गगामी बन जाता है। तब सप्तर्षियों के द्वारा उसकी भुजाओं का मन्थन होता है जिससे पृथु की उत्पत्ति होती है। नाना प्रकार के नैमित्तिक तथा आभ्युदयिक दानों के अनन्तर सती सुकला की पातिव्रत सूचक कथा बड़े विस्तार के साथ दी गई है। ययाति और मातलि के अध्यात्म-विषयक सम्वाद में पाप और पुण्य के फलों का वर्णन और विष्णुभक्ति की प्रशंसा की गई है। महर्षि च्यवन की कथा भी बड़े विस्तार के साथ दी गई है। यह पद्मपुराण विष्णु-भक्ति का प्रधान ग्रन्थ है। परन्तु इसमें अन्य देवताओं के प्रति अनुदार भावों का प्रदर्शन कहीं भी नहीं किया गया है। शिव और विष्णु की एकता के प्रतिपादक ये श्लोक कितने महत्त्वपूर्ण हैं:—

> शैवं च वैष्णवं लोकमेकरूपं नरोत्तम।
> द्वयोश्चाप्यन्तरं नास्ति एकरूपं महात्मनोः ॥

शिवाय विष्णुरूपाय विष्णवे शिवरूपिणे ।
शिवस्य हृदये विष्णुः विष्णोश्च हृदये शिवः ॥
एकमूर्तिस्त्रयो देवाः ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
त्रयाणामन्तरं नास्ति, गुणभेदाः प्रकीर्तिताः ॥

(३) स्वर्ग खण्ड—इस खण्ड में देवता, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष आदि के लोकों का विस्तृत वर्णन है। इसी खण्ड में शकुन्तलोपाख्यान है जो महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान से सर्वथा भिन्न है परन्तु कालिदास के 'अभिज्ञान-शकुन्तल' से बिल्कुल मिलता जुलता है। इससे ज्ञात होता है कि कालिदास ने अपने सुप्रसिद्ध नाटक की कथावस्तु महाभारत से न लेकर इसी पुराण से ली है। 'विक्रमोर्वशी' के सम्बन्ध में भी यही बात है।

(४) पाताल खण्ड—इसमें नागलोक का विशेष रूप से वर्णन है। प्रसंगतः रावण के उल्लेख होने से पूरे रामायण की कथा इसमें कही गई है। इसमें विशेष बात यह है कि कालिदास के द्वारा 'रघुवंश' में वर्णित राम की कथा से यह कथा मिलती जुलती है। रावण के वध के अनन्तर सीता-परित्याग तथा रामाश्वमेध की कथा भी इसमें सम्मिलित है। यह कथा भवभूति के 'उत्तर रामचरित' में वर्णित रामचरित से बहुत कुछ मिलती है। इस पुराण में व्यास जी के द्वारा १८ पुराणों के रचे जाने की बात उल्लिखित है जिसमें भागवत पुराण की विशेष रूप से महिमा गाई गई है।

(५) उत्तर खण्ड—इस पाँचवें खण्ड में विविध प्रकार के आख्यानों का संग्रह है। इसमें विष्णुभक्ति की विशेष रूप से प्रशंसा की गई है। 'क्रियायोगसार' नामक इसका एक परिशिष्ट अंश भी है जिसमें यह दिखलाया गया है कि विष्णु भगवान् व्रतों तथा तीर्थों के सेवन से विशेष रूप से प्रसन्न होते हैं।

पद्मपुराण विष्णुभक्ति का प्रतिपादक सबसे बड़ा पुराण है। भगवान् का नामकीर्तन किस प्रकार सुचारु रूप से किया जा सकता है? कितने नामापराध हैं? आदि प्रश्नों का उत्तर इस पुराण में बड़ी प्रामाणिकता से दिया गया है। इसीलिये अवान्तर कालीन वैष्णव सम्प्रदाय के ग्रन्थों ने इसका महत्त्व बहुत अधिक माना है। साहित्यिक दृष्टि से भी यह बहुत सुन्दर है। पुराणों में तो अनुष्टुप् का ही साम्राज्य रहता है परन्तु इस पुराण में अनुष्टुप् के अतिरिक्त अन्य बड़े छन्दों का भी समावेश है। भगवान् की स्तुति के ये दोनों पद्य कितने सुन्दर हैं:—

संसार-सागरमतीव गभीरपारं,
　　दुःखोर्मिभिः विविध-मोहमयैस्तरङ्गैः।
सम्पूर्णमस्ति निजदोषगुणैस्तु प्राप्तं,
　　तस्मात् समुद्धर जनार्दन मां सुदीनम्॥

कर्माम्बुदे महति गर्जति वर्षतीव,
　　विद्युल्लतोल्लसति पातकसंचयैर्मे।
मोहान्धकारपटलैर्मयि नष्टदृष्टेः,
　　दीनस्य तस्य मधुसूदन देहि हस्तम्॥

विष्णुपुराण

(३) विष्णु पुराण—दार्शनिक महत्त्व की दृष्टि से यदि भागवत पुराण पुराणों की श्रेणी में प्रथम स्थान रखता है, तो विष्णुपुराण निश्चय ही द्वितीय स्थान का अधिकारी है। यह वैष्णव दर्शन का मूल आलम्बन है। इसीलिये आचार्य रामानुज ने अपने 'श्रीभाष्य' में इसका प्रमाण तथा उद्धरण बहुलता से दिया है। परिमाण में यह न्यून होते हुए भी महत्त्व में अधिक है। इसके खण्डों को 'अंश' कहते हैं। इसके अंशों की संख्या ६ है तथा अध्यायों की संख्या १२६ है। इस प्रकार परिमाण में यह भागवत पुराण का तृतीयांश-मात्र है। प्रथम अंश में सृष्टि वर्णन के अनन्तर

ध्रुव चरित और प्रह्लाद-चरित का विस्तृत वर्णन है (अ० ११ २०)। द्वितीय अंश (खण्ड) में भूगोल का बड़ा ही साङ्गोपाङ्ग विवेचन है। तृतीय अंश में आश्रम सम्बन्धी कर्तव्यों का विशेष निर्देश है। इसके तीन अध्यायों में (अ० ४–६) वेद की शाखाओं का विशिष्ट वर्णन है जो वेदाभ्यासियों के लिये बड़े काम की वस्तु है। चतुर्थ अंश विशेषतः ऐतिहासिक है जिसमें सोमवंश के अन्तर्गत ययाति का चरित वर्णित है। यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु, पुरु,— इन पाँच प्रसिद्ध क्षत्रिय वंशों का भिन्न-भिन्न अध्यायों में वर्णन मिलता है। पञ्चम अंश के ३८ अध्याय में भगवान् कृष्ण का अलौकिक चरित वैष्णव भक्तों का आलम्बन है। इस खण्ड में दशम स्कन्ध के समान कृष्ण-चरित पूर्णतया वर्णित है परन्तु इसका विस्तार कम है। षष्ठ अंश केवल आठ अध्यायों का है जिसमें प्रलय तथा भक्ति का विशेषरूप से विवेचन किया गया है।

साहित्यिक दृष्टि से यह पुराण बड़ा ही रमणीय, सरस तथा सुन्दर है। इसके चतुर्थ अंश में प्राचीन सुष्ठु गद्य की झलक देखने को मिलती है। ज्ञान के साथ भक्ति का सामञ्जस्य इस पुराण में बड़ी सुन्दरता से दिखलाया गया है। विष्णु की प्रधान रूप से उपासना होने पर भी इस पुराण में साम्प्रदायिक संकीर्णता का लेश भी नहीं है। भगवान् कृष्ण ने स्वयं महादेव (शिव) के साथ अपनी अभिन्नता प्रकट करते हुए अपने श्रीमुख से कहा है:—

> योऽहं स त्वं जगच्चेदं, सदेवासुरमानुषम्।
> मत्तो नान्यदशेषं यत् तत्त्वं ज्ञातुमिहार्हसि॥
> अविद्यामोहितात्मानः पुरुषा भिन्नदर्शिनः।
> वदन्ति भेदं पश्यन्ति, चावयोरन्तरं हर॥ (५।३३।४८–९)

सुन्दर भाषण के लाभ का यह कितना अच्छा वर्णन है:—

> हितं, मितं, प्रियं काले, वश्यात्मा योऽभिभाषते।
> स याति लोकानाह्लादहेतुभूतान् नृपाक्षयान्॥

वायुपुराण

(४) वायुपुराण—इसी पुराण का दूसरा नाम शिवपुराण है। यह पुराण अत्यन्त प्राचीन है। बाणभट्ट ने अपनी कादम्बरी में इसका उल्लेख 'पुराणे वायुप्रलपितम्' लिखकर किया है। अतः इससे जान पड़ता है कि ग्रन्थ की रचना बाणभट्ट से बहुत पहले हो चुकी थी। यह पुराण परिमाण में अन्य पुराणों से अपेक्षाकृत न्यून है। इसके अध्यायों की संख्या केवल ११२ है तथा श्लोकों की ११,००० के लगभग है। इस पुराण में चार खण्ड हैं जो 'पाद' कहलाते हैं—(१) प्रक्रिया पाद (२) अनुषङ्गपाद (३) उपोद्घात पाद (४) उपसंहार पाद। इसके आरम्भ में सृष्टिप्रकरण बड़े विस्तार के साथ कई अध्यायों में दिया गया है। तदन्तर चतुराश्रम विभाग प्रदर्शित किया गया है। यह पुराण भौगोलिक वर्णनों के लिये विशेष रूप से पठनीय है। जम्बू द्वीप का वर्णन विशेषरूप से है ही, परन्तु अन्य द्वीपों का भी वर्णन बड़ी सुन्दरता से यहाँ किया गया है (अ० ३४—३९)। खगोल का वर्णन भी इस ग्रन्थ में विस्तृत रूप में उपलब्ध होता है (अ० ५०–५३)। अनेक अध्यायों में युग, यज्ञ, ऋषि, तीर्थ का वर्णन समुपलब्ध है। अध्याय ६० में चारों वेद की शाखाओं का वर्णन किया गया है जो साहित्यिक दृष्टि से विशेष अनुशीलन करने योग्य है। प्रजापति–वंश वर्णन (अ० ६१—६५) कश्यपीय प्रजासर्ग (अ० ६६-६९) तथा ऋषिवंश (अ० ७०) प्राचीन ब्राह्मण वंशों के इतिहास को जानने के लिये बड़े ही उपयोगी हैं। श्राद्ध का भी वर्णन अनेक अध्यायों में है। अध्याय ८६ और ८७ में संगीत का विशद वर्णन उपलब्ध है। ९९ वाँ अध्याय प्राचीन राजाओं का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करने के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्व रखता है।

इस पुराण की सबसे बड़ी विशेषता शिव के चरित्र का विस्तृत वर्णन है। परन्तु यह साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से दूषित नहीं है। विष्णु का

भी वर्णन इसमें अनेक अध्यायों में मिलता है। विष्णु का महत्त्व तथा उनके अवतारों का वर्णन कई अध्यायों में यहाँ उपलब्ध है। पशुपति की पूजा से संबद्ध 'पाशुपत योग' का निरूपण इस पुराण की महती विशेषता है। पाशुपत योग का वर्णन अन्य पुराणों में नहीं मिलता। परन्तु इस पुराण में उसकी पूरी प्रक्रिया बड़े विस्तार के साथ (अ० ११—१५) दी गई है। यह अंश प्राचीन योग शास्त्र के स्वरूप को जानने के लिये अत्यन्त उपयोगी है। अध्याय २४ में वर्णित 'शार्वस्तव' साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अध्याय ३० में दक्ष प्रजापति ने जो शिव की स्तुति की है वह भी बड़ी सुन्दर है। ये स्तुतियाँ वैदिक 'रुद्राध्याय' के पौराणिक रूप हैं—

नमः पुराण-प्रभवे, युगस्य प्रभवे नमः।
चतुर्विधस्य सर्गस्य, प्रभवेऽनन्त-चक्षुषे॥
विद्यानां प्रभवे चैव, विद्यानां पतये नमः।
नमो व्रतानां पतये, मन्त्राणां पतये नमः॥

श्रीमद्भागवत

(५) श्रीमद्भागवत—संस्कृत साहित्य का एक अनुपम रत्न है। भक्तिशास्त्र का तो वह सर्वस्व है। यह निगम-कल्पतरु का स्वयं गलित अमृतमय फल है। वैष्णव आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी के समान भागवत को भी अपना उपजीव्य माना है। वल्लभाचार्य भागवत को महर्षि व्यासदेव की 'समाधि-भाषा' कहते हैं अर्थात् भागवत के तत्त्वों का वर्णन व्यास ने समाधि-दशा में अनुभूत करके किया था। भागवत का प्रभाव वल्लभसम्प्रदाय और चैतन्यसम्प्रदाय पर बहुत अधिक पड़ा है। इन सम्प्रदायों ने भागवत के आध्यात्मिक तत्त्वों का निरूपण अपनी २ पद्धति से किया है। इन ग्रन्थों में आनन्दतीर्थ कृत 'भागवततात्पर्यनिर्णय' से जीव गोस्वामी का 'षट्सन्दर्भ' व्यापकता तथा विशदता की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। भागवत

के गूढ़ार्थ को व्यक्त करने के लिए प्रत्येक वैष्णवसम्प्रदाय ने इस पर स्वमतानुकूल व्याख्या लिखी है, जिनमें कुछ टीकाओं के नाम यहाँ दिये जाते हैं—रामानुज मत में सुदर्शनसूरि की 'शुकपक्षीय' तथा वीरराघवाचार्य की 'भागवतचन्द्रचन्द्रिका'; माध्वमत में विजयध्वज की 'पदरत्नावली'; निम्बार्कमत में शुकदेवाचार्य का 'सिद्धान्तप्रदीप', वल्लभमत में स्वयं आचार्य वल्लभ की 'सुबोधिनी' तथा गिरिधराचार्य की आध्यात्मिक टीका; चैतन्यमत में श्रीसनातन की 'बृहद्वैष्णवतोषिणी' (दशमस्कन्ध पर), जीवगोस्वामी का 'क्रमसन्दर्भ', विश्वनाथ चक्रवर्ती की 'सारार्थदर्शिनी'। सब से अधिक लोकप्रिय श्रीधरस्वामी की श्रीधरी है। श्री हरि नामक भक्तवर का 'हरिभक्तिरसायन' पूर्वार्ध दशम का श्लोकात्मक व्याख्यान है। इन सम्प्रदायों की मौलिक आध्यात्मिक कल्पनाओं का आधार यही अष्टादश सहस्र-श्लोकात्मक भगवद्विग्रहरूप भागवत है।

श्रीमद्भागवत अद्वैततत्त्व का ही प्रतिपादन स्पष्ट शब्दों में करता है। श्रीभगवान् ने अपने तत्त्व के विषय में ब्रह्मा जी को इस प्रकार उपदेश दिया है:—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत्परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥

भाग० २।९।३२

'सृष्टि के पूर्व मैं ही था—मैं केवल था, कोई क्रिया न थी। उस समय सत् अर्थात् कार्यात्मक स्थूल भाव न था, असत्—कारणात्मक सूक्ष्मभाव न था। यहाँ तक कि इनका कारणभूत प्रधान भी अन्तर्मुख होकर मुझमें लीन था। सृष्टि का यह प्रपञ्च मैं ही हूँ और प्रलय में सब पदार्थों के लीन हो जाने पर मैं ही एकमात्र अवशिष्ट रहूँगा।' इससे स्पष्ट है कि भगवान् निर्गुण, सगुण, जीव तथा जगत सब वही हैं। अद्वयतत्त्व सत्य है। इसी एक, अद्वितीय, परमार्थ को ज्ञानी लोग ब्रह्म, योगीजन

परमात्मा, और भक्तगण भगवान् के नाम से पुकारते हैं[1]। वही जब सत्त्वगुणरूपी उपाधि से अवच्छिन्न न होकर अव्यक्त, निराकाररूप से रहते हैं, तब 'निर्गुण' कहलाते हैं और उपाधि से अवच्छिन्न होने पर 'सगुण' कहलाते हैं। "परमार्थभूत[2] ज्ञान, सत्य, विशुद्ध, एक, बाहर-भीतर-भेदरहित, परिपूर्ण, अन्तर्मुख तथा निर्विकार है—वही भगवान् तथा वासुदेव शब्दों के द्वारा अभिहित होता है। सत्त्वगुण की उपाधि से अवच्छिन्न होने पर वही निर्गुण ब्रह्म प्रधानतया विष्णु रुद्र, ब्रह्मा तथा पुरुष चार प्रकार का सगुणरूप धारण करता है। शुद्धसत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'विष्णु' कहते हैं, रजोमिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'ब्रह्मा' तमोमिश्र सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'रुद्र' और तुल्यबल रज-तम से मिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'पुरुष' कहते हैं। जगत् के स्थिति, सृष्टि तथा संहार व्यापार में विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र निमित्त कारण होते हैं; 'पुरुष' उपादान कारण होता है। ये चारों ब्रह्म के ही सगुणरूप हैं। अतः भागवत के मत में ब्रह्म ही अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है।

पर-ब्रह्म ही जगत् के स्थित्यादि व्यापार के लिए भिन्न भिन्न अवतार धारण करते हैं। आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य (भाग० २।६।४१)। परमेश्वर का जो अंश प्रकृति तथा प्रकृतिजन्य कार्यों का वीक्षण, नियमन, प्रवर्तन आदि करता है, मायासम्बन्ध रहित हुए भी माया से युक्त रहता है, सर्वदा चित्-शक्ति से समन्वित रहता है, उसे 'पुरुष' कहते हैं। इस पुरुष से ही भिन्न-भिन्न अवतारों का उदय होता है:—

---

१ वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥ भाग० १। २। ११

२ ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेकमनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम्।
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं यद् वासुदेवं कवयो वदन्ति॥
—भाग० ५। १२। ११.

भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन् ।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधानमवाप नारायण आदिदेवः ॥
भाग० ११।४।३

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र पर-ब्रह्म के गुणावतार हैं। इसी प्रकार कल्पावतार, युगावतार, मन्वन्तरावतार आदि का वर्णन भागवत में विस्तार के साथ दिया गया है।

भगवान् अरूपी होकर भी रूपवान् है (भाग० ३।२४।३१)। भक्तों की अभिरुचि के अनुसार वे भिन्न भिन्न रूप धारण करते हैं। (भाग० ३।९।११)। भगवान् की शक्ति का नाम 'माया' है जिसका स्वरूप भगवान् ने इस प्रकार बतलाता है—

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि ।
तद् विद्यादात्मनो मायां यथा भासो यथा तमः॥ २।९।३४.

वास्तव वस्तु के बिना भी जिसके द्वारा आत्मा में किसी अनिर्वचनीय वस्तु की प्रतीति होती है (जैसे आकाश में एक चन्द्रमा के रहने पर भी दृष्टिदोष से दो चन्द्रमा दीख पड़ते हैं) और जिसके द्वारा विद्यमान रहने पर भी वस्तु की प्रतीति नहीं होती (जैसे विद्यमान भी राहु नक्षत्रमण्डल में नहीं दीख पड़ता) वही 'माया' है। भगवान् अचिन्त्यशक्तिसमन्वित हैं। वह एक समय में भी एक होकर भी अनेक है। नारदजी ने द्वारिकापुरी में एक समय में ही श्रीकृष्ण को समस्त रानियों के महलों में विद्यमान भिन्न-भिन्न कार्यों में संलग्न देखा था। यह उनकी अचिन्तनीय महिमा का विलास है। जीव और जगत भगवान् के ही रूप हैं।

साधनमार्ग—इस भगवान् की उपलब्धि का सुगम उपाय बतलाना भागवत की विशेषता है। भागवत की रचना का प्रयोजन भी भक्तितत्त्व का निरूपण है। वेदार्थोपबृंहित विपुलकाय महाभारत की रचना करने पर भी अतृप्त होनेवाले वेदव्यास का हृदय भक्तिप्रधान भागवत की रचना

से वितृप्त हुआ। भागवत के श्रवण करने से भक्ति के निष्प्राण ज्ञान-वैराग्य-पुत्रों में प्राण का ही संचार नहीं हुआ, प्रत्युत वे पूर्ण यौवन को प्राप्त हो गये। अतः भगवान् की प्राप्ति का एकमात्र उपाय 'भक्ति' ही है—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपो त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥ ११।१४।२०

परमभक्त प्रह्लादजी ने भक्ति की उपादेयता का वर्णन बड़े सुन्दर शब्दों में किया है कि भगवान् चरित्र, बहुज्ञता, दान,तप आदि से प्रसन्न नहीं होते। वे तो निर्मल भक्ति से प्रसन्न होते हैं। भक्ति के अतिरिक्त अन्य साधन उपहासमात्र हैं—

प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता।
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम् ॥ ७।७।५१, ५२.

भागवत के अनुसार भक्ति ही मुक्तिप्राप्ति में प्रधान साधन है। ज्ञान कर्म भी भक्ति के उदय होने से ही सार्थक होते हैं, अतः परम्परया साधक हैं, साक्षाद्रूपेण नहीं। कर्म का उपयोग वैराग्य उत्पन्न करने में है। जब तक वैराग्य की उत्पत्ति न हो जाय, तब तक वर्णाश्रम विहित आचारों का निष्पादन नितान्त आवश्यक है। (भाग० ११।२०।९)। कर्मफलों को भी भगवान् को समर्पण कर देना ही उनके 'विपदन्त' को तोड़ना है (भाग० १।५।१२)। श्रेय की मूलस्रोतरूपिणी भक्ति को छोड़कर केवल बोध की प्राप्ति के लिए उद्योगशील मानवों का प्रयत्न उसी प्रकार निष्फल तथा क्लेशोत्पादक है जिस प्रकार भूसा कूटने वालों का यत्न। अतः भक्ति की उपादेयता मुक्तिविषय में सर्वश्रेष्ठ है—

श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो, क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते, नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥
भाग० १०।१४।४

भक्ति की ज्ञान से श्रेष्ठता प्रतिपादित करनेवाला यह श्लोक ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्वशाली है, क्योंकि आचार्य शङ्कर के दादा गुरु श्रीगौड़-पादाचार्य ने 'उत्तरगीता' की अपनी टीका में 'तदुक्तं भागवते' कहकर इस श्लोक को उद्धृत किया है। अतः भागवत का समय गौड़पाद (सप्तम शतक) से कहीं अधिक प्राचीन है। त्रयोदशशतक में उत्पन्न बोपदेव को भागवत का कर्ता मानना एक भयङ्कर ऐतिहासिक भूल है।

भक्ति दो प्रकार की मानी जाती है—'साधनारूपा भक्ति' तथा 'साध्यरूपा भक्ति'। साधनभक्ति नौ प्रकार की होती है—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन। भागवत में सत्सङ्गति की महत्ता का वर्णन बड़े सुन्दर शब्दों में किया गया है। साध्यरूपा या फलरूपा भक्ति प्रेममयी होती है जिसके सामने अनन्य भगवत्पदाश्रित भक्त ब्रह्मा के पद, इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद, लोकाधि-पत्य तथा योग की विविध विलक्षण सिद्धियों को कौन कहे, मोक्ष को भी नहीं चाहता। भगवान के साथ नित्य वृन्दावन में ललित विहार की कामना करने वाले भगवच्चरणचञ्चरीक भक्त शुष्क नीरस मुक्ति को प्रयासमात्र मानकर तिरस्कार करते हैं:—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनाऽन्यत्॥

भाग० ११।१०।१४.

भक्त का हृदय भगवान् के दर्शन के लिए उसी प्रकार छटपटाया करता है, जिस प्रकार पक्षियों के पंखरहित बच्चे माता के लिए, भूख से व्याकुल बछड़े दूध के लिए तथा प्रिय के विरह में व्याकुल सुन्दरी अपने प्रियतम के लिए छटपटाती है—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥

भाग० ६।११।२६.

इस प्रेमाभक्ति की प्रतिनिधि व्रज की गोपिकायें थीं जिनके विमल प्रेम का रहस्यमय वर्णन व्यास जी ने रासपञ्चाध्यायी में किया है। इस प्रकार भक्तिशास्त्र के सर्वस्व भागवत से भक्ति का रसमय स्रोत भक्तजनों के हृदय को आप्यायित करता हुआ प्रवाहित हो रहा है। भागवत के श्लोकों में एक विचित्र अलौकिक माधुर्य भरा है। अतः भाव तथा भाषा उभयदृष्टि से श्रीमद्भागवत का स्थान हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य में अनुपम है। 'सर्ववेदान्तसार' भागवत (१२।१३।१८) का कथन यथार्थ है:—

श्रीमद् भागवतं पुराणममलं यद् वैष्णवानां प्रियं,
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते।
तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं,
तच्छृण्वन् विपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः।

नारद पुराण

(६) बृहद् नारदीय पुराण—नारद पुराण नामक एक उपपुराण भी मिलता है। अतः उससे इसे पृथक् करने के लिये इसे बृहद् नारदीय पुराण नाम दिया गया है। इस ग्रन्थ में दो भाग हैं। पूर्वभाग में अध्यायों की संख्या १२५ है और उत्तरभाग में ८२ है। सम्पूर्ण श्लोकों की संख्या २५,००० है। डाक्टर विलसन इस पुराण का रचना काल १६वीं शताब्दी बतलाते हैं तथा इसे विष्णुभक्ति का प्रतिपादक एक सामान्य ग्रन्थ मानते हैं। परन्तु ये दोनों बातें सर्वथा निराधार हैं। १२वीं शताब्दी में बल्लालसेन ने अपने 'दानसागर' नामक ग्रन्थ में इस पुराण के श्लोकों को उद्धृत किया है। अलबेरुनी (११वीं शताब्दी) ने भी अपने यात्राविवरण में इस पुराण का उल्लेख किया है। अतः यह पुराण निश्चय ही इन दोनों ग्रन्थकारों के काल से प्राचीन है। इस ग्रन्थ के पूर्वभाग में वर्ण और आश्रम के आचार (अ० २४।२५) श्राद्ध (अ० २८) प्रायश्चित्त आदि का वर्णन किया गया है। इसके अनन्तर

व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द आदि शास्त्रों का अलग-अलग एक-एक अध्याय में विषयों का विवेचन है। अनेक अध्यायों में विष्णु, राम, हनुमान, कृष्ण, काली, महेश के मन्त्रों का विधिवत् निरूपण किया गया है। विष्णुभक्ति को ही मुक्ति का परम साधन सिद्ध किया गया है। इसी प्रसंग को लेकर उत्तरभाग में (अ० ७--२७ तक) विख्यात विष्णुभक्त राजा रुक्माङ्गद का चारु चरित्र वर्णित किया गया है।

यह पुराण ऐतिहासिक दृष्टि से भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। अठारहों पुराणों के विषयों की विस्तृत अनुक्रमणी यहाँ दी गई है (अ० ९२–१०९ पूर्वभाग)। यह अनुक्रमणी सभी पुराणों के विषयों को जानने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इसकी सहायता से हम वर्तमान पुराणों के मूलरूप तथा प्रक्षिप्त अंश की छान-बीन बड़ी सुगमता के साथ कर सकते हैं। विष्णुभक्ति की इसमें प्रधानता होने पर भी यह पुराण पुराणों के पञ्च लक्षणों से रहित नहीं है।

मार्कण्डेय पुराण

(७) मार्कण्डेय पुराण—इस पुराण का नामकरण मार्कण्डेय ऋषि द्वारा कथन किये जाने से हुआ है। शंकराचार्य ने वेदान्तसूत्र भाष्य १।२।२३ में तथा २।३।१६ में इस पुराण के दो श्लोकों का उद्धरण दिया है। इससे स्पष्ट है कि शंकराचार्य (८वीं सदी) के समय से भी यह पुराण अधिक प्राचीन है। परिमाण में यह पुराण छोटा है। इसके अध्यायों की संख्या १३८ है और श्लोकों की संख्या ९,००० है। इस पूरे पुराण का अंग्रेजी में अनुवाद पाजिटर साहब ने किया है (बिब्लोथिका इण्डिका सीरीज कलकत्ता; १८८८ से १९०५ ई०) तथा इसके आरम्भिक कतिपय अध्यायों का अनुवाद जर्मन भाषा में भी हुआ है जिसमें मरणोत्तर जीवन की कथा कही गई है। इन पश्चिमी विद्वानों की सम्मति में यह पुराण बहुत प्राचीन, बहुत लोकप्रिय तथा नितान्त उपादेय है।

हमारी दृष्टि में भी यह सम्मति ठीक ही जान पड़ती है। प्राचीनकाल की प्रसिद्ध ब्रह्मवादिनी महिर्षी मदालसा का पवित्र जीवन-चरित्र इस ग्रन्थ में बड़े विस्तार के साथ किया गया है। मदालसा ने अपने पुत्र अलर्क को शैशव से ही ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया जिससे उसने राजा होने पर भी ज्ञानयोग के साथ कर्मयोग का अपूर्व सामञ्जस्य कर दिखाया। इसी ग्रंथ का 'दुर्गा सप्तशती' एक विशिष्ट अंश है। इसमें देवी-भक्तों के लिये सर्वस्वरूप दुर्गा का पवित्र चरित बड़े विस्तारके साथ दिया गया है।

अग्निपुराण

(८) अग्निपुराण—इस पुराण को यदि समस्त भारतीय विद्याओं का विश्वकोप कहें तो किसी प्रकार अत्युक्ति न होगी। पुराणों का उद्देश्य जन साधारण में ज्ञातव्य विद्याओं का प्रचार करना भी था, इसका पूरा परिचय हमें इस पुराण के अनुशीलन से मिलता है। इस पुराण के ३८३ अध्यायों में नाना प्रकार के विषयों का सन्निवेश कम आश्चर्य का विषय नहीं है। अवतार की कथाओं का संक्षेप में वर्णन कर रामायण और महाभारत की कथा पर्याप्त विस्तार के साथ दी गई है। मन्दिर निर्माण की कला के साथ प्रतिष्ठा तथा पूजन के विधान का विवेचन संक्षेप में सुचारु रूप से किया गया है। ज्योतिपशास्त्र, धर्मशास्त्र, व्रत, राजनीति, आयुर्वेद आदि शास्त्रों का वर्णन बड़े विस्तार के साथ मिलता है। छन्द-शास्त्र का निरूपण आठ अध्यायों में किया गया मिलता है। अलंकार शास्त्र का विवेचन बड़े ही मार्मिक ढंग से किया गया है। व्याकरण की भी छान-बीन कितने ही अध्यायों में की गई है। कोष के विषय में भी कई अध्याय लिखे गये हैं जिनके अनुशीलन से पाठकों को शब्द-ज्ञान की विशेष वृद्धि हो सकती है। योगशास्त्र के यम, नियम आदि आठों अंगों का वर्णन संक्षेप में बड़ा ही सुन्दर है। अन्त में अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का सार-संकलन है। एक अध्याय में गीता का भी सारांश

एकत्रित किया गया है। इस प्रकार इस पुराण के अनुशीलन से समस्त ज्ञान-विज्ञान का परिचय मिलता है। इसीलिये इस पुराण का यह दावा सर्वथा सच्चा ही प्रतीत होता है कि—

आग्नेये हि पुराणेऽस्मिन्,
सर्वा विद्याः प्रदर्शिताः। (अ० ३८३।५२)

भविष्य पुराण

(६) भविष्य पुराण—इस पुराण के विषय में सबसे अधिक गड़बड़ी दिखाई पड़ती है। इसके नामकरण का कारण यह है कि इसमें भविष्य में होनेवाली घटनाओं का वर्णन किया गया है। इसका दुःपरिणाम यह हुआ कि समय समय पर होनेवाले विद्वानों ने इसमें अपने समय में होने वाली घटनाओं को भी जोड़ना प्रारम्भ कर दिया। और तो क्या इसमें 'इंग्रेज' नाम से उल्लिखित अंग्रेजों के आने का भी वर्णन मिलता है। पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र को इस पुराण की विभिन्न चार हस्त लिखित प्रतियाँ मिली थीं जो आपस में विषय की दृष्टि से नितान्त भिन्न थी। उनका कहना है कि आजकल जो भविष्य पुराण उपलब्ध होता है उसमें इन उपर्युक्त चारों प्रतियों का मिश्रण है। यही इस पुराण की गड़बड़ी का कारण है। नारदपुराण के अनुसार इसके पाँच पर्व हैं:—(१) ब्राह्म पर्व (२) विष्णु पर्व (३) शिव पर्व (४) सूर्य पर्व (५) प्रतिसर्ग पर्व। इनके श्लोकों की संख्या १४,००० है। इस पुराण में सूर्यपूजा का विशेष रूप से वर्णन है। कृष्ण के पुत्र शाम्ब को कुछ रोग हो गया था जिसकी चिकित्सा करने के लिये गरुड़ शकद्वीप से ब्राह्मणों को लिवा लाये जिन्होंने सूर्य भगवान् की उपासना से शाम्ब को रोगमुक्त कर दिया। इन्हीं ब्राह्मणों को शाकद्वीपी, मग या भोजक ब्राह्मण कहते हैं। सूर्य उपासना के रहस्य तथा कलि में उत्पन्न विभिन्न ऐतिहासिक राजवंशों के इतिहास जानने के लिये यह पुराण नितान्त उपादेय है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण

(१०) ब्रह्मवैवर्त पुराण—इस पुराण के श्लोकों की संख्या १८००० के लगभग है। इस प्रकार पुराण भागवत की अपेक्षा परिमाण में कुछ छोटा है। इस पुराण में चार खण्ड हैं–(१) ब्रह्म खण्ड (२) प्रकृति खण्ड (३) गणेश खण्ड (४) कृष्णजन्म खण्ड। इसमें कृष्णजन्म खण्ड आधे से भी अधिक है। इस खण्ड में १३३ अध्याय हैं। कृष्ण चरित्र का विस्तृत रूप से वर्णन करना इस पुराण का प्रधान लक्ष्य है। राधा कृष्ण की शक्ति हैं और इस राधा का वर्णन बड़े साङ्गोपाङ्ग रूप से यहाँ दिया गया है। इस राधा-प्रसङ्ग के कारण अनेक ऐतिहासिक इस पुराण को बहुत ही पीछे का बतलाते हैं। परन्तु राधा की कल्पना बड़ी प्राचीन है। महाकवि भास ने अपने 'बालचरित' नाटक में कृष्ण की बाल-लीला तथा राधा का वर्णन विस्तार के साथ किया है। भास का काल तृतीय शतक है। अतः इस पुराण की रचना तृतीय शतक से पहिले हो चुकी होगी। सच पूछिए तो भागवत के दशम स्कन्ध के अनन्तर श्रीकृष्ण की लीला का इतना अधिक विस्तार और कहीं नहीं मिलता।

(१) ब्रह्म खण्ड—में केवल तीस (३०) अध्याय हैं जिसमें कृष्ण के द्वारा जगत् की सृष्टि का वर्णन है। इसका १६वाँ अध्याय आयुर्वेद शास्त्र के विषय का वर्णन करता है। (२) प्रकृति खण्ड में प्रकृति का वर्णन है जो भगवान् कृष्ण के आदेशानुसार दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती सावित्री तथा राधा के रूप में अपने को समय समय पर परिणत किया करती है। इस खण्ड में सावित्री तथा तुलसी की कथा बड़े विस्तार के साथ उपलब्ध होती है। (३) गणेश खण्ड में गणपति के जन्म, कर्म तथा चरित का वर्णन है। गणेश कृष्ण के अवतार के रूप में दिखलाये गये हैं। इस पुराण के नामकरण का कारण स्वयं इसी पुराण में इस

प्रकार दिया हुआ है कि कृष्ण के द्वारा ब्रह्म के विवृत (प्रकाशित) किये जाने के कारण इसका नाम 'ब्रह्म वैवर्त' पड़ा।

विवृतं ब्रह्म कार्त्स्न्येन, कृष्णेन यत्र च शौनक।
ब्रह्म वैवर्तकं तेन, प्रवदन्ति पुराविदः॥ ब्र० पु० १।१।१०

दक्षिण भारत में यह पुराण ब्रह्म कैवर्त के नाम से प्रसिद्ध है। इस नामकरण का कारण स्पष्ट रूप से प्रतीत नहीं होता। नारद पुराण में जो इस पुराण की अनुक्रमणी उपलब्ध होती है, उससे वर्तमान पुराण से पूरा सामञ्जस्य है। कृष्णपरक होने के कारण से कृष्णभक्त वैष्णवों में इस पुराण की बड़ी मान्यता है। विशेषतः गौड़ीय वैष्णवों में इस पुराण का बड़ा आदर है।

लिंग पुराण

(११) लिङ्ग पुराण—इसमें भगवान् शंकर की लिङ्गरूप से उपासना विशेष रूप से दिखलाई गई है। शिवपुराण का कहना है कि—

"लिङ्गस्य चरितोक्तत्वात् पुराणं लिङ्गमुच्यते"

यह पुराण अपेक्षाकृत छोटा है क्योंकि इसमें अध्यायों की संख्या १६३ और श्लोकों की संख्या ११००० है। इसमें दो भाग है (१) पूर्व भाग (२) उत्तर भाग। यहाँ लिङ्गोपासना की उत्पत्ति दिखलाई गई है। सृष्टि का वर्णन भगवान् शंकर के द्वारा बतलाया गया है। शंकर के २८ अवतारों का वर्णन भी हमें यहाँ उपलब्ध होता है। शिवपरक होने के कारण से शैव व्रतों का और शैव तीर्थों का यहाँ अधिक वर्णन होना स्वाभाविक ही है। उत्तर भाग में पशु, पाश तथा पशुपति की जो व्याख्या की गई है (अ० ९), वह शैव तन्त्रों के अनुकूल है। यह पुराण शिव-तत्त्व की मीमांसा के लिये बड़ा ही उपादेय तथा प्रामाणिक है।

वराह पुराण

(१२) वराह पुराण—विष्णु ने वराह रूप धारण कर पृथ्वी का पाताल लोक से उद्धार किया था। इस कथा से मुख्यतः संबंध रखने के कारण इस पुराण का नाम वराह पुराण पड़ा है। हेमाद्रि ने (१३वीं शताब्दी) अपने 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' में इस पुराण में वर्णित बुद्ध द्वादशी का उल्लेख किया है तथा गौड़ नरेश बल्लालसेन ने (१२वीं शताब्दी) 'दानसागर' नामक ग्रन्थ में इस पुराण से अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं। अतः यह पुराण १२वीं शताब्दी से प्राचीन अवश्य है। इस पुराण के दो पाठ-भेद उपलब्ध होते हैं (१) गौड़ीय (२) दाक्षिणात्य। इनमें अध्यायों की संख्याओं में भी अन्तर है। आजकल गौड़ीय पाठवाला संस्करण ही अधिक प्रसिद्ध है। इस पुराण में २१८ अध्याय हैं। श्लोकों की संख्या २४,००० है। परन्तु कलकत्ते की एशियाटिक सोसाइटी से इस ग्रन्थ का जो संस्करण प्रकाशित हुआ है उसमें केवल १०,७०० श्लोक हैं। इससे ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ का एक बहुत बड़ा भाग अब तक नहीं मिलता है। इस पुराण में विष्णु से सम्बद्ध अनेक व्रतों का वर्णन है। विशेषकर द्वादशी व्रत—भिन्न भिन्न मासों की द्वादशी व्रत—का विवेचन मिलता है तथा इन द्वादशी व्रतों का भिन्न भिन्न अवतारों से सम्बन्ध दिखलाया गया है।

इस पुराण के दो अंश विशेश महत्त्व के हैं:—(१) मथुरा महात्म्य (अ० १५२–१७२) जिसमें मथुरा के समग्र तीर्थों का बड़ा ही विस्तृत वर्णन दिया गया है। ये अध्याय मथुरा का भूगोल जानने के लिये बड़े ही उपयोगी हैं। (२) नाचिकेतोपाख्यान (अ० १९३–२१२) जिसमें नचिकेता का उपाख्यान बड़े विस्तार के साथ दिया गया है। इस उपाख्यान में स्वर्ग तथा नरकों के वर्णन पर ही विशेष जोर दिया गया है। कठोपनिषद् की आध्यात्मिक दृष्टि उपाख्यान में नहीं हैं।

स्कन्द पुराण

(१३) स्कन्द पुराण—इस पुराण में स्वामी कार्तिकेय ने शैवतत्त्वों का निरूपण किया है, इसीलिये इनका नाम स्कन्द पुराण है। सबसे बृहत्काय पुराण यही है। इसकी मोटाई का इसी से अनुमान किया जा सकता है कि यह भागवत पुराण से आठगुना मोटा है। इसकी श्लोक संख्या ८१,१०० है जो लक्ष श्लोकात्मक महाभारत से केवल एक पंचमांश ही कम है! इस पुराण के अन्तर्गत अनेक संहितायें, खण्ड, तथा माहात्म्य हैं। इसी पुराण के अन्तर्गत सूतसंहिता (अ० १ श्लो० २०-२२) के अनुसार इस पुराण में छः संहिताएँ हैं जो अपने ग्रन्थ परिमाण के साथ इस प्रकार हैं:—

संहिता	श्लोक संख्या
(१) सनत्कुमार संहिता	३६,०००
(२) सूत संहिता	६,०००
(३) शंकर संहिता	३०,०००
(४) वैष्णव संहिता	५,०००
(५) ब्राह्म संहिता	३,०००
(६) सौर संहिता	१,०००
	=८१,००० श्लोक

इन संहिताओं के विषय में विस्तृत निर्देश नारद पुराण में दिया गया है। स्कन्द पुराण के विभाजन का एक दूसरा भी प्रकार खण्डों में है। ये खण्ड संख्या में सात हैं:—(१) माहेश्वर खण्ड (२) वैष्णव खण्ड (३) ब्रह्मखण्ड (४) काशी खण्ड (५) रेवा खण्ड (६) तापी खण्ड (७) प्रभास खण्ड।

(१) संहिताओं में सूत संहिता शिवोपासना के विषय में एक अनुपम ग्रन्थ है। यह संहिता वैदिक तथा तान्त्रिक उभय प्रकार की पूजाओं का

विस्तार के साथ वर्णन करती है। इस संहिता की इसी विलक्षणता के कारण से विजयनगर साम्राज्य के मन्त्री माधवाचार्य की दृष्टि इस पर पड़ी और उन्होंने 'तात्पर्य-दीपिका' नामक बड़ी ही प्रामाणिक तथा विस्तृत व्याख्या लिखी है जो आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली पूना (नं० २५) से प्रकाशित हुई है। इस संहिता में चार खण्ड हैं:—(१) पहला खण्ड जिसका नाम 'शिव माहात्म्य' है १३ अध्यायों में शिव-महिमा का विशेष रूप से प्रतिपादन करता है। (२) ज्ञानयोग खण्ड—२० अध्यायों में आचार-धर्मों के वर्णन करने के अनन्तर हठयोग की प्रक्रिया का साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत करता है। (३) मुक्तिखण्ड—९ अध्यायों में मुक्ति के उपाय का वर्णन करता है। (४) यज्ञ वैभव खण्ड—यह सब खण्डों से बड़ा है। इसके दो भाग हैं (१) पूर्व भाग और (२) उत्तर भाग। पूर्व-भाग में ४७ अध्याय हैं जिनमें अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का शैवभक्ति के साथ सम्पुटित कर बड़ा ही सुन्दर आध्यात्मिक विवेचन किया गया है। दार्शनिक दृष्टि से यह खण्ड बड़ा ही उपादेय प्रमेय-बहुल तथा मीमांसा करने योग्य है। इसके उत्तर भाग में दो गीतायें सम्मिलित हैं—(१) ब्रह्मगीता और (२) सूतगीता। पहली गीता १२ अध्यायों में विभक्त है और दूसरी ८ अध्यायों में। इनका भी विषय अध्यात्म ही है। आत्मस्वरूप का कथन तथा उसके साक्षात्कार के उपाय बड़ी ही सुन्दरता के साथ प्रतिपादित किये गये हैं। इस संहिता में शिव के प्रसाद से ही सब कर्मों की सिद्धि का वर्णन किया गया है। इस विषय के दो श्लोक नीचे दिये जाते हैं:—

प्रसाद-लाभाय हि धर्मसंचयः
प्रसाद-लाभाय हि देवतार्चनम्।
प्रसाद-लाभाय हि देवतास्मृतिः;
प्रसाद लाभाय हि सर्वमीरितम्॥
शिवप्रसादेन विना न मुक्तयः,
शिवप्रसादेन विना न मुक्तयः।

शिवप्रसादेन विना न देवताः;
शिवप्रसादेन हि सर्वमास्तिकाः ॥

(३) शंकर संहिता —अनेक खण्डों में विभक्त है। इसका प्रथम खण्ड शिवरहस्य कहलाता है जो पूरी संहिता का आधा भाग है। जिसमें १३,००० श्लोक हैं तथा ७ काण्ड हैं जिनके नाम ये हैं:—(१) संभव काण्ड (२) आसुर काण्ड (३) माहेन्द्र काण्ड (४) युद्ध काण्ड (५) देव काण्ड (६) दक्षकाण्ड (७) उपदेश काण्ड। (६) छठवीं संहिता सौर संहिता है जिसमें शिवपूजा सम्बन्धी अनेक बातों का वर्णन किया गया है। पहली संहिता—सनत्कुमार संहिता बीस-बाइस अध्यायों की एक छोटी सी संहिता है। इन संहिताओं को छोड़कर अन्य संहितायें उपलब्ध नहीं होतीं।

अब खण्डों के क्रम से इस पुराण का वर्णन किया जाता है:—

(१) माहेश्वर खण्ड के भीतर दो छोटे खण्ड हैं (क) केदार खण्ड (ख) कुमारिका खण्ड। इन दोनों में खण्डों शिव पार्वती की नाना प्रकार की विचित्र लीलाओं का वर्णन बड़ा सुन्दर किया गया है।

(२) वैष्णव खण्ड–इस खण्ड के अन्तर्गत उत्कल खण्ड है जिसमें उड़ीसा के जगन्नाथजी के मन्दिर, पूजाविधान, प्रतिष्ठा तथा तत्संबद्ध अनेक उपाख्यानों का वर्णन मिलता है। राजा इन्द्रद्युम्न ने नारदजी के उपदेश में किस प्रकार जगन्नाथजी के स्थान का पता लगाया, इसका विस्तृत वर्णन इस खण्ड में पाया जाता है। इस प्रकार जगन्नाथपुरी का प्राचीन इतिहास जानने के लिये यह ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है।

(३) ब्रह्म खण्ड—इसमें दो खण्ड हैं (१) ब्रह्मारण्य खण्ड (२) ब्रह्मोत्तर खण्ड। प्रथम खण्ड में तो धर्मारण्य नामक स्थान के माहात्म्य का विशद प्रतिपादन है। दूसरे खण्ड में उज्जैनी में स्थित महाकाल की प्रतिष्ठा तथा पूजन का विशेष विधान है।

(४) काशी खण्ड—इसमें काशी की महिमा का वर्णन है। काशी के समस्त देवताओं, शिवलिङ्गों के आविर्भाव तथा माहात्म्य का प्रतिपादन यहाँ विशेषरूप से किया गया है। काशी का प्राचीन भूगोल जानने के लिये यह खण्ड अत्यन्त आवश्यक है।

(५) रेवा खण्ड—इसमें नर्मदा की उत्पत्ति तथा उनके तट पर स्थित समस्त तीर्थों का विस्तृत वर्णन मिलता है। सत्यनारायण व्रत की सुप्रसिद्ध कथा इसी खण्ड की है।

(६) अवन्ति खण्ड—अवन्ति (उज्जैन) में स्थित भिन्न भिन्न शिवलिङ्गों की उत्पत्ति तथा माहात्म्य का वर्णन इस खण्ड में किया गया है। महाकालेश्वर का वर्णन बड़े ही विस्तृत रूप में दिया गया है। प्राचीन अवन्ति की धार्मिक स्थिति का पूरा दिग्दर्शन यहाँ मिलता है।

(७) तापी खण्ड—इसमें नर्मदा की सहायक नदी तापी के किनारे स्थित नाना तीर्थों का वर्णन मिलता है। नारद पुराण के मत से इसके षष्ठ खण्ड का नाम नागर खण्ड है। आजकल जो नागर खण्ड उपलब्ध होता है उसमें तीन परिच्छेद हैं। (१) विश्वकर्मा उपाख्यान (२) विश्वकर्म वंशाख्यान (३) हाटकेश्वर माहात्म्य। इस तीसरे खण्ड में नागर ब्राह्मणों की उत्पत्ति का वर्णन है। भारत की सामाजिक दशा जानने के लिये यह खण्ड अत्यन्त आवश्यक है।

(८) प्रभास खण्ड—इसमें प्रभास क्षेत्र का बड़ा ही विस्तृत वर्णन है। द्वारका के आस पास का भूगोल जानने के लिये यह खण्ड अत्यन्त उपयोगी है।

इन महापुराणों में महाकाय स्कन्द पुराण का यह स्वल्पकाय वर्णन है। इस पुराण में जगन्नाथजी के मन्दिर का वर्णन होने से कुछ पाश्चात्य विद्वानों का विचार है कि यह पुराण १३ वीं शताब्दी में लिखा गया क्योंकि १२६४ ई० के आसपास जगन्नाथजी के मन्दिर का निर्माण हुआ था। परन्तु यह मत नितान्त भ्रान्त है क्योंकि ९३० शक (१००८ ई०)

में लिखी गई इसकी हस्तलिखित प्रति कलकत्ते में उपलब्ध हुई है। परन्तु इससे भी प्राचीन ७ वीं शताब्दी में लिखित इसकी हस्तलिखित प्रति नैपाल के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है जिसका उल्लेख डा० हर-प्रसाद शास्त्री ने वहाँ के सूचीपत्र में किया है। इससे सिद्ध होता है कि यह पुराण बहुत ही प्राचीन है। इसका मूलरूप क्या था और यह कैसे धीरे-धीरे इतना विशालकाय हो गया? यह भी पुराण के पण्डितों के लिये अनुसन्धान का विषय है।

वामन पुराण

(१४) वामन पुराण—इस पुराण का सम्बन्ध भगवान् के वामनावतार से है। यह बड़ा ही छोटा पुराण है। इसमें केवल ९५ अध्याय हैं तथा १०,००० श्लोक हैं। विष्णुपरक होने के कारण इसमें विष्णु के भिन्न-भिन्न अवतारों का वर्णन होना स्वाभाविक है परन्तु वामनावतार का वर्णन विशेष रूप से हुआ है। इस पुराण में शिव, शिव का माहात्म्य, शैवतीर्थ, उमा-शिव विवाह, गणेश की उत्पत्ति और कार्तिकेय चरित आदि विषयों का वर्णन मिलता है जिससे पता चलता है कि इसमें किसी प्रकार की साम्प्रदायिक संकीर्णता नहीं है।

कूर्म पुराण

(१५) कूर्म पुराण—इस पुराण से पता चलता है कि इसमें चार संहितायें थीं–(१) ब्राह्मी संहिता (२) भागवती (३) सौरी (४) वैष्णवी। परन्तु आजकल केवल ब्राह्मी संहिता ही उपलब्ध होती है और उसी का नाम कूर्म पुराण है। भागवत तथा मत्स्य पुराणों के अनुसार इसमें १८,००० श्लोक होने चाहिये परन्तु उपलब्ध पुराणों में केवल ६००० ही श्लोक मिलते हैं अर्थात् मूल ग्रन्थ का केवल तृतीयांश भाग ही उपलब्ध हैं। विष्णु भगवान् ने कूर्म अवतार धारण कर इन्द्रद्युम्न नामक

विष्णुभक्त राजा को इस पुराण का उपदेश दिया था। इसीलिये यह कूर्म पुराण के नाम से अभिहित किया जाता है। इसमें सब जगह शिव ही मुख्य देवता के रूप वर्णित हैं और यह स्पष्ट उल्लिखित है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। ये एक ही ब्रह्म की पृथक् पृथक् तीन मूर्तियाँ हैं। इस ग्रन्थ में शक्तिपूजा पर भी बड़ा जोर दिया गया है। शक्ति के सहस्र नाम यहाँ दिये गये हैं (१।१२)। विष्णु शिव के रूप तथा लक्ष्मी गौरी की प्रतिकृति बतलाई गई हैं। शिव देवाधिदेव के रूप में इतने महत्त्वपूर्ण रूप से वर्णित किये गये हैं कि उन्हीं के प्रसाद से भगवान् कृष्ण जाम्बवती की प्राप्ति में समर्थ होते हैं।

इस पुराण में दो भाग हैं। पूर्वभाग ५२ अध्याय और उत्तरभाग में ४४ अध्याय हैं। पूर्वभाग में सृष्टि-प्रकरण के अनन्तर, पार्वती की तपश्चर्या तथा इनके सहस्रनाम का वर्णन है। इसी भाग में काशी और प्रयाग का माहात्म्य (अ० ३५-३७) दिया गया है। उत्तरभाग ईश्वरी गीता तथा व्यास गीता है। ईश्वरी गीता में भगवद्गीता के ढंग पर ध्यानयोग के द्वारा शिवके साक्षात्कार का वर्णन है। व्यास गीता में चारों आश्रमों के कर्तव्य कर्मों का वर्णन महर्षि व्यास के द्वारा किया गया है। इस पुराण के उपक्रम से ही पता चलता है कि मूल रूप में इसमें चार संहितायें थीं और आजकल केवल ब्राह्मी संहिता (६,००० श्लोक) ही उपलब्ध होती है—

ब्राह्मी भागवती सौरी वैष्णवी च प्रकीर्त्तिता।
चतस्रः संहिताः पुण्या धर्मकामार्थमोक्षदाः॥
इयं तु संहिता ब्राह्मी चतुर्वेदैश्च सम्मता।
भवन्ति षट् सहस्राणि श्लोकानामत्र संख्यया॥

(१।२५)।

मत्स्य पुराण

(१६) मत्स्यपुराण—यह पुराण भी पर्याप्त रूप से विस्तृत है। इसमें अध्यायों की संख्या २९१ है तथा श्लोकों की संख्या १५,००० के लगभग है। इस पुराण के आरम्भ में मन्वन्तर के सामान्य वर्णन के अनन्तर पितृवंश का वर्णन विशेष रूप से किया गया है। वैराज पितृवंश का १३ वें अध्याय में, अग्निष्वात्त पितरों का १४ वें में तथा बर्हिषद् पितरों का वर्णन १५ वें अध्याय में विशेष रूप से है। श्राद्धकल्प का विवेचन ७ अध्यायों (अ० १६–२२ तक) में किया गया है। सोमवंश का वर्णन बड़े विस्तार के साथ यहाँ उपलब्ध है, विशेषतः ययाति के चरित्र का (अ० २७ से ४२ तक)। अन्य राजन्य वंशों का भी वर्णन है। व्रतों का वर्णन इस पुराण की महती विशेषता है (अ० ५५-१०२) प्रयाग का भौगोलिक वर्णन तथा महिमा कथन १० अध्यायों (अ०-१०३–११२) में किया गया है। भगवान् शंकर का त्रिपुरासुर के साथ जो संग्राम हुआ था उसका वर्णन यहाँ हम बड़े विस्तार के साथ पाते हैं। (अ० १२९–१४०) तारक-वध का भी बड़ा विस्तार यहाँ मिलता है। मत्स्यावतार के वर्णन के लिये तो यह पुराण ही लिखा गया है। काशी का माहात्म्य भी अनेक अध्यायों में यहाँ विराजमान है (अ० १८०-१८५) वही दशा नर्मदा माहात्म्य की भी है (अ० १८७ से १९४)।

इस पुराण में तीन-चार बातें विशेष महत्त्व की दीख पड़ती हैं। (१) पहली बात यह है कि इस पुराण के ५३ वें अध्याय में समस्त पुराणों की विषयानुक्रमणी दी गई है जिससे हम पुराणों के क्रमिक विकास का बहुत कुछ परिचय पा सकते हैं। (२) विशेषता है प्रवर ऋषियों के वंश का वर्णन—भृगु, अंगिरा, अत्रि, विश्वामित्र, कश्यप, वशिष्ठ, पराशर, अगस्त्य—इन ऋषियों के वंशों का वर्णन बड़े सुचारु रूप से हम १९५ अध्याय से लेकर २०२ अध्याय तक क्रमपूर्वक पाते हैं। (३) विशेषता

है राजधर्म का विशिष्ट वर्णन। अध्याय २१५ से लेकर २४३ तक दैव, पुरुषकार, साम, दाम, दण्ड, भेद, दुर्ग, यात्रा, सहायसम्पत्ति और तुला-दान आदि का वर्णन इस ग्रन्थ को राजनैतिक महत्त्व प्रदान करता है। इसी राजधर्म के अन्तर्गत अद्भुत शान्ति का खण्ड भी बड़ी नवीनता लिये हुए है (अ० २२८ से २३८)। (४) विशेषता है प्रतिमा-लक्षण अर्थात् भिन्न-भिन्न देवताओं की प्रतिमा का मापपूर्वक निर्माण। हमारा प्रतिमा-शास्त्र वैज्ञानिक पद्धति पर अवलम्बित है। भिन्न-भिन्न देवताओं के मूर्तियों की रचना तालमान के अनुसार होती है। उनकी प्रतिष्ठा-पीठ का निर्माण भी एक विशिष्ट शैली से होती है। इन सब विषय का वर्णन इस पुराण में अनेक अध्यायों में (अ० २५७–२७०) बड़े प्रामाणिक रूप से दिया गया है। राजा को अपने शत्रु पर चढ़ाई करते समय किन किन बातों का ध्यान रखना चाहिये इसका कितना सुन्दर वर्णन इस पुराण के राजधर्म में दिया गया है:—

विज्ञाय राजा द्विजदेशकालौ,
दैवं त्रिकालञ्च तथैव बुद्ध्वा।
यायात् परमं कालविदां मतेन,
संचिन्त्य सार्धं द्विजमन्त्रविद्भिः॥

गरुड़ पुराण

(१७) गरुड़ पुराण—इस पुराण में विष्णु ने गरुड़ को विश्व की सृष्टि बतलाई थी। इसीलिये इसका नाम गरुड़ पुराण पड़ गया। इसमें १८००० श्लोक हैं और अध्यायों की संख्या २८७ है। इसमें दो खण्ड हैं। पूर्वखण्ड में उपयोगिनी नाना विद्याओं के विस्तृत वर्णन हैं। आरम्भ में विष्णु तथा उनके अवतारों का माहात्म्य कथित है। इसके एक अंश में नाना प्रकार के रत्नों की परीक्षा है जैसे मोती की परीक्षा

(अ० ६९)। पद्मराग की परीक्षा (अ० ७०.) मरकत, इन्द्रनील, वैदूर्य, पुष्पराग, करकेतन, भीष्मरत्न, पुलक रुधिराख्य रत्न, स्फटिक, तथा विद्रुम की परीक्षा (अ० ७१—८० तक) क्रमशः की गई है। राजनीति का भी वर्णन बड़े विस्तार के साथ यहाँ (अ० १०८ से ११५ तक) उपलब्ध होता है। आयुर्वेद के आवश्यक निदान तथा चिकित्सा का कथन २६ अध्यायों में किया गया है (अ० १५०—१८१)। नाना प्रकार के रोगों के दूर करने के लिये औषध की व्यवस्था भी यहाँ की गई है (अ० १८१—१९६ तक) इसके अतिरिक्त एक अध्याय (१९७) में पशु चिकित्सा का भी वर्णन इसमें पाया है जो समधिक महत्त्वपूर्ण है। एक दूसरा अध्याय (अ० १९९) बुद्धि के निर्मल बनाने के लिये औषध की व्यवस्था करता है। अच्छा होता कि आयुर्वेद के प्रतिपादक ये ५० अध्याय अलग पुस्तकाकार प्रकाशित किये जाते और अन्य आयुर्वेद के ग्रन्थों के साथ इसका भी अनुशीलन किया जाता। छन्दः शास्त्र के विषय में ६ अध्याय (अ० २११—२१६) यहाँ मिलते हैं। सांख्य योग का भी इसमें वर्णन है (अ० २३० और अ० २४३)। एक अध्याय (अ० २४२) में गीता का सारांश भी वर्णित है। इस प्रकार गरुड़ पुराण का यह पूर्व अंश अग्निपुराण के समान ही समस्त विद्याओं का विश्वकोष कहा जाय तो अनुचित न होगा।

इस पुराण का उत्तर खण्ड 'प्रेत कल्प' कहा जाता है जिसमें ४५ अध्याय हैं। मरनेके बाद मनुष्यकी क्या गति होती है ? वह किस योनिमें उत्पन्न होता है तथा कौन कौन सा भोग भोगता है ? इसका वर्णन अन्य पुराणों में यत्र तत्र पाया जाता है परंतु इस पुराण में इस विषय का अत्यन्त विस्तृत तथा साङ्गोपाङ्ग वर्णन मिलता है जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। इसमें गर्भावस्था, नरक, यम नगर का मार्ग, प्रेतगण का वास-स्थान, प्रेत लक्षण तथा प्रेत योनि से मुक्ति, प्रेतोंका रूप, मनुष्यों की आयु, यमलोक का विस्तार सपिण्डीकरणका विधि, वृषोत्सर्ग-विधान

आदि विषयों का भिन्न भिन्न अध्यायों में बड़ा रोचक तथा विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। श्राद्ध के समय इस पुराण का पाठ किया जाता है। इस 'उत्तर खण्ड' का जर्मन भाषा में अनुवाद हुआ है।

ब्रह्माण्ड पुराण

(१८) ब्रह्माण्ड पुराण—इस पुराणमें समस्त ब्रह्माण्ड के वर्णन होने के कारण से इसका नाम ब्रह्माण्ड पुराण पड़ा है। भुवन कोष का वर्णन प्रायः हर एक पुराण में उपलब्ध होता है, परन्तु इस पुराणमें पूरे विश्व का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है। आजकल उपलब्ध पुराणमें—जो वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित हुआ है—प्रक्रियापाद तथा उपोद्घात पाद ये दो ही पाद उपलब्ध हैं। नारद पुराण से पता चलता है कि प्रारम्भ में इसके १२,०००श्लोक थे तथा प्रक्रिया, अनुषङ्ग, उपोद्घात और उपसंहार नामक चार पाद[1] थे। इन चारों पादों की विषय सूची भी नारद पुराण में दी हुई है। परन्तु आजकल दूसरा (अनुषङ्ग) और चौथा (उपसंहार) पाद उपलब्ध नहीं होता। कूर्म पुराण की विषय सूचीमें इस पुराण को 'वायवीय ब्रह्माण्ड पुराण' कहा गया है। इस नामकरण ने अनेक पाश्चात्य विद्वानों को भ्रम में डाल दिया है। उनके मतसे इस पुराणका मूल वायु पुराण है और ब्रह्माण्ड पुराण उसी वायु पुराणका विकसित रूप है। परन्तु यह धारणा नितान्त निराधार है। नारद पुराण के वचन से हम जानते हैं कि व्यासजीको वायु ने इस पुराण का उप-

---

१—शृणु वत्स प्रवक्ष्यामि, ब्रह्माण्डाख्यं पुरातनम्।
यच्च द्वादश साहस्रं, भाविकल्प–कथायुतम्॥
प्रक्रियाख्योऽनुषङ्गाख्यः उपोद्घातः तृतीयकः।
चतुर्थ उपसंहारः, पादाश्चत्वार एव हि॥

देश दिया था। इसलिये इसका वायु-प्रोक्त ब्रह्माण्ड पुराण नाम पड़ना उचित ही है। नारद पुराण का महत्त्वपूर्ण वाक्य यह है:—

व्यासो लब्ध्वा ततश्चैतत्, प्रभञ्जनमुखोद्गतम्।
प्रमाणीकृत्य लोकेऽस्मिन्, प्रावर्तयदनुत्तमम्॥

इस पुराण के प्रथम खण्डमें विश्वके भूगोल का विस्तृत तथा रोचक वर्णन है। जम्बू द्वीप तथा उसके पर्वत, नदियोंका वर्णन अनेक अध्यायों में है (अ० १६—३२ तक)। भद्राश्व, केतुमाल, चन्द्र द्वीप, किंपुरुषवर्ष, कैलाश, शाल्मली द्वीप, कुश द्वीप, क्रौञ्च द्वीप, शाप द्वीप, पुष्कर द्वीप आदि समग्र वर्षों तथा द्वीपोंका भिन्न भिन्न अध्यायों में बड़ा ही रोचक तथा पूर्ण वर्णन है। इसी प्रकार ग्रहों, नक्षत्रों तथा युगोंका भी विशेष विवरण इसमें दिया गया है। इस प्रकार के तृतीय पाद में भारतवर्ष के प्रसिद्ध क्षत्रिय वंशों का वर्णन इतिहासकी दृष्टि से अत्यन्त उपादेय है।

इस पुराणके विषयमें एक विशेष बात उल्लेखनीय है। ईसवी सन् ५ वीं शताब्दी में इस पुराण को ब्राह्मण लोग जावा द्वीप ले गये थे जहाँ उसका जावा की प्राचीन 'कवि भाषा' में अनुवाद आज भी उपलब्ध होता है। इस प्रकार इस पुराणका समय बहुत ही प्राचीन सिद्ध होता है।

पुराणों का महत्त्व काव्य दृष्टि से भी आँका जा सकता है। संस्कृत के महाकवियों को अपनी कोमल कला के प्रदर्शन के लिए पुराण उचित उपादान प्रदान करता है। पुराणों में उल्लिखित घटनाओं के आधार पर ही हमारे मान्य कवियों ने गद्य पद्य के माध्यम द्वारा जनता का मनोरञ्जन किया है। महाकाव्य क कथानक के लिए 'प्रख्यात' होना आवश्यक होता है। महाकाव्य उस देश के जातीय प्रसिद्ध आख्यानों के आधार पर जितना ही अधिक आश्रित होता है उसका सांस्कृतिक महत्त्व उतनाही अधिक होता है। पुराण हमारे कविजनों के लिए प्रधान उपजीव्य ग्रन्थ हैं। पिछले युग के कवियों ने इन्हीं तीनों ग्रन्थरत्नों— रामायण, महाभारत तथा पुराण—से अपने काव्यों तथा रूपकों के

लिए मसाला इकट्ठा किया है। कालिदास का 'कुमार सम्भव', रत्नाकर का 'हरविजय', मंखक का 'श्रीकण्ठ चरित', नीलकण्ठ दीक्षित का 'शिवलीलार्णव'—आदि उच्चकोटि के काव्यों के लिए शिव विषयक शिव-पुराण आदि पुराण उसी प्रकार आधार भूमि हैं, जिस प्रकार भारवि के 'किरातार्जुनीय', माघकवि के 'शिशुपालवध' श्रीहर्ष के 'नैषधीय चरित' के लिए महाभारत। संस्कृत महाकाव्यों की पृष्ठभूमि के रूप में इन तीनों ग्रन्थ—व्यूहों का प्रथम अनुशीलन नितान्त आवश्यक और उपादेय है।

चतुर्थ परिच्छेद

महाकाव्य

सरसा सालङ्कारा सुपदन्यासा सुवर्णमयमूर्तिः।
आर्या तथैव भार्या न लभ्यते पुण्यहीनेन॥

मानव आनन्द का प्रेमी है। वह अपने प्रत्येक कार्य में यही ढूँढता रहता है। मनुष्य की समस्त प्रवृत्तियाँ आनन्दमूलक ही होती हैं। काव्य की रचना में भी आनन्द की लिप्सा ही मुख्य हेतु है। जब से मनुष्य ने सभ्यता सीखी, तभी से वह काव्य से आनन्द मनाता है। वेद को हम सरस चमत्कारी काव्य कह सकते हैं। प्रकृति के मनोरम दृश्यों को देखकर ऋषियों के हृदय में जो कल्पना जगी, वही मन्त्रों के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत है। काव्य को सरस तथा आनन्दमय बनानेवाला साधन 'रस' है। यही कविता का प्राण है। यही 'ब्रह्मास्वादसहोदर' कहा गया है। रसमयी कविता के आस्वाद से जो अलौकिक आनन्द मिलता है वह ज्ञानियों के आनन्दमय ब्रह्म के अनुभव से कहीं अधिक आह्लाद-जनक होता है। काव्य का यही मुख्य प्रयोजन है। गौण प्रयोजन भी अनेक हैं यथा यश तथा अर्थ की प्राप्ति, व्यवहार का ज्ञान, अमंगल का नाश, कान्ता के समान कमनीय शब्दों में उपदेश देना। चमत्कार उत्पन्न करने के कारण अत्यन्त प्राचीन काल से मनुष्यों का हृदय कविता की ओर आकृष्ट होता आयो है। काव्य में वह आकर्षण है कि कानों के द्वारा अथवा आँखों के द्वारा भीतर प्रवेश करते ही वह श्रोताओं अथवा दर्शकों के हृदय को बलात् अपनी ओर खींच लेता है।

काव्य

काव्य के लक्षण और भेद

काव्य का लक्षण क्या है ? इस विषय में आलोचकों में बड़ा मतभेद है । विश्वनाथ कविराज के अनुसार रसात्मक वाक्य को काव्य कहते हैं (वाक्यं रसात्मकं काव्यम्), तो पण्डितराज जगन्नाथ के मत में रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द ही काव्य कहा जाता है (रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्) । मम्मटभट्ट ने काव्यप्रकाश में उन साधनों की ओर संकेत किया है जिससे काव्य का स्वरूप निष्पन्न होता है । उनकी सम्मति में काव्य उस शब्द-अर्थ को कहते हैं जिसमें रसभंग करनेवाला दोष नहीं होता, जो गुण से युक्त होते हैं तथा कभी-कभी अलंकार से रहित भी होते हैं—तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि । जो कुछ भी हो, काव्य में शब्द और अर्थ—दोनों का अनुरूप निवेश होना चाहिए तथा उन्हें दोष-रहित तथा गुण-सम्पन्न होना आवश्यक होता है । रही अलङ्कार की बात । वह इतनी आवश्यक है भी नहीं । काव्य में चमत्कार चाहिए । यदि यह चमत्कार रस से उत्पन्न हो गया, तो अलंकारों का निवेश कर्कश होने से अनावश्यक होता है ।

काव्य के भेद मुख्य दो हैं—(१) दृश्य और (२) श्रव्य । दृश्य काव्य वह होता है जिसका अभिनय किया जाय—जो नेत्रों का सहारा लेकर हृदय को आह्लादित करे । श्रव्य काव्य में केवल श्रवण ही मुख्य है । वह कानों के सहारे रसिक के चित्त को आनन्दित करता है । दृश्य काव्य का ही नाम है रूपक अथवा नाटक । श्रव्य काव्य रामायण, रघुवंश आदि हैं ।

श्रव्यकाव्य—श्रव्यकाव्य के दो प्रकार के विभाग किये जाते है—रूपात्मक तथा वस्त्वात्मक । गद्य, पद्य, चम्पू—रूपात्मक भेद के अन्तर्गत हैं । छन्दोबद्ध वाक्य को 'पद्य' कहते हैं और छन्दोविहीन वाक्य को गद्य । गद्य तथा पद्य के संमिश्रण को 'चम्पू' कहते हैं । वस्तु विचार से श्रव्यकाव्य तीन प्रकार का होता है—महाकाव्य, खण्डकाव्य तथा मुक्तक (या कोश) ।

मुक्तक काव्य के अर्थ समझने के लिए सन्दर्भ की आवश्यकता नहीं होती। वह अपने में ही परिपूर्ण रहता है। छोटा होने पर भी वह बड़ा चमत्कारी तथा रसपेशल होता है। जैसे भर्तृहरि शतक के श्लोक अथवा हिन्दी में महाकवि बिहारी के दोहे। खण्डकाव्य वही है जो महाकाव्य बनने की योग्यता न रखता हो, जो महाकाव्य से छोटा हो। इसके स्वरूप की पहिचान महाकाव्य के लक्षण को भली भाँति जानने से हो सकती है।

महाकाव्य का उदय

'महाकाव्य' का विशिष्ट लक्षण[1] होता है। किसी काव्य के 'महत्त' होने में उसका आकार कारण नहीं है, बल्कि उसका गुण। महाकाव्य की रचना 'सर्गों' में की जाती है। उसमें एक ही नायक होता है जो देवता होता है अथवा धीर उदात्त गुणों से युक्त कोई कुलीन क्षत्रिय होता है। वीर, श्रृङ्गार अथवा शान्त—इनमें से कोई रस मुख्य (अंगी) होता है। अन्य रस गौण रूप से रखे जाते हैं। कथानक इतिहास प्रसिद्ध होता है अथवा किसी सज्जन का चरित वर्णन किया जाता है। प्रत्येक सर्ग में एक ही प्रकार के वृत्त में रचना की जाती है पर सर्ग के अन्त में वृत्त बदल दिया जाता है। सर्ग न तो बहुत बड़े होने चाहिए न तो बहुत छोटे। सर्ग आठ से अधिक होने चाहिए और प्रति सर्ग के अन्त में आगामी कथानक की सूचना होनी चाहिये। वृत्त को अलंकृत करने के लिये सन्ध्या, सूर्योदय, चन्द्रोदय, रात, प्रदोष, अन्धकार, वन, ऋतु, समुद्र, पर्वत आदि प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन अवश्य किया जाता

महाकाव्य

---

१ दण्डी—काव्यादर्श (परिच्छेद प्रथम १४–१९ श्लोक)
विश्वनाथ कविराज—साहित्य दर्पण (षष्ठ परिच्छेद १५–२५).

है। बीच बीच में श्रृंगार रस का भी परिपोष किया जाता है और वीर रस के प्रसंग में युद्ध, मन्त्रणा, शत्रु पर चढ़ाई आदि विषयों का भी साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया जाता है। नायक के शत्रु को प्रतिनायक कहते हैं। काव्य का मुख्य उद्देश्य धर्म तथा न्याय का विजय तथा अधर्म और अन्याय का विनाश होना चाहिये। जो काव्य इन गुणों से लक्षित होगा वही 'महाकाव्य' कहता है। महाकाव्य की इस कल्पना का मूल आधार वाल्मीकीय रामायण है।

महाकाव्य-पाश्चात्य मत

पाश्चात्य मत से महाकाव्य (एपिक) दो प्रकार के होते हैं—(१) विकसित महाकाव्य (एपिक आफ ग्रोथ), (२) कलापूर्ण महाकाव्य (एपिक आफ आर्ट[1]) विकसित महाकाव्य वह जो अनेक शताब्दियों में अनेक कवियों के प्रयत्न से विकसित होकर अपने वर्तमान रूप में आया है। वह प्राचीन गाथाओं के आधार पर रचित महाकाव्य होता है। जैसे ग्रीक महाकवि होमर का 'इलियड' और 'ऑडेसी' नामक युगल महाकाव्य। इनका वर्तमान परिष्कृत रूप होमर की प्रतिभा का फल है, परन्तु गाथाचक्रों के रूप में वे प्राचीनकाल से बन्दीजनों के द्वारा गाये जाते थे। 'कलापूर्ण महाकाव्य' वह है जिसे एक ही कवि अपनी काव्यकला से गढ़कर तैयार करता है। इसमें प्रथम श्रेणी के काव्यों के समग्र गुण विद्यमान रहते हैं, परन्तु यह रहता है एक ही कवि की प्रौढ़ प्रतिभा का परिणाम। जैसे लैटिन भाषा का वर्जिल कवि द्वारा रचित 'इनीड' महाकाव्य। वर्जिल ने अपने लिए होमर को आदर्श माना है और उन्हीं की काव्यकला का पूर्ण अनुसरण अपने महाकाव्य में किया है। इस दृष्टि से यदि संस्कृत काव्यों का वर्गीकरण किया जाय तो वाल्मीकीय रामायण प्रथम श्रेणी में रखा जायगा तथा रघुवंश तथा शिशुपालवध आदि द्वितीय श्रेणी में।

---

१ Epic of growth: Epic of art.

महाकाव्य की रचना की प्रेरणा भारतीय कवियों को वेदों से ही प्राप्त हुई है। वेदों में देवस्तुति के अतिरिक्त प्राचीन काल के प्रसिद्ध राजाओं की प्रशंसाएँ भी हैं जिन्हें 'नाराशंसी' कहते हैं। स्थान स्थान पर ऋषियों ने प्रभूत दान देनेवाले अपने आश्रयदाताओं के चरित का वर्णन भी किया है जिसमें उनके दान का पूरा ब्यौरा है ऐसे मन्त्रों को 'दानस्तुति' के नाम से पुकारते हैं। ऋग्वेद में श्यावाश्व ऋषि ने अपने आश्रयदाता राजा 'तरन्त' और उनकी विदुषी रानी शशीयसी के दान की खूब प्रशंसा की है[1]। अथर्ववेद में महाराज परीक्षित् के राज्यकाल में प्रजा को जो सौख्य प्राप्त था उसका वर्णन मिलता है[2]। इतना ही नहीं, ऋग्वेद के समय की बहुतसी गाथायें भी उपलब्ध होती हैं जिनमें किसी प्राचीन ऐतिहासिक राजा के विषय में किसी महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख रहता है अथवा किसी विषय का सुन्दर तथा रोचक वर्णन किया गया रहता है। ऐसी गाथाएँ ऐतरेय-ब्राह्मण में शुनःशेप के कथानक में दी गई हैं। इन्हीं समग्र साधनों का उपयोग कर पिछले कवियों ने प्राकृतिक दृश्यों आदि के वर्णन से पुष्ट कर महाकाव्य को जन्म दिया।

महाकाव्य का उपकरण

महाकाव्य की उत्पत्ति कब हुई तथा सबसे पहला कौन महाकाव्य रचा गया? इसे ठीक ठीक बतलाना कठिन है। लौकिक संस्कृत में महाकाव्य लिखने वाले हमारे आदि कवि कालिदास ही हैं परन्तु महाकाव्य

---

१ द्रष्टव्य लेखक की 'वैदिक कहानियाँ' पृष्ठ ९५–९६

२ कुतरत्त आहराणि दधि मन्थां परिश्रुतम्।
जायाः पतिं विपृच्छति राष्ट्रे राज्ञः परीक्षितः ॥ ९ ॥
अभी वस्वः प्रजिहीते यवः पक्वः पथो बिलम्।
जनः स भद्रमेधति राष्ट्रे राज्ञः परीक्षितः ॥ १० ॥
—अथर्व वेद २० काण्ड, १२७ सूक्त।

महाकाव्य का आरम्भ

की उत्पत्ति उन्हीं के काव्यों से नहीं हुई। महाकाव्य कालिदास से प्राचीन है। भारतीय परम्परा के अनुसार महर्षि पाणिनि ही संस्कृत के आद्य महाकाव्य-रचयिता हैं। उनके महाकाव्य का नाम 'जाम्बवती विजय' अथवा 'पाताल विजय' था। इसका परिचय अनेक ग्रन्थों में मिलता है। यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता परन्तु सूक्तिसंग्रहों में पाणिनि की कमनीय कविताएँ संगृहीत हैं। क्षेमेन्द्र ने पाणिनि के उपजाति छन्दों की बड़ी प्रशंसा की है[1]। बहुत से विद्वान् कवि पाणिनि को वैयाकरण पाणिनि से भिन्न मानते हैं, क्योंकि उनके श्लोकों में यत्रतत्र व्याकरण के नियमों की अवहेलना है। परन्तु विज्ञ सम्प्रदाय दोनों की एकता मानता है। इसमें किसी प्रकार की ऐतिहासिक गड़बड़ी नहीं है। राजशेखर ने व्याकरण के रचयिता और 'जाम्बवती विजय' के कर्त्ता पाणिनि को अभिन्न ही माना है[2]। पाणिनि के लगभग ५० श्लोक उपलब्ध होते हैं, जो काव्यदृष्टि से अत्यन्त सरस, प्रतिभासम्पन्न तथा नवीन अर्थ के द्योतक हैं। अँधेरी रात में अपने प्रियतम से मिलने के लिये जानेवाली किसी अभिसारिका के मुख के ऊपर यह कितनी बढ़िया कल्पना की गयी है—

> निरीक्ष्य विद्युन्नयनैः पयोदो
> मुखं निशायामभिसारिकायाः ॥
> धारानिपातैः सह किं नु वान्तः
> चन्द्रोऽयमित्यार्त्ततरं ररास ॥

जाम्बवन्ती विजय में कम से कम अठारह सर्ग अवश्य थे, क्योंकि

---

१ स्पृहणीयत्वचरितं पाणिनेरुपजातिभिः।
चमत्कारैकसाराभिरुद्यानस्येव जातिभिः ॥

२ नमः पाणिनये तस्मै यस्मादाविरभूदिह।
आदौ व्याकरणं, काव्यमनु जाम्बवतीजयम् ॥

शरणदेव ने अपनी 'दुर्घट वृत्ति' में अठारहवें सर्ग का एक श्लोक उद्धृत किया है।

वररुचि का भी काव्य ग्रन्थ था जो आजकल उपलब्ध नहीं है। इस ग्रन्थ का नाम 'कण्ठाभरण' था। ये वररुचि ईस्वी पूर्व चतुर्थ शतक में वर्तमान थे तथा अष्टाध्यायी के वार्तिक लिखनेवाले कात्यायनसे भिन्न न थे। ईस्वीपूर्व द्वितीय शतक में पतञ्जलि ने जो महा-भाष्य लिखा उसमें प्राचीन कवियों के बड़े सुन्दर श्लोक या श्लोकार्ध उद्धृत मिलते हैं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस समय में भी काव्यकला की उन्नति कम न थी। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि कालिदास से लगभग ६०० वर्ष पहले महाकाव्य का उदय हो चुका था। कालिदास तो विकसित काव्यकला के प्रतिनिधि कवि हैं। काव्य के आदिम रूप के लिए हमें पाणिनि और वररुचि के ग्रन्थों का अनुशीलन करना चाहिये।

"काव्य की पुनर्जागर्ति"

संस्कृत महाकाव्य के विकास के प्रसङ्ग में मैक्समूलर के पुनः जागृति के सिद्धान्त से परिचित होना आवश्यक है। यद्यपि कोई भी विद्वान् इसकी सत्यता में अब विश्वास नहीं रखता, तथापि इसका परिचय कुछ ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। ईस्वी सन् की आरम्भिक चार शताब्दियों में विदेशियों के आक्रमणों ने भारत में अशान्ति मचा रखी थी जिससे साहित्य पनपने नहीं पाया। साहित्य रचना के लिए जिस शान्त वातावरण की आवश्यकता होती है, उसकी छाया भी इस युग में नहीं दीख पड़ती। फलतः इस युग में संस्कृत कविता 'गाढ़ नींद में सो रही थी' और उसकी यह निद्रा तब टूटी, जब गुप्त साम्राज्य के वैभव का सूचक शंखनाद होने लगा। अतः गुप्तों के उदय के साथ काव्य साहित्य का उदय हुआ। उससे पहले की

मैक्समूलर का सिद्धान्त

शताब्दियाँ काव्यरचना की दृष्टि से एकदम सूनी तथा सूखी हैं। डा० मैक्समूलर के पुनर्जागर्ति सिद्धान्त[1] का यही परिचय है।

शिलालेखों ने इस सिद्धान्त को त्रुटिपूर्ण सिद्ध कर दिया है। इस युग के कवियों की रचनायें अभीतक पूर्णरूप से अभिव्यक्त नहीं हुई हैं, परन्तु जो कुछ प्रकट हुआ है वह इस धारणा को भ्रान्त उद्घोषित करने के लिए पर्याप्त है। कुषाण नरेश कनिष्क के समकालीन महाकवि अश्वघोष ने इसी युग में कविता का आश्रय लेकर अपने धर्म का सन्देश काव्यप्रेमी जनता के हृदय तक पहुँचाया। इस युग के कवियों में हरिषेण तथा वत्सभट्टि का नामोल्लेख गौरव की वस्तु है। हरिषेण ने ३५० ईस्वी के आस-पास समुद्रगुप्त के दिग्विजय का वर्णन गद्य-पद्य मिश्रित फड़कती भाषा में किया है। यह प्रशस्ति साहित्यिक गद्य का एक उत्कृष्ट नमूना है। परन्तु इससे दो सौ वर्ष पहले ७२ शक संवत् (१५० ई०) में निबद्ध रुद्रदामन् का गिरनार पर्वत पर उट्टङ्कित लेख शैली की सुन्दरता के कारण गद्यकाव्य का आनन्द देता है। इसका अनुशीलन स्पष्ट बतलाता है कि उस समय तक अलंकारशास्त्र के सिद्धान्तों का गठन हो चुका था। रुद्रदामन् की विद्वत्ता के विषय में लिखा है कि वह स्फुट लघु, मधुर, चित्र, कान्त शब्दवाले, उदार तथा अलंकृत गद्य-पद्य की रचना से परिचित था—'स्फुटलघुमधुर-चित्रकान्त-शब्दसमयोदारालंकृत—गद्य-पद्य—स्पष्टतः ओज गुणविशिष्ट तथा अलंकृत गद्य का एक सरस अंश है। गद्य के अतिरिक्त पद्यात्मक रचनायें भी कम सौन्दर्यपूर्ण तथा रसमय नहीं होती थीं। वत्सभट्टि का कुमारगुप्त के समय में ५२९ मालव संवत् (४७३ ई०) में लिखित मन्दसोर शिलालेख इसका स्पष्ट प्रमाण है। यह कवि वैदर्भी रीति का आश्रय लेकर सरसकाव्य के विरचन में सिद्धहस्त है। वह कालिदास

इसका खण्डन

---

१ Renaissance Theory.

के मेघदूत से अवश्य परिचित है क्योंकि उसके इस श्लोक में उत्तरमेघ के प्रथम श्लोक की स्पष्ट छाया है।

चलत्पताकान्यबलासनाथान्यत्यर्थशुक्लान्यधिकोन्नतानि।
तडिल्लताचित्रसिताभ्रकूट–तुल्योपमानानि गृहाणि यत्र ॥ १० ॥

मेघदूत—

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्ध-गम्भीरघोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रसादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥

यह प्रशस्ति नाना छन्दों में निबद्ध ४४ पद्यों में है। दशपुर का वर्णन कवित्वपूर्ण है और काव्यकला के विकास का पर्याप्त बोधक है। इस प्रकार ईस्वी सन् की आदिम पाँच शताब्दियों की काव्य रचना में वही शैली मिलती है, वही वर्णनपद्धति अपनी झाँकी दिखलाती है, वही रसमय पदविन्यास अपना सज्जुल रूप दर्शाता है जिसे हम संस्कृत के माननीय काव्यों में देखने के अभ्यस्त हैं। सूर्य का वर्णन नितान्त भव्य है—

यः प्रत्यहं प्रतिविभात्युदयाचलेन्द्र—
विस्तीर्णतुङ्गशिखरस्खलितांशुजालः।
क्षीबाङ्गनाजनकपोलतलाभिताम्रः
पायात् स वः सुकिरणाभरणो विवस्वान् ॥

अधिक वृष्टि के कारण जब नदियाँ अपने किनारों से ऊपर होकर बहने लगीं तब कवि को प्रतीत होता है कि पर्वत मानों अपने मित्र समुद्र की ओर अपना नदीमय हाथ फैला रहा था—

अनेकतीरान्तजपुष्पशोभितो
नदीमयो हस्त इव प्रसारितः।

हरिषेण के शब्दों में समुद्रगुप्त की विजय प्रशस्ति से मण्डित यह स्तम्भ भूमि का बाहु प्रतीत होता है जो देवताओं से राजा की विमल कीर्ति के भ्रमण की सुन्दर कहानी कहने के लिए ऊपर उठा हुआ है—कीर्तिमितस्त्रिदशपतिभवनगमनावाप्त—ललितसुखविचरणामाच—चाण इव भुवो बाहुरयमुच्छ्रितः स्तम्भः ।

जिस युग में इतनी कोमल कल्पना को प्रश्रय देने वाली कविता की रचना होती हो, उसे 'कविता की निशा' बतलाना कहाँ तक औचित्य-पूर्ण है ? इसकी विशेष मीमांसा अपेक्षित नहीं ।

महाकाव्य का अभ्युदय

१ कालिदास

अस्पृष्टदोषा नलिनीव दृष्टा, हारावलीव ग्रथिता गुणौघैः ।
प्रियाङ्कपालीव विमर्दहृद्या न कालिदासादपरस्य वाणी ॥
श्रीकृष्ण कवेः ।

कौन ऐसा संस्कृतज्ञ होगा जिसने महाकवि कालिदास का नाम न सुना हो ? इनकी कीर्ति-कौमुदी भारतीयों के मानस में ही आनन्द की लहरी नहीं उठाती बल्कि पश्चिमी जगत् के तप्त हृदयों को भी अपनी सरसता तथा आध्यात्मिकता से तृप्त करती है । कालिदास सरस्वती की उज्ज्वल मणिमाला के मध्यमणि (सुमेरु) हैं । नाट्यकला की सुन्दरता निरखिये, महाकाव्य की सरस छटा देखिये अथवा गीतिकाव्य के हृदयावर्जक पदों को पढ़िये, कालिदास में वह आश्चर्य-जनक चमत्कार है जो विश्व को चकाचौंध कर रहा है । उनकी कविता में स्वाभाविकता, सरसता तथा आध्यात्मिकता का अपूर्व सम्मिलन है । सच तो यह है कि कालिदास भारत के कवि न होकर विश्व के इने गिने कवियों में से हैं जिनकी

कविता का आस्वाद संसार के शिष्ट तथा सभ्य पुरुष किसी न किसी भाषा के माध्यम के द्वारा ले रहे हैं।

समय-निरूपण

कालिदास का जीवन-चरित किंवदन्तियों का विषय है। उनके पिता, माता की बात तो दूर रहे उनकी जन्मभूमि का भी पता नहीं चलता। कोई उन्हें काश्मीर का निवासी बतलाता है तो कोई बङ्गाल का। कोई उन्हें विदर्भवासी मानता है जो कोई मेघदूत में विशेष आग्रह तथा आदर दिखलाने के कारण उज्जयिनी को उनकी जन्मभूमि मानता है। उनके स्थिति-काल की भी यही दशा है। कालिदास ने शुङ्गवंशी राजा अग्निमित्र को अपने 'मालविकाग्निमित्र' का नायक बनाया है। अतः वे ईस्वी पूर्व द्वितीयशतक के अनन्तर अवश्य हुए। इधर सप्तम शतक में बाणभट्ट ने कालिदास की कविता की प्रशंसा की है[1]। इन्हीं दोनों छोरों के बीच में कालिदास का समय कहीं होना चाहिये। कुछ लोग कालिदास का समय छठीं शताब्दी मानते थे। ऐसे लोगों में डाक्टर हार्नली मुख्य हैं जिनकी सम्मति में महाराज यशोधर्मन् जिसने कारूर की लड़ाई में हूणवंश के प्रतापी राजा मिहिरकुल को परास्त किया था कालिदास के विक्रमादित्य हैं। पर अधिकांश देशी तथा विदेशी विद्वान कालिदास को गुप्त नरेशों के समय में रखते हैं। के० बी० पाठक ने कालिदास को स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन माना है क्योंकि कालिदास ने रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में वंक्षु नदी' (आक्सस, वर्तमान आमूदरया जो अरल के समुद्र में गिरती है) के किनारे रघु के द्वारा

१ निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥

हूणों के हराये जाने का वर्णन किया है[1]। अधिकांश विद्वान् चन्द्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य' के राज्यकाल में कालिदास को मानते हैं। उनका कहना यह है कि गुप्तकाल में अन्य कलाओं के उदय के साथ काव्य कला का भी चरम उत्कर्ष हुआ था। शकारि 'विक्रमादित्य' की उपाधि इसके पहले किसी अन्य राजा ने ग्रहण नहीं की थी। रघुवंश में वर्णित सामाजिक दशा गुप्तकाल की सुव्यवस्था तथा शासन से मिलती है। इतना ही नहीं, कालिदास ने रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में रघु के दिग्विजय का जो प्रशस्त वर्णन किया है वह गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के दिग्विजय की छाया पर है। परन्तु इस मत में भी विद्वानों को आस्था नहीं है।

विक्रम की ऐतिहासिकता

ऐतिहासिक खोज से ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी में शकों को परास्त करने वाले, विद्वानों को विपुल दान देने वाले उज्जयिनी नरेश राजा विक्रमादित्य के अस्तित्व का पता चलता है। हाल की "गाथासप्तशती"[2] में (रचनाकाल प्रथम शताब्दी) विक्रमादित्य नामक एक प्रतापी तथा उदार शासक का निर्देश है जिसने शत्रुओं पर विजय पाने के उपलक्ष्य में भृत्यों को लाखों का उपहार दिया था। जैन ग्रन्थों से इस बात की पर्याप्त पुष्टि होती है। मेरुतुङ्गाचार्य विरचित "पद्यावली" से पता चलता है कि उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शकों से उज्जयिनी का राज्य लौटा दिया था। यह घटना महावीर निर्वाण के ४७०वें वर्ष में (५२७—४७० = ५७ ईस्वी पूर्व) हुई थी। इसकी पुष्टि प्रबन्धकोश तथा शत्रुञ्जय माहात्म्य से होती है।

---

१ विनीताध्वश्रमास्तस्य वंक्षुतीर—विचेष्टनैः
दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धान् लग्नकुंकुमकेसरान्। रघु ४।६७

२ संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खम्
चलणेण विक्कमाइत्त चरिअं अणुसिक्खिअं तिस्सा॥
—गाथा सप्तशती ५।६४

प्राचीन काल में 'मालव' नामक गणों का विशेष प्रभुत्व था। ईस्वी पूर्व तृतीय शतक में इसने क्षुद्रक गण के साथ सिकन्दर का सामना किया था, पर विशेष सहायता न मिलने से पराजित हो गया था। यही मालव जाति ग्रीक लोगों के सतत आक्रमण से पीड़ित होकर राजपूताने की ओर आई और मालवा में ईस्वी पूर्व प्रथम-द्वितीय शताब्दी में अपना प्रभुत्व जमाया। यह गणराज्य था और विक्रमादित्य इसी गणतन्त्र के मुखिया थे। शकों के आक्रमण को विफल बनाकर विक्रम ने 'शकारि' की उपाधि धारण की और अपने मालवगण को प्रतिष्ठित किया। इसीलिए इस संवत् का 'मालवगण स्थिति' नाम पड़ा था[1]। गणराज्य में व्यक्ति की अपेक्षा समाज का विशेष महत्त्व होता है। अतः यह संवत् गणमुख्य के नाम पर ही अभिहित न होकर गण के नाम पर मालव संवत् कहलाता था। अतः ई० पू० प्रथम शतक में विक्रम नामधारी राजा या गणमुखिया का परिचय इतिहास से भलीभाँति लगता है। इन्हीं की सभा में कालिदास को मानना सर्वथा न्यायसंगत है।

कालिदास और अश्वघोष

बौद्ध कवि अश्वघोष का समय निश्चित है। कुषाण नरेश कनिष्क के समकालीन होने से उनका समय ईस्वी सन् प्रथम शताब्दी का उत्तरार्ध है। इनके तथा कालिदास के काव्यों में अत्यधिक साम्य है। कथानक की सृष्टि, वर्णन की शैली, अलंकारों का प्रयोग, छन्दों का चुनाव—आदि अनेक विषयों में कालिदास का प्रभाव अश्वघोष पर पड़ा है। अश्वघोष प्रधानतः सर्वास्तिवादी दार्शनिक थे। उनकी काव्य की ओर अभिरुचि का

---

१ मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये।
त्रिनवत्यधिकेऽब्दानामृतौ सेव्यघनस्वने ॥३४॥
—वत्सभट्टिः मन्दसोर शिलालेख

होना तथा उसे धर्मप्रचार का साधन मानना काव्यकला के उत्कर्ष का उद्योत है[1]। और यह उत्कर्ष कालिदास के प्रभाव का ही फल है। बुद्धचरित में अश्वघोष ने कालिदास के बहुत से श्लोकों का अनुकरण किया है[2]। रघुवंश के ७वें सर्ग में (श्लोक ५-१५) कालिदास ने स्वयम्वर से लौटने पर अज से देखने के लिए आने वाली उत्सुक स्त्रियों का बड़ा ही अभिराम वर्णन किया है। अश्वघोष ने बुद्ध चरित में (तृतीय सर्ग, १३-२४ पद्य) ठीक ऐसे ही प्रसंग का वर्णन किया है। कुमार-सम्भव में ये ही पद्य मिलते हैं। यदि कालिदास ने इसे अश्वघोष के अनुकरण पर लिखा होता, तो वे दो बार प्रदर्शन कर अपना ऋण नितान्त अभिव्यक्त न कर उसे छिपाने का प्रयत्न करते। कालिदास की

---

१ इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भाकृतिः
श्रोतॄणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात् कृता।
यन्मोक्षात् कृतमन्यदत्र हि मया तत् काव्यधर्मात् कृतं
पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति।
—सौन्दरनन्द १८।६३

२ कालिदास
तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम्।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन्॥
अश्वघोष —रघु ७।११
वातायनेभ्यस्तु विनिःसृतानि परस्परोपासितकुण्डलानि।
स्त्रीणां विरेजुर्मुखपङ्कजानि सक्तानि हर्म्येष्विव पंकजानि।
—बुद्धचरित ३।१९
दोनों काव्यों की तुलना के लिए द्रष्टव्य नन्दरगीकर रघुवंश की भूमिका पृ० १६३—१९५। K. Chattopadhyaya : Date of Kalidasa

भाव-सुन्दरता अश्वघोष के द्वारा सुरक्षित न रह सकी। तुलना करने से कालिदास का समय अश्वघोष से प्राचीन प्रतीत होता है। अतः कालिदास का समय ईस्वीपूर्व प्रथम शतक में ही मानना नितान्त युक्तियुक्त है।

ग्रंथ

कालिदास के काव्यग्रन्थ ये हैं—(१) ऋतुसंहार। इस काव्य में छहों ऋतुओं का वर्णन किया गया है। इसमें ६ सर्ग हैं और प्रत्येक सर्ग में एक ऋतु का वर्णन है।

ग्रन्थ (२) कुमारसम्भव अठारह सर्ग उपलब्ध होते हैं परन्तु आरम्भ के आठ सर्ग ही कालिदास की रचना हैं। मल्लिनाथ की संजीवनी भी इन्हीं सर्गों पर है तथा इन्हीं सर्गों के श्लोक अलङ्कार-ग्रन्थों में उदाहरणरूप में उद्धृत किये गये हैं। इसमें पार्वती का जन्म, मदन दहन, रति विलाप, पार्वती तपश्चर्या, शिवपार्वती का विवाह तथा सुरतिका वर्णन क्रमशः हैं। साहित्य की दृष्टि से कुमारसम्भव की बड़ी महत्ता है। कार्तिकेय (कुमार) के जन्म का वर्णन करने से इसका नाम कुमारसम्भव पड़ा है।

(३) मेघदूत—यह एक विख्यात खण्डकाव्य है जिसमें धनपति कुबेर के कोप से निर्वासित किसी अलकावासी यक्ष ने अपनी प्राणवल्लभा के पास मेघ को दूत बनाकर भेजा है। इसके दो खण्ड हैं—पूर्वमेघ और उत्तरमेघ। पूर्वमेघ में भारतवर्ष की चमत्कारपूर्ण भव्य कल्पना है। उत्तरमेघ में अलका के वर्णन के अनन्तर मेघ का प्रेमसन्देश है।

(४) रघुवंश—कालिदास का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। इसमें १९ सर्ग हैं। दिलीप से आरम्भ कर अग्निवर्ण तक अनेक इक्ष्वाकुवंशी राजाओं के चरित वर्णित हैं परन्तु रघु और राम का उदात्त चरित प्रधानतया कहे

सर्गों में वर्णित है। पहले सर्ग में दिलीप का वर्णन है, तथा वसिष्ठजी के आश्रम में पुत्र के लिये जाना वर्णित है। नन्दिनी वरदान (सर्ग २), रघुजन्म (सर्ग ३), रघुदिग्विजय (सर्ग ४), कौत्स की गुरुदक्षिणा (सर्ग ५), इन्दुमती स्वयम्वर (६), अज का अन्य राजाओं से युद्ध (सर्ग ७), अज विलाप (सर्ग ८), दशरथ आखेट (सर्ग ९), रामचरित (१०—१४), अन्य राजाओं का चरित (१५—१९)— रघुवंश की यही संक्षिप्त विषयसूची है। रघुवंश में कालिदास की कविता का पूर्ण श्रृंगार शोभित होता है।

समीक्षा।

महाकवि कालिदास की कविता देववाणी का श्रृंगार है। दो सहस्र वर्षों से वह सहृदयों के हृदय को लुभाती आती है। माधुर्य का मधुर निवेश, प्रसाद की स्निग्धता, पदों की सरस शय्या, अर्थ का सौष्ठव, अलंकारों का मञ्जुल रसमय प्रयोग—जो कुछ उन्नत काव्य की विशिष्टतायें हैं वे उनके काव्यों में विद्यमान हैं। कालिदास भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि कवि हैं। उनके पात्र भारतीयता की भव्य मूर्ति हैं। उनके काव्यों के अनुशीलनमात्र से हमारे सामने वह नाना रूपात्मक वस्तु झलक उठती है जिसे 'भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति' का गौरवपूर्ण अभिधान प्रधान किया जाता है। संसार का इन्हें गहरा अनुभव था। ऐसे अनुभवों के मार्मिकपक्ष के ग्रहण करने की भावुकता इनमें अपूर्व थी। अपने उदार और ऊँचे हृदय को संसार के वास्तविक व्यवहारों के बीच रखकर जो संवेदना इन्होंने प्राप्त की है उसी की व्यञ्जना इनकी कविता में है। इनकी कविता में सच्ची मार्मिकता है। उनके भीतर से एक सच्चा कवि-हृदय झाँक रहा है। जीवन की सच्ची परिस्थितियों के मार्मिक-रूप को ग्रहण करने की क्षमता जिस कवि में होगी वही जनता का प्रिय कवि होगा-उसी की कविता लोकप्रिय होगी। कालिदास भारत के इसी-

काव्यकला

लिए लोकप्रिय कवि है। भारतीयता का सच्चा विशुद्ध रूप उनके काव्यों में तथा नाटकों में झाँक रहा है।

कालिदास प्रकृतिदेवी के प्रवीण पुरोहित थे। उनकी सूक्ष्म दृष्टि ने प्रकृति के सूक्ष्म रहस्यों को सावधानता से हृदयंगम किया था। इनके प्राकृतिक वर्णन इतने सजीव हैं कि वर्णित वस्तु हमारे नेत्रों के सामने नाच उठती है। बाह्य प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करना तथा उनका मार्मिक अंश ग्रहण करना कालिदास की महत्ती विशेषता है। मनुष्य तथा प्रकृति—दोनों का मञ्जुल सम्पर्क तथा अद्भुत एकरसता दिखाकर कवि ने प्रकृति के भीतर स्फुरित होनेवाले हृदय को पहचाना है। भारतीय प्राकृतिक वर्णनों में एक विचित्रता है। पाश्चात्य कवियों के वर्णन प्रायः आवरणहीन होते हैं, परन्तु संस्कृत कवियों के वर्णन अलंकृत होते हैं—ये महाकवि प्रकृति को सुन्दर अलंकारों से सजाकर पाठकों के सामने लाते हैं। कालिदास के वर्णन नितान्त सूक्ष्म, सुन्दर तथा संश्लिष्ट रूप में होते हैं। मेघदूत भारतीय कवि की अद्भुत प्रतिभा के द्वारा चित्रित भारतश्री का एक नितान्त सरस चित्रण है। 'ऋतु संहार' में समस्त ऋतु अपने विशिष्ट रूप में प्रस्तुत होकर पाठकों का मनोरञ्जन करते हैं। रघुवंश के प्रथम सर्ग (४९–५२ पद्य) में तपोवन का तथा त्रयोदश में त्रिवेणी का सुन्दर वर्णन कल्पना के साथ निरीक्षण शक्ति का मञ्जुल सामरस्य है। झरनों के जलकणों में सूर्यकिरण पड़ने पर कालिदास की दृष्टि इन्द्रधनुषों का साक्षात्कार करती है।[1] वसन्त में मलयानिल से विकम्पित लतायें स्मित मुखवाली नर्तकियों का दृश्य उपस्थित करती हैं। प्रकृति के साथ एकरस होकर कालिदास का हृदय रमता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। तपोवन की यह शोभा कितनी पावन है—

प्रकृतिवर्णन

१ शीकरव्यतिकरं मरीचिभिर्दूरयत्यवनते विवस्वति।
इन्द्रचापपरिवेषशून्यतां निर्झरास्तव पितुर्व्रजन्त्यमी॥
कुमार ८।३१

वनान्तराद्रुपावृत्तैः समित्कुशफलाहरैः ।
पूर्यमाणमदृश्याग्निप्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः ॥
आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः ।
अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः ॥
सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झित वृक्षकम् ।
विश्वासाय विहंगानामालवालाम्बुपायिनाम् ॥
आतपात्ययसंक्षिप्तनीवारासु निषादिभिः ।
मृगैर्वर्तितरोमन्थमुटजांगणभूमिषु ॥
अभ्युत्थिताग्निपिशुनैरतिथीनाश्रमोन्मुखान् ।
पुनानं पवनोद्धूतैर्धूमैराहुतिगन्धिभिः ॥

—रघु, प्रथमसर्ग ४९।५३

भावार्थ—दिन को ऋषिगण इन्धन के लिये जंगल में गये थे। सायंकाल वे लोग समिधा, फूल, फल तथा कुश लेकर दूसरे जंगलों से लौटे आ रहे हैं; उन्हें स्वागत करने के लिये अग्नि स्वयं आगे जाते हैं; इन आहिताग्नि ऋषियों से वसिष्ठ का वह आश्रम भर रहा था। ऋषियों की पर्णशालाओं के द्वार को मृग रोक कर बैठे हुये हैं; ज्ञात होता है कि ये ऋषिपत्नियों की सन्तान हों। क्यों न हों? ऋषिगण नीवार का कुछ अंश इन्हें भी दिया करते हैं। अतः इन पर ऋषियों का सन्तान के समान ही स्नेह है। मुनि-कन्यायें वृक्षों को घड़ों से सींच रही हैं। पेड़ों पर बैठे हुये पक्षी वृक्षों के आलवाल में जल पीना चाहते हैं, अतः मुनिकन्यायें उन छोटे छोटे वृक्षों को छोड़कर चली जा रही हैं जिससे वे पक्षी विश्वासपूर्वक आनन्द से जल पी लें। अहा, ऋषिकुटियों की आँगनों की कैसी शोभा है! ग्रीष्म के बीत जाने पर ऋषियों ने नीवार काट कर इन आँगनों में इकट्ठा किया है; इनमें बैठ कर मृग जुगाली कर रहे हैं। धन्य है इन जंगली जीवों का विश्वास तथा इन ऋषियों का विश्वप्रेम! अग्नि में होम किये गये हैं। इनके धूम से सुरभित वायु

इधर-उधर बिखर रही है; उस आश्रम की ओर आने वाले अतिथियों को अग्नि के धूम पवित्र कर रहे हैं। आश्रम का कितना वास्तविक वर्णन है। सानन्द बैठे हुये मृग, फैलता हुआ यज्ञाग्निधूम, नीवारराशि से भरा आँगन, पौधों को सींचने वाली ऋषि—कन्यायें हमारी आँखों के सामने जीवित सी जान पड़ती हैं।

रघुवंश के नवम सर्ग में कविवर ने वसन्त का बड़ा ही मनोरञ्जक वर्णन किया है। पवन से हिलाई गई लता कैसी नाच रही है :—

श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो बभुः।
उपवनान्तलता पवनाहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः॥
रघु० ९-३५।

उपवन में लताएँ नाच रहीं हैं। भ्रमर की सुनने में रमणीय गुंजार गान की भाँति मालूम होती है; विकसित फूल कोमल कांति वाले चमकते दाँत हैं। जैसे गाते समय नर्तकी के दाँत स्फुट दिखाई पड़ते हैं उसी तरह लता के विकसित कुसुम रमणीय जान पड़ते हैं। उनके कोमल पत्ते वायु से हिल रहे हैं, मानों वे लय से युक्त हाथों से भाव बतला रही हों। लता तथा नर्तकी का साम्य कितना सुन्दर है!

उपमा का पूर्ण सौन्दर्य उनकी कविता में है। वे उपमा के सम्राट् ठहरे। "उपमा कालिदासस्य" की उक्ति पण्डितों की जिह्वा पर नाचती है। अनुरूपता, सरसता तथा अपूर्वता की दृष्टि में ये बेजोड़ हैं। अन्ध मुनि के शाप को (जो वस्तुतः अभिशाप होते हुए भी वरदान था) कालिदास ने कितनी सुन्दर उपमा के द्वारा अभिव्यक्त किया है—

शापोऽप्यदृष्टतनयानन—पद्मशोभे,
सानुग्रहो भगवता मयि पातितोऽयम्।
कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो,
बीजप्ररोहजननीं ज्वलनः करोति॥

वे मानव हृदय के कोमल भावों के मर्म जानने वाले हैं। उन्होंने अपनी कोमल शब्दतूलिका के द्वारा उनका मनोरम चित्र प्रस्तुत किया है। इन्दुमती के मरने पर महाराज अज के विलाप तथा काम के दहन होने पर रति के विलाप को पढ़कर रसिकों का हृदय आसुओं के रूप में उमड़ पड़ता है। फिर भी कालिदास को पंडित समाज शृङ्गार रस का कवि मानता है। मानवीय सौन्दर्य में तथा नैसर्गिक चारुता में कालिदास का हृदय इतना रमा है कि उनकी कविता शृङ्गार से स्निग्ध है तथा विप्रलम्भरस से आप्लुत हैं। छोटे छोटे शब्दों के द्वारा सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति महाकवि की अपनी विशेषता है। इसीलिए बाणभट्ट को रस से भरी, मधुरिमा से पगी हुई कालिदास की सूक्तियों में आम्रमञ्जरी का आनन्द मिलता है—

> निर्गतासु न वा कस्य कालिदास्य सूक्तिषु।
> प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥

कालिदास के पात्रों का चरित्र भारतीयों के लिये आदर्शभूत है। देवता और ब्राह्मण में भक्ति, गुरुवाक्य में अटल विश्वास, मातृरूपिणी धेनु की परिचर्या, अतिथि की इष्ट-पूर्ति के लिये राजा का सर्वस्वदान, लोकानुरञ्जन के लिये अपनी प्रायोपमा धर्मपत्नी का त्याग—कालिदास के पात्रों में सर्वत्र देदीप्यमान हैं। कालिदास का समाज श्रुतिस्मृति की पद्धति पर निर्मित समाज है।

कालिदास का संदेश

वह त्याग के लिये धन इकट्ठा करता है, सत्य के लिये परिमित भाषण करता है, यश के लिये विजय की कामना रखता है तथा सन्तान की इच्छा के लिये गृहस्थी जमाता है। वे धर्म के अविरोधी काम के पक्षपाती थे। जो काम हमारे कर्तव्यों के साथ संघर्ष मचाता है, वह नितान्त हेय है। हमारे लिए कालिदास का एक महान् सन्देश है जो तीन तकारादि शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है—त्याग, तपस्या और तपोवन। तपोवन में पली सभ्यता ही मानवों का सच्चा मंगल कर

सकती हैं। क्षुद्र स्वार्थ का निवारण त्याग से होता है और सच्ची उन्नति तपस्या के बल पर हो सकती है। मानव जीवन का उद्देश्य संसार में आकर विषयों का दास बनना नहीं है, प्रत्युत भगवान् की सच्ची भक्ति कर तथा योग का साधन कर आत्मा के दर्शन में ही है। इस प्रकार कालिदास के महाकाव्य कोमल कला की दृष्टि से ही रोचक नहीं हैं, प्रत्युत आध्यात्मिकता की दृष्टि से भी उपादेय हैं। इसका मूल कारण यही है कि कालिदास भारतीय कला के ही सर्वश्रेष्ठ कलाकार नहीं है, बल्कि भारतीय संस्कृति के भी प्रतीक हैं।

२ अश्वघोष

अश्वघोष बुद्धधर्म के प्रधान आचार्यों में अन्यतम हैं। ये पहले ब्राह्मण थे तथा साकेत (अयोध्या) के निवासी थे। इनकी माता का नाम सुवर्णाक्षी था। बचपन में इन्हें वैदिकधर्म की शिक्षा दी गई थी परन्तु पार्श्व के शिष्य आचार्य पूर्णयश ने इन्हें बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। महाराज कनिष्क के समय में जो बौद्ध संगीति (सभा) संगठित की गई थी उसका संचालन अश्वघोष की अध्यक्षता में हुआ था। ये सर्वास्तिवादी दार्शनिक थे परन्तु ये कवि भी उच्च कोटि के थे। सुनते हैं कि इनके व्याख्यान इतने मधुर, रोचक तथा आकर्षक होते थे कि हिनहिनाता हुआ घोड़ा भी अपनी आवाज बन्द कर उसे प्रेम से सुनने लगता था। इनके 'अश्वघोष' नाम का यही रहस्य बतलाया जाता है। कनिष्क के सभापण्डित होने से इनका समय ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी है।

इनके दो महाकाव्य उपलब्ध होते हैं— बुद्धचरित और सौन्दरनन्द। बुद्धचरित में गौतमबुद्ध का जीवन चरित बड़े विस्तार से वर्णित है। यह महाकाव्य २८ सर्गों में लिखा गया था पर आजकल केवल १४ सर्ग ही मिलते हैं। ४०४ ईस्वी के आसपास चीन की भाषा में तथा ८०० ई० के आसपास तिब्बती भाषा में इसका अनुवाद किया गया था जो आज

भी उपलब्ध है। सौन्दरनन्द महाकाव्य में गौतम के अनुज सुन्दरनन्द के बौद्धधर्म में दीक्षित होने का रोचक वर्णन है। यह महाकाव्य १८ सर्गों में समाप्त हुआ है।

अश्वघोष की कविता-शैली सरस वैदर्भी है। स्वाभाविकता की वह खान है और कृत्रिमता से कोसों दूर है। माधुर्य तथा प्रसाद इसमें कूट-कूट कर भरे हुए हैं। रस परिपाक भी खूब है।

प्रसादगुण की महिमा अवलोकनीय है जिससे इनकी कवितायें समझने तथा हृदयंगम करने में देर नहीं लगती। इनके महाकाव्य लिखने की प्रवृत्ति का मुख्य उद्देश्य बौद्धधर्म में सिद्धान्तों का रोचक भाषा में प्रतिपादन है। हम कह सकते हैं कि कवि अपने इस उच्च उद्देश्य में भलीभाँति सफल हुआ है। अश्वघोष ने रूखे-सूखे दार्शनिक तत्त्वों को घरेलू परिचित दृष्टान्तों के द्वारा बड़ी सुबोध भाषा में अभिव्यक्त किया है। निर्वाण के तत्त्व का उपदेश दीपक के दृष्टान्त से बड़ा ही चित्ताकर्षक हो गया है—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चित् विदिशं न काञ्चिद्
स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित्
क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥

अश्वघोष को मानव हृदय की सच्ची परख थी। सुन्दरनन्द के विरह में उसकी पत्नी सुन्दरी का वर्णन उच्चकोटि की प्रतिभा का फल है। रसों का मनोहर सन्निवेश है। शृङ्गार का सौन्दर्य भी है। करुण अपने उत्कट वेग से सहृदयों को द्रवीभूत करता है। परन्तु इन सबसे अधिक शान्तरस

की भव्यमूर्ति इन काव्यों में हमें आह्लादित करती है। अश्वघोष की उपमायें बड़ी सुन्दर हैं। कालिदास की छाया होने पर भी उनका सौन्दर्य कम चित्तावर्जक नहीं है। कालिदास के "न ययौ न तस्थौ" (कुमार—५।८५) को अश्वघोष ने भी अपनाया है—

तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष।
सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ तरंस्तरङ्गेष्विव राजहंसः॥

सौन्दरनन्द ४।४२

सुन्दरनन्द का मन अपनी सुन्दरी की ओर इतना आसक्त था कि हजारों प्रयत्न करने पर भी वह संन्यासमार्ग में दृढ़ नहीं होता था। संन्यासी को गृह की ओर मुड़ने का अनौचित्य बताते समय अश्वघोष ने बड़ी सुन्दर कविता लिखी है। काव्यकला की दृष्टि से सौन्दरनन्द का यह अंश नितान्त उत्कृष्ट है :—

कृपणं बत यूथलालसो महतो व्याधभयाद् विनिःसृतः।
प्रविवत्सति वागुरां मृगश्चपलो गीतरवेण वञ्चितः॥

जिस चपल मृग ने व्याध के बड़े भारी संकट से अपने को अभी दूर हटाया है, वह गीत की ध्वनि से वञ्चित होकर—फिर भी विषय जाल में फँस जाना चाहता है।

कलभः करिणा खलूद्धृतो बहुपंकाद् विषमान्नदीतलात्।
जलतर्षवशेन, तां पुनः सरितं ग्राहवतीं तितीर्षति॥

संसार से हटकर फिर संसार में प्रवेश करने वाले पुरुष की दशा उस कलभ—हाथी के बच्चे—के समान होती है जिसे हाथी ने बहुत पंक वाली भयंकर नदी के तल से बाहर निकाला है, परन्तु जो प्यास के मारे उसी ग्राहवाली नदी को फिर पार करना चाहता है।

अश्वघोष करुण के वर्णन में भी अतीव दक्ष हैं। दोनों महाकाव्यों में करुण को उद्दीप्त करने वाले प्रसंग अनेक हैं— नन्द की

पत्नी सुन्दरी का अपने पति के प्रव्रज्या ग्रहण करने पर विलाप, पत्नी के लिये नन्द का शोक, सिद्धार्थ के अभिनिष्क्रमण के अवसर पर यशोधरा, माया तथा शुद्धोदन का विलाप। इस प्रकार अश्वघोष ने अपनी काव्य-तूलिका से अनेक रसमय प्रसङ्गों का अभिराम चित्रण किया है। वे वाल्मीकि तथा कालिदास के काव्यों के मर्मज्ञ तथा गाढ़ अनुशील कर्ता हैं।

३ भर्तृमेण्ठ

यः कश्चिदालेख्यकरः कवित्वे प्रसिद्धनामा भुवि भर्तृमेण्ठः।
रसप्लवेऽपि स्फुरति प्रकामं वर्णेषु यस्योज्ज्वलता तथैव॥
—सोड्ढलस्य

भर्तृमेण्ठ का हाल कह्लणपण्डित की राजतरंगिणी में मिलता है। सुनते हैं कि भर्तृहरि हाथीवान थे क्योंकि 'मेण्ठ' शब्द का अर्थ संस्कृत में हाथीवान होता है। इसी कारण सूक्तिग्रन्थों में 'हस्तिपक' के नाम से जो पद्य मिलते हैं, उन्हें पण्डितों ने इसी कवि की रचना बताया है। धनपाल का पद्य इनकी प्रशंसा में यों है—

जीवनवृत्त

वक्रोक्त्या मेण्ठराजस्य वहन्त्या सृणिरूपताम्।
आविद्धा इव धुन्वन्ति मूर्धानं कविकुञ्जराः।

भावार्थ यह है कि जिस प्रकार हाथी महावत के अंकुश की चोट खाकर व्यथित हो सिर हिलाये बिना नहीं रहता, उसी प्रकार मेण्ठराज की वक्रोक्तियाँ सुनकर कौन ऐसा सहृदय कवि है जो मर्मविद्ध हो आनन्द से अपना मस्तक नहीं हिलाता।

कह्लण पण्डित ने लिखा है कि भर्तृमेण्ठ ने 'हयग्रीववध' नामक महाकाव्य की रचना की। किसी गुणग्राही राजा के यहाँ आश्रय पाने की लालसा से इधर-उधर घूमकर काश्मीर पहुँचे। उस समय काश्मीर के राजा

मातृगुप्त थे जो स्वयं एक बहुत ही अच्छे कवि थे ! अपना काव्य लेकर कवि मातृगुप्त के दरबार में गये। वहाँ अपनी मनोहर कविता, राजा की आज्ञा पाकर, सुनाने लगे। परन्तु इधर काव्य की समाप्ति हो चली, उधर काव्य के भले या बुरे होने के बारे में मातृगुप्त ने कुछ भी नहीं कहा। राजा के इस मौनावलम्बन से कवि अत्यन्त दुःखित हुये और उन्होंने इसे अपनी कविता का निरादर समझा। राजा में इस सरस महाकाव्य के गुण समझने की योग्यता का सर्वथा अभाव जानकर कवि जी पुस्तक को वेष्टन में बाँधने लगे, परन्तु राजा मातृगुप्त ने पुस्तक के नीचे सोने की थाली इसलिये रखवा दी कि कहीं लावण्य ज़मीन पर टपक कर नष्ट न हो जाय—काव्यरस चूकर पृथ्वी पर गिर न पड़े। राजा की इस सहृदयता तथा गुणग्राहकता से भर्तृमेण्ठ अत्यन्त आह्लादित हुये—इसे ही उन्होंने अपना पूरा सत्कार समझा और राजा के द्वारा पुरस्कार के रूप में दी गई सम्पत्ति को पुनरुक्त के समान माना[1]।

बहुत सम्भव है कि ये मातृगुप्त के सभा-पण्डित हो गये हों और कश्मीर में अपने दिन बिताये हों।

कविवर राजशेखर के उल्लेख से जान पड़ता है कि भर्तृमेण्ठ ९०० ईस्वी के पहले ही होंगे। राजतरंगिणी के आधार पर भर्तृमेण्ठ और मातृगुप्त की समसामयिकता सिद्ध होती है। कल्हण के कथनानुसार

१ हयग्रीववधं मेण्ठस्तदग्रे दर्शयन् नवम्।
आसमाप्ति ततो नापत् साध्वसाध्विति वा वचः ॥
अथ ग्रन्थयितुं तस्मिन् पुस्तके प्रस्तुते न्यधात्।
लावण्यनिर्याणभिया राजाधः स्वर्णभाजनम् ॥
अन्तरज्ञतया तस्य तादृश्या कृतसंस्कृतिः।
भर्तृमेण्ठः कविर्मेने पुनरुक्तं श्रियोऽर्पणम् ॥
—राजतरंगिणी, तृतीय तरंग (२६४–२६६)

समय मातृगुप्त ने पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में (४३० ई० के आस-पास) कश्मीर देश पर शासन किया। अतः कविवर भर्तृमेण्ठ का भी वही समय—पाँचवीं सदी का पूर्वभाग—समझना चाहिये।

ऊपर कहा गया है कि कवि ने 'हयग्रीववध' की रचना की। यही इनकी एकमात्र रचना जान पड़ती है। दुर्भाग्यवश यह महाकाव्य अभी तक कहीं भी उपलब्ध नहीं हुआ है। कहीं-कहीं सूक्ति-संग्रहों

ग्रन्थ तथा रीतिग्रन्थों में उद्धृत श्लोक ही इस अनुपम महाकाव्य के अवशिष्ट अंश हैं; परन्तु ये इतने थोड़े हैं कि इनसे पूरे महाकाव्य के गुण-दोषों का विवेचन नहीं किया जा सकता। नाम से प्रतीत होता है कि इस महाकाव्य में विष्णु भगवान् के द्वारा हयग्रीव के वध का वृत्तान्त दिया गया है। मम्मटाचार्य ने अपने काव्य-प्रकाश के सप्तम उल्लास में रस के दोषों को दिखाते हुए 'अंगस्याप्यति-विस्तृतिः' नामक दोष माना है। अंगी—मुख्यपात्र का ही विस्तार से वर्णन काव्य में अभीष्ट होता है; परन्तु यदि ऐसा न कर अंग—अमुख्य पात्र—का विस्तार किया जाय तो साहित्यिक दृष्टि से इसे दोष समझना चाहिये। इसी दोष के उदाहरण में मम्मट ने 'हयग्रीववध' का नाम लिया है। इस महाकाव्य में नायक—अंगी—विष्णु भगवान् हैं; प्रति-नायक—अंग—हयग्रीव है; परन्तु कवि ने नायक के वर्णन की अपेक्षा प्रतिनायक का ही विस्तार के साथ वर्णन किया है। उचित तो यह था कि प्रधान पात्र का विस्तृत वर्णन किया जाय, प्रतिनायक का कम। इस औचित्य के परित्याग करने से 'हयग्रीववध' में पूर्वोक्त रस-दोष आ गया है; मम्मट के कथन का यही सारांश है।

भर्तृमेण्ठ संस्कृत के एक प्रतिभाशाली कवि थे। बाल रामायण में

कविता राजशेखर ने अपने विषय में लिखते समय भर्तृमेण्ठ का नामोल्लेख किया है:—

बभूव वल्मीकभवः पुरा कविस्ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम् ।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः ॥

राजशेखर का कहना है कि बहुत पहिले वाल्मीकि कवि हुये; फिर वही संसार में भर्तृमेण्ठ के रूप में आये; अनन्तर भवभूति के रूप में फिर आ विराजे। वे ही आदि-कवि वाल्मीकि आजकल राजशेखर हैं। राजशेखर की इस प्रशंसा से भर्तृमेण्ठ उच्च कोटि के कवि प्रतीत होते हैं। आश्चर्य की बात है कि राजशेखर ने वाल्मीकि तथा भवभूति के मध्यवर्ती समय के प्रधानकवि का उच्च पद कालिदास को न प्रदान कर भर्तृमेण्ठ को दिया है। इससे इस महाकवि के गौरव तथा माहात्म्य का पर्याप्त परिचय मिलता है।

त्यक्तो विन्ध्यगिरिः पिता भगवती मातेव रेवा नदी।
ते ते स्नेहनिबन्धबन्धुरधियस्तुल्योदया दन्तिनः ॥
त्वल्लोभान्ननु हस्तिनि ! स्वयमिदं बन्धाय दत्तं वपुः।
त्वं दूरे भ्रियसे लुठन्ति च शिरःपीठे कठोरांकुशाः ॥
(सदुक्ति कर्णामृते)

हाथियों के पकड़ने के लिये पालतू हथिनी जंगलों में छोड़ दी जाती है। उसी के संग में हाथी अपने झुण्ड को छोड़ चला आता है और पकड़ लिया जाता है। ऐसे ही पकड़े गये हाथी का करुण क्रन्दन है :—हे हथिनी ! तुम्हारे लोभ में पड़कर मैंने पिता विन्ध्याचल को छोड़ दिया। माता के समान पालने वाली नर्मदा से विमुख हुआ। अत्यन्त स्नेही समान-वयस्क अपने बन्धुवर्ग हाथियों को भी छोड़ दिया। इतना ही नहीं, अपने प्यारे शरीर को भी बन्धन में डलवा दिया। यह सब तेरे लोभ में पड़ने से ही हुआ। आशा थी तुम्हारे संग की। परन्तु अब मैं अपनी भूल समझता हूँ। तुम तो दूर खड़ी हो और मेरे शिर पर कठोर अंकुश बरस रहे हैं। बड़ी भूल हुई !

इस प्रकार अपने दुर्भाग्य पर शोक करने वाले करिशावक को लक्ष्य कर कवि जी कह रहे हैं—

घासग्रासं गृहाण त्यज गजकलभ ! प्रेमबन्धं करिण्याः
पाशग्रन्थिव्रणानामभिमतमधुना देहि पङ्कानुलेपम् ।
दूरीभूतास्तवैते शबरवरवधूविभ्रमोद्भ्रान्तरम्या
रेवाकूलोपकण्ठद्रुमकुसुमरजोधूसरा विन्ध्यपादाः ।

ऐ हाथी के बच्चे ! हथिनी का प्रेम अब छोड़ दो । वह तो तुम्हें बन्धन में डाल कर भाग गई है । घास के ग्रास लो और तुम्हारे शरीर पर रस्सी बाँधने से जो घाव हो गये हैं उन पर कीचड़ का लेप लगाओ। अब तुम्हें विन्ध्याटवी मे फिर लौट जाने की कोई आशा नहीं । शबर सुन्दरियों के विलास से रमणीय और रेवातट पर उगने वाले वृक्षों के पुष्प-पराग से धूसर वर्ण वाले विन्ध्याचल की पहाड़ियाँ अब तुम से बहुत दूर हो गई हैं ।

अन्तिम दोनों ही पद्य कवि के हाथियों से विशेष परिचय तथा प्रेम द्योतित कर रहे हैं ।

४— भारवि

विमर्दव्यक्तसौरभ्या भारती भारवेः कवेः ।
धत्ते बकुलमालेव विदग्धानां चमत्क्रियाम् ॥

भारवि का नाम संस्कृत साहित्य में खूब प्रसिद्ध है । इनका 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य संस्कृत साहित्य के तीन महाकाव्यों (बृहत्त्रयी) में अन्यतम माना जाता है । भारवि दक्षिण भारत के रहने वाले थे । महाकवि दण्डी के चतुर्थ पूर्व पुरुष दामोदरभट्ट के साथ इनकी गहरी मित्रता थी । दक्षिण के चालुक्यवंशी नरेश विष्णुवर्धन के ये सभापण्डित थे । चालुक्यवंशी नरेश पुलकेशी द्वितीय के समय का एक शिलालेख 'ऐहोड़' नामक ग्राम के एक जैन मन्दिर में मिला है जिसमें कालिदास के साथ

भारवि का नाम निर्दिष्ट है। प्रशस्ति के रचयिता रविकीर्ति ने कविता निर्माण करने में अपने को कालिदास तथा भारवि के समान बतलाया है[1]। इस शिलालेख का समय ५५६ शाकाब्द अर्थात् ईस्वी सन् ६३४ है। इससे यह स्पष्ट है कि इस समय तक ये प्रसिद्ध हो चुके थे। इनका आश्रयदाता विष्णुवर्धन महाराज पुलकेशी द्वितीय का अनुज था और ६१५ ईस्वी के आसपास महाराष्ट्र प्रान्त में अपने भाई की आज्ञा से राज्य करता था। इस प्रकार भारवि का समय ६०० ईस्वी के आसपास प्रतीत होता है।

इनके महाकाव्य का नाम 'किरातार्जुनीय' है जिसमें १८ सर्ग हैं। कथानक महाभारत से लिया गया है। जब अर्जुन इन्द्रकील पर्वत पर अस्त्र के लिये तपस्या कर रहे थे तब किरात-वेषधारी भगवान् शंकर के साथ उनका युद्ध हुआ। इसी युद्ध का विस्तृत रोचक वर्णन इस महाकाव्य में किया गया है। किरात का आरम्भ 'श्री' शब्द से होता है और प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग किया गया है। काव्य के नेता अर्जुन हैं और उन्हीं के चरित्र का उत्कर्ष दिखलाने के लिये किरातरूपधारी शङ्कर का वर्णन किया गया है। प्रधान रस वीर है। शृङ्गारादि रस गौण हैं। स्थान-स्थान पर पर्वत सूर्यास्त तथा जलक्रीड़ा का बड़ा विस्तृत वर्णन है। पाशुपत अस्त्र का प्राप्त करना ही इस महाकाव्य का फल है[2]।

रचना

१ येनायोजि नवेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रित-कालिदास-भारविकीर्तिः॥

२ नेता मध्यमपाण्डवो भगवतो नारायणस्यांशजः
तस्योत्कर्षकृतेऽनुवर्ण्यचरितो दिव्यः किरातः पुनः।
शृङ्गारादिरसोऽङ्गमत्र विजयी वीरप्रधानो रसः
शैलाद्यानि च वर्णितानि बहुशो दिव्यास्त्रलाभः फलम्॥
—मल्लिनाथ

भारवि का काव्य अपने अर्थगौरव के लिये विवेचकों में प्रसिद्ध है। विद्वत्समाज कालिदास की उपमा के समान भारवि के अर्थगौरव पर मुग्ध है। 'भारवेरर्थगौरवम्'। अल्प शब्दों में विपुल अर्थ का सन्निवेश कर देना अर्थगौरव की पहचान है। भारवि ने अपनी कविता में इसे भली-भाँति दरसाया है। प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन भी मनोहारी है। चतुर्थ सर्ग का शरद् वर्णन तो साहित्य में बेजोड़ है। भारवि चित्रकाव्य लिखने में भी सिद्धहस्त हैं। इस कला में अपनी चातुरी दिखलाने के लिये इन्होंने एक पूरा सर्ग (१५वाँ) ही लिख डाला है जिसमें सर्वतोभद्र, यमक, विलोम के साथ-साथ एकाक्षर श्लोक भी हैं। एक में नकार के अतिरिक्त अन्य वर्ण हैं ही नहीं[1]। चित्रकाव्य तथा श्लेष के कारण यह काव्य क्लिष्ट है। इसीलिये मल्लिनाथ ने भारवि की कविता को नारिकेल फल के समान बताया है। "नारिकेलफलसंनिभं वचो भारवेः"। भारवि नीति, विशेषतः राजनीति के बड़े भारी ज्ञाता प्रतीत होते हैं। इनकी अनेक सूक्तियाँ पण्डितों की जिह्वा पर नाचती हैं। क्षेमेन्द्र ने इनके वंशस्थवृत्त की प्रचुर प्रशंसा की है[2]।

प्रकृति के मनोहर दृश्यों को भारवि ने पैनी दृष्टि से देखा था और इनका हृदय उन दृश्यों की अभिरामता में खूब रमा था। इसी से इनके प्राकृतिक वर्णनों में इतनी सजीवता दृष्टिगोचर होती है। सायंकाल का यह मनोहारी वर्णन कितना चमत्कारपूर्ण है।

मध्यमोपलनिभे लसदंशावेकतश्च्युतिमुपेयुषि भानौ।
द्यौरुवाह परिवृत्तिविलोलां हारयष्टिमिव वासरलक्ष्मीम्॥

---

१ न नोनन्नु नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेनानुन्न नुन्न नुत्॥ किरात १५।१४

२ वृत्तच्छत्रस्य सा काऽपि वंशस्थस्य विचित्रता।
प्रतिभा भारवेर्येन सच्छायेनाधिकीकृता॥

सायंकाल में जब सूर्य डूबने लगता है तब वह वर्तुलाकार बनकर पश्चिम में एक तरफ नीचे को लटक जाता है। किरणों की प्रभा ऊपर फैल जाती है। ऐसे सायंकाल की लक्ष्मी को मणिमाला के समान आकाश धारण किये हुए हैं जिस माला में डूबता हुआ सूर्य मध्यमणि (सुमेरु) है। परिवृत्तिविलोला' का औचित्यपूर्ण प्रयोग नितान्त रम्य है। मणिमाला हिला करती है और सायाह्न की लक्ष्मी भी चञ्चल होती है।

उपारताः पश्चिमरात्रगोचरादपारयन्तः पतितुं जवेन गाम्।
तमुत्सुकाश्चक्रुरवेक्षणोत्सुकं गवां गणाः प्रस्नुतपीवरौधसः॥

इस पद्य में भारवि ने सायंकाल को चरागाह से घर लौटने वाली, बछड़ों के प्रेम से दूध चुने वाले थनवाली गायों का स्वाभाविक वर्णन प्रस्तुत किया है।

कवि की विशिष्टता

भारवि का संसार का अनुभव उच्चकोटि का है। संसार के सुख दुःख की पहिचान इन्हें खूब है। वे बड़े मानी प्रतीत होते हैं। उनकी दृष्टि में मान का—स्वात्माभिमान का—बड़ा आदर है। द्रौपदी तथा भीम ने अपने सम्मान की रक्षा के लिए युधिष्ठिर को जिस प्रकार उत्साहित किया है वह मनन करने का विषय है। कवि के स्वभाव में जितना मान का गौरव है, उससे कहीं अधिक विनय का महत्त्व है। किरात में जितने संभाषण मिलते हैं उनमें कहीं भी शिष्टाचार तथा विनय का उल्लंघन नहीं है। उनके पात्रों में अपने विरोधियों की बातें शान्तचित्त से सुनने की क्षमता है। वे अपने पक्ष का मण्डन बड़े तर्क से करते हैं तथा अपने विपक्षियों के कथन का भी खूब खण्डन करते हैं, परन्तु उनमें उद्वेग नहीं दीखता। भारवि माँगने को बड़ा बुरा मानते थे। इसे वे पण्डितों की मर्यादा को भंग करने वाली बतलाया है—धिग् विभिन्नबुधसेतुमर्थिताम्। वे जानते हैं कि गुण प्रेम में रहते हैं वस्तु में नहीं—वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि।

सज्जनता के विशिष्ट गुणों का वे मर्म जानते हैं कि सज्जनों की वाणी निन्दा करना जानती ही नहीं, वह तो केवल गुणों का ही प्रकाश करती है। 'अयातपूर्वा परिवादगोचरं सतां हि वाणी गुणमेव भाषते'। राजनीति का उनका ज्ञान सिद्धान्त ग्रन्थों के अध्ययन का फल नहीं है, प्रत्युत व्यावहारिक कार्यों के अवलोकन का परिणाम है। राजनीति के तत्वों का तथा राजदूतों का इतना सजीव वर्णन किरात में मिलता है कि वह कवि-कल्पना नहीं हो सकता —वह तो आँखों से देखा हुआ स्वानुभूत यथार्थ वर्णन है।

भारवि ने महाकाव्य को प्राकृतिक विषयों के वर्णन से परिपुष्ट करने का प्रथम उद्योग किया। काव्य को अलंकारों से भूषित करने की पद्धति इन्होंने ही चलाई, जिसका अनुसरण पिछले कवियों ने बहुलता के साथ किया। किरात का मूल कथानक बहुत ही छोटा है, परन्तु भारवि के हाथों उसमें विशेष चमत्कार, कमनीयता तथा व्यापकता आ गई है। किरातार्जुनीय का कलेवर इन्हीं अलंकृत वर्णनों से वृद्धिगत हुआ है। चतुर्थ सर्ग में वर्णन है शरत् का, पंचम में हिमालय का, अष्टम में गन्धर्व सहित अप्सराओं के कुसुमावचय और जलक्रीड़ा का, नवम में सन्ध्या, चन्द्रोदय, पानगोष्ठी, रतिक्रीड़ा तथा प्रभात का; दशम में षट् ऋतुओं का, पन्द्रहवें में चित्रात्मक युद्ध का। इस प्रकार महाकाव्य के इतिहास में 'अलंकृत शैली' के उद्भावक होने के कारण महाकवि भारवि की भूयसी प्रतिष्ठा है।

अलंकृत शैली की उद्भावना

५—भट्टि

भट्टि ने 'शास्त्र काव्य' लिखने की परिपाटी संस्कृत में चलाई। 'शास्त्र-काव्य उसे कहते हैं जिसमें काव्य के साथ-साथ व्याकरण के प्रयोगों का भी पूरा परिचय पाठकों को मिल जाय। इनका काव्य रावण-वध है जो इन्हीं के नाम पर 'भट्टि काव्य' के नाम से सर्वत्र विख्यात है। इसमें

२० सर्ग हैं तथा लगभग साढ़े तीन हजार श्लोक हैं। रामचन्द्र की जीवन-घटनाएँ विस्तार से वर्णित हैं। कवि का लक्ष्य यह था कि व्याकरण के आवश्यक प्रयोगों से पाठक परिचित हो जायँ। इसी कारण इन्होंने स्वयं अपने काव्य के विषय में कहा है कि व्याकरण जानने वालों के लिये तो यही दीपक के समान है परन्तु दूसरों के लिये अन्धे के हाथ की आरसी की तरह है[1]। इन्होंने चार सर्गों में (१० से लेकर १३ तक) काव्य की समस्त विशेषताओं को भी दिखलाया है। काश्मीर देश के कवि भट्टभौमक ने 'रावणार्जुनीय' काव्य में भट्टि का सफल अनुकरण किया है।

ये वलभी के राजा श्रीधरसेन के सभापण्डित थे[2]। वलभी के राजाओं में चार 'श्रीधरसेन' का नाम मिलता है जिनमें श्रीधरसेन द्वितीय के द्वारा भट्टि नामक विद्वान् को भूमिदान देने का उल्लेख एक शिलालेख में (६१० ई०) मिलता है। इसके अनुसार इनका समय छठीं शताब्दी का उत्तरार्ध तथा सातवीं का आरम्भ सिद्ध होता है। इनका सर्व-प्रसिद्ध श्लोक शरद् ऋतु के अलंकार ग्रन्थों में उद्धृत वर्णन में मिलता है जो इस प्रकार है—

न तज्जलं यन्न सुचारु पङ्कजं न पङ्कजं तद् यदलीनषट्पदम्।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः॥

श्लोक का भाव यह है कि शरदृतु में ऐसा कोई सरोवर नहीं है जिसमें सुन्दर कमल न खिले हों, ऐसा कोई कमल नहीं है जिस पर भौंरे न बैठे हों। ऐसा कोई भौंरा नहीं है जो गूँज न रहा हो और ऐसी कोई

---

१ दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम्।
हस्तादर्श इवान्धानां भवेद् व्याकरणादृते॥

२ काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां श्रीधरसेन नरेन्द्र पालितायाम्।
कीर्त्तिरतो भवतान्नृपस्य तस्य क्षेमकरः क्षितिपो यतः प्रजानाम्॥

गूँज भी नहीं है जो मन न हर लेती हो। एकावली का उदाहरण इससे सुन्दर मिलना अत्यन्त दुष्कर है।

भट्टिकाव्य की रचना व्याकरण तथा अलंकार शास्त्र के तत्त्वों को समझाने के लिए की गई है। कवि को इस उद्देश्य की सिद्धि में पूर्ण सफलता मिली है। व्याकरण के उदाहरण रूप होने से इसमें काव्यकला को विशेष हानि पहुँची है।

६—माघ

कृत्स्नप्रबोध-कृद्वाणी भा रवेरिव भारवेः।
माघेनेव च माघेन कम्पः कस्य न जायते॥
—राजशेखर

कविवर माघ का जन्म एक प्रतिष्ठित तथा धनाढ्य ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके पितामह सुप्रभदेव गुजरात के शासक महाराज वर्मलात के प्रधान मन्त्री थे। इनके पिता का नाम दत्तक था जो अपनी विद्वत्ता और दानशीलता के लिये विशेष विख्यात थे। माघ का जन्म गुजरात के प्रसिद्ध नगर भीनमाल में हुआ था। 'भोजप्रबन्ध' तथा 'प्रबन्धचिन्तामणि' से पता चलता है कि राजा भोज के साथ महाकवि माघ की गाढ़ी मित्रता थी। यदि यह घटना सत्य हो तो यह भोज प्रसिद्ध धारानरेश भोज (इस्वी १०१०—५०) न होकर कोई उनसे प्राचीन भोज होंगे क्योंकि माघ का समय सप्तम शताब्दी का उत्तरार्ध मानना युक्तियुक्त है। इनके पितामह के आश्रयदाता वर्मलात का एक शिलालेख वसन्तपुर नामक राजपूताने के किसी स्थान पर मिला है जिसका समय ६८२ विक्रमी (६२५ ईस्वी) है[1]। अतः माघ का समय इससे ५० वर्ष हटकर ६७५ ईस्वी के आसपास मानना ठीक होगा। माघ ने एक जगह महा-

---

१ द्व्यशीत्यधिके काले षण्णां वर्षशतोत्तरे।
जगन्मातुरिदं स्थानं स्थापितं गोष्ठिपुङ्गवैः॥

भाष्य तथा काशिका वृत्ति के साथ न्यास ग्रन्थ का उल्लेख किया है[1]। काशिका वृत्ति की रचना वामन तथा जयादित्य ने सप्तम शतक के मध्यमभाग में की थी। अतः माघ का समय सप्तम शतक का अन्त तथा अष्टम का आदि मानना उचित होगा।

माघ की कीर्त्तिलता केवल एक ही महाकाव्य-वृक्ष पर अवलम्बित है। इसका नाम है 'शिशुपालवध' जिसमें युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में चेदि-नरेश शिशुपाल के वध की कथा बड़े विस्तार से वर्णित है। इसमें २० सर्ग तथा १६५० श्लोक हैं। ऋतु, पर्वत तथा समुद्र आदि प्राकृत दृश्यों के वर्णन करने में माघ ने अपनी काव्यप्रतिभा खूब दिखलायी है। अलङ्कारों की छटा देखते ही बनती है। श्लेष लिखने में माघ सिद्धहस्त हैं। चित्रा-लङ्कार का सन्निवेश एक पूरे सर्ग में किया गया है। माघ के ऊपर भारवि की छाया स्पष्ट दीख पड़ती है।

माघ के महाकवि होने में तनिक भी सन्देह नहीं है। माघ ने साम्प्रदायिक प्रेम से उत्तेजित होकर अपने पूर्ववर्ती 'भारवि' से बढ़ जाने के लिए बड़ा प्रयत्न किया है। भारवि शैव थे जिनका काव्य शिव के वरदान के विषय में है। माघ वैष्णव थे जिन्होंने विष्णु-विषयक महाकाव्य की रचना की है। वह स्वयं अपने ग्रन्थ को 'लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्तनमात्रचारु' कहते हैं। भारवि को ध्वस्त करने में माघ ने कुछ भी नहीं उठा रक्खा है। 'किरातार्जुनीय' को अपना आदर्श मानकर भी माघ ने अपने काव्य में बहुत कुछ अलौकिकता पैदा कर दी है। किरात के समान ही माघ काव्य भी मंगलार्थक 'श्री' शब्द से आरम्भ होता है। किरात के आरम्भ में 'श्रियः कुरूणामधिपस्य

भारवि और माघ

---

१ अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा॥
—शिशुपालवध २-११२

पालिनीं' है, उसी प्रकार माघ के प्रारम्भ में 'श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगत्' है। भारवि ने किरात में प्रत्येक सर्ग के अन्तिम में 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग किया है। माघ ने इसी तरह अपने काव्य के सर्गान्त पद्यों में 'श्री' का प्रयोग किया है।

शिशुपालवध तथा किरातार्जुनीय के वर्णन-क्रम में भी समानता है। दोनों महाकाव्यों के प्रथम सर्ग में सन्देश कथन है। दूसरे सर्ग में राजनीति-कथन है। अनन्तर दोनों में यात्रा का वर्णन है। ऋतु वर्णन भी दोनों में है—किरात के चतुर्थ सर्ग में तथा माघ के षष्ठ सर्ग में। पर्वत का वर्णन भी एक समान है—किरात के पाँचवें सर्ग में हिमालय का तथा माघ के चौथे सर्ग में रैवतक पर्वत का। अनन्तर दोनों में सन्ध्या-काल, अन्धकार, चन्द्रोदय, सुन्दरियों की जलकेलि—आदि विषयों के वर्णन कई सर्गों में दिये गये हैं। किरात के तेरहवें तथा चौदहवें सर्ग में अर्जुन तथा किरातरूपधारी शिव में बाण के लिए वाद-विवाद हुआ है; माघ के सोलहवें सर्ग में ऐसा ही विवाद शिशुपाल के दूत तथा सात्यकि में हुआ है। किरात के पन्द्रहवें तथा माघ के उन्नीसवें सर्ग में चित्र-बन्धों में युद्धवर्णन है। इस प्रकार समता होने पर भी रसिक जन माघ के सामने भारवि को हीन समझते हैं:—

तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः।

'माघे सन्ति त्रयो गुणाः।' यह तो सब पण्डित जानते हैं कि माघ में तीनों गुण हैं—उपमा, अर्थगौरव तथा पदलालित्य। इन तीनों गुणों का सुभग दर्शन हमें माघ की कमनीय कविता में होता है। बहुत से आलोचक पूर्वोक्त वाक्य को किसी माघभक्त कवि-पण्डित का अविचारित-रमणीय हृदयोद्गार बतलाते हैं, परन्तु वास्तव में पूर्वोक्त आभाणक में सत्यता है। माघ में कालिदास जैसी उपमाएँ भले न मिलें, परन्तु फिर भी इनमें न सुन्दर उपमाओं का अभाव है, न अर्थगौरव की कमी। पदों का ललित विन्यास तो निःसन्देह प्रशंसनीय है। माघ की पदशय्या

इतनी अच्छी है कि कोई भी शब्द अपने स्थान से हटाया नहीं जा सकता। इसीलिए धनपाल का यह कथन सत्यता से भरा है—

माघेन विघ्नितोत्साहा नोत्सहन्ते पदक्रमे।
स्मरन्तो भारवेरेव कवयः कपयो यथा॥

जिस प्रकार माघ के ठंढे महीने में सूर्य भगवान् के आतप की सेवा करने पर भी बेचारे कपिलोग पदक्रम रखने में—चलने-फिरने में—असमर्थ हो जाते हैं। ठीक उसी प्रकार माघ कवि की पदरचना देखकर भारवि की सहायता लेने पर भी कवियों का दिल काव्य लिखने में ठंडा पड़ जाता है। पदक्रम (पदरचना) के लिये उनमें उत्साह ही नहीं रहता। माघ के सामने कविजन की दशा माघमास के कपिजन जैसी है। यह तो प्रसिद्ध ही है कि नवसर्ग बीत जाने पर माघ में 'नव' (नया) शब्द नहीं मिलता—

नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते।'

माघ केवल सरस कवि न थे, प्रत्युत एक प्रचण्ड सर्वशास्त्र-तत्त्वज्ञ विद्वान् थे। माघ जैसी विद्वत्ता किसी भी संस्कृत कवि में न मिलेगी। भिन्न-भिन्न शास्त्रों का अध्ययन जितना माघ ने किया है, इन शास्त्रों के सिद्धान्तों का जिस सुन्दर रीति से माघ ने प्रतिपादन किया है, उस भाँति संस्कृत साहित्य के किसी महाकाव्य में उपलब्ध नहीं होता। भारवि में राजनीति-पटुता अवश्य दीख पड़ती है, श्रीहर्ष में दार्शनिक उद्भटता अवश्य उपलब्ध होती है, परन्तु माघ में सर्वशास्त्रों का जो परिनिष्ठित ज्ञान दृष्टिगोचर होता है वह इन दोनों कवियों में कहाँ? उनमें भी पाण्डित्य है, परन्तु वह केवल एकाङ्गी है। परन्तु माघ का पांडित्य सर्वगामी है। वेद तथा दर्शनों से लेकर राजनीति तक का विशिष्ट परिचय इनके काव्य में पाया जाता है।

माघ की विद्वत्ता

माघ का श्रुति-विषयक ज्ञान अत्यन्त प्रशंसनीय है। प्रातःकाल के समय इन्होंने अग्निहोत्र का सुन्दर वर्णन किया है। हवन कर्म में आवश्यक सामधेनी ऋचाओं का उल्लेख किया है। (११ सर्ग, ४१ श्लोक)।

वैदिक स्वरों की विशेषता भी आपको भली भाँति मालूम थी। स्वरभेद से अर्थभेद हो जाया करता है, इस नियम का उल्लेख मिलता है[1]। एक पद में होनेवाला उदात्त स्वर अन्य स्वरों को अनुदात्त बना डालता है—एक स्वर के उदात्त होने से अन्य स्वर 'निघात' हो जाते हैं इस स्वर-विषयक प्रसिद्ध नियम का प्रतिपादन माघ ने शिशुपाल के वर्णन में बड़ी सुन्दर रीति से किया है (निहन्त्यरीनेकपदे य उदात्तः स्वरानिव)। चौदहवें सर्ग में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का बड़ा ही विस्तृत तथा सुन्दर वर्णन किया हुआ मिलता है। दर्शनों का भी विशिष्ट ज्ञान माघ में दिखाई पड़ता है। सांख्य के तत्त्वों का निदर्शन अनेक स्थलों पर पाया जाता है। प्रथम सर्ग में नारद ने श्रीकृष्णचन्द्र की जो स्तुति की है, वह सांख्य के अनुकूल है[2]। योगशास्त्र की प्रवीणता भी देखने में आती है। 'मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदो विधाय' आदि (४-५५) पद्य में चित्त-परिकर्म, सबीजयोग, सत्त्वपुरुषान्यताख्याति—योगशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं। आस्तिक दर्शनों की कौन कहे ? नास्तिक दर्शनों में भी माघ का ज्ञान उच्चकोटि का था। माघ बौद्ध-दर्शनों से भी भलीभाँति परिचित थे[3]। वे उसके सूक्ष्म विभेदों के भी ज्ञाता थे। वे राजनीति के भी अच्छे जानकार थे। बलराम तथा उद्धव के द्वारा राजनीति की खूबियाँ खूब दिखलायी

१ संशयाय दधतोः सरूपतां दूरभिन्नफलयोः क्रियां प्रति।
शब्दशासनविदः समासयोर्विग्रहं व्यवससुः स्वरेण ते ॥
—शिशुपाल १४।२४

२ उदासितारं निगृहीतमानसैर्गृहीतमध्यात्मदृशा कथञ्चन।
बहिर्विकारं प्रकृतेः पृथग्विदुः पुरातनं त्वां पुरुषं पुराविदः ॥
—वही, १।३३

३ सर्वकार्यशरीरेषु मुक्त्वाङ्गस्कन्धपंचकम्
सौगतानामिवात्मान्यो नास्ति मन्त्रो महीभृताम्।
—वही, २।२८

गयी हैं। माघ ने नाट्य-शास्त्र के विभिन्न अङ्गों की उपमा बड़ी सुन्दरता से दी है[1]। माघ एक प्रवीण वैयाकरण थे। उन्होंने व्याकरण के सूक्ष्म नियमों का पालन अपने काव्य में भलीभाँति किया है। व्याकरण के प्रसिद्ध ग्रन्थों का भी उल्लेख उन्होंने किया है। माघ का ज्ञान ललित कलाओं में भी ऊँची कक्षा का था। वे संगीतशास्त्र के सूक्ष्म विवेचक थे। जगह-जगह पर संगीत शास्त्र के मूल तत्त्वों का निदर्शन कराया गया है। नीचे के पद्य[2] में कविवर माघ की संगीत-शास्त्र-विषयक अभिज्ञता पूर्णरूप से प्रकट हो रही है। इस पद्य में प्रातःकाल के संजीवन समय में पंचम तथा ऋषभ को छोड़कर षड्ज स्वर आलापने का उल्लेख है। महर्षि भरत के अनुसार संगीतशास्त्र में भी यही प्रथा प्रचलित है।

अलंकार-शास्त्र में माघ की प्रवीणता की प्रशंसा करना व्यर्थ है। वह तो कवि का अपना प्रदेश है। माघ ने राजनीति के गूढ़ तत्त्वों को सम्यक् समझाने के लिये अलंकार शास्त्र के नियमों का सहारा लिया हैं। नीचे के पद्य[3] में कवि ने रसोत्पत्ति का सुन्दर वर्णन किया है। माघ ने एक सच्चे कवि-आलंकारिक के ऊँचे पद से शब्द तथा अर्थ दोनों को 'काव्य' माना है[4]।

कहने का सारांश यह है कि माघ एक महान् कवि-पण्डित थे।

---

१ पूर्वरंगः प्रसङ्गाय नाटकीयस्य वस्तुनः।

२ अतिसमधिकमुच्चैः पंचमं पीडयन्तः
सततमृषभहीनं भिन्नकीकृत्य षड्जम्।
प्रणिजगदुरकाकु श्रावकस्निग्धकण्ठाः
परिणतिमिति रात्रेर्मागधा माधवाय ॥ ११।१

३ स्थायिनोऽर्थे प्रवर्तन्ते भावाः सञ्चारिणो यथा
रसस्यैकस्य भूयांसस्तथा नेतुर्महीभृतः ॥ २।८७

४ शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते। २।८६

उनका ज्ञान हिन्दूदर्शन, बौद्धदर्शन, नाट्यशास्त्र, अलंकारशास्त्र, व्याकरण, संगीत आदि शास्त्रों में बड़ा उत्कृष्ट था। माघ ने अपने सम्पूर्ण ज्ञान को कविता-कामिनी को अर्पण कर दिया है—उन्होंने कविता की बाँकी छटा दिखलाने के लिये समग्र संस्कृत-साहित्य के उपयोग करने में कुछ भी उठा नहीं रखा है।

कविता

माघ की कविता-शैली अपने ढङ्ग की अनुपम है। माघ की शैली को कृत्रिम न कह 'अलंकृत' कहना उपयुक्त है। प्रत्येक वर्णन, प्रत्येक भाव, साधारण शब्दों में न होकर अलंकारों से विभूषित भाषा में प्रकट किया गया है। समासों की बहुलता, विकट वर्णों की 'उदारता', गाढ़ बन्धों की मनोहरता—हमारे मानस पटल पर आकर नाचने लगती है। इस ओजोगुणमयी कविता का माघकाव्य में सर्वोत्कृष्ट विकास है। छन्द छोटे हों या बड़े, शैली की असाधारणता सर्वत्र झलक रही है।

माघ ने इस शैली को खूब ही अलंकृत बनाया है। चित्रालंकारों से यह शैली चित्रित की गई है जिससे कहीं-कहीं काव्य में कठिनता पराकाष्ठा को पहुँच गई है। समग्र उन्नीसवें सर्ग में इन्हीं चित्रालंकारों के द्वारा युद्ध का विचित्र वर्णन किया गया है। अनेक छन्दों की रचना केवल दो अक्षरों में की गई है। उदाहरणार्थ यह पद्य 'ज' तथा 'र' की लपेट में समाप्त किया गया है—

> राजराजी रुरोजाजेरजिरेऽजोऽजरोऽरजाः।
> रेजारिजूरजोर्जार्जी रराजर्जुरजर्जरः ॥१९।१०२

अर्थालंकारों में श्लेष का प्रयोग उत्तम रीति से किया गया है। स्थान स्थान पर मुग्धकारिणी स्वभावोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षाओं की भी कमी नहीं है।

माघ काव्य के वर्णन—प्राकृतिक या मानुषिक—खूब सजीव हैं। प्रत्येक वर्णन में स्वाभाविकता पूरी प्रदर्शित की गई है। कवि की प्रकृति-पर्यवेक्षण-शक्ति का पूरा पता इन्हीं स्वाभाविक वर्णनों से भली भाँति लगता है। इन वर्णनों में वास्तविकता भरी पड़ी है। रैवतक पर्वत, ऋतु, जलक्रीड़ा, सन्ध्या, चन्द्रोदय आदिका वर्णन आलंकारिक तथा साम्प्रदायिक है। माघ का प्रभात-वर्णन संस्कृत साहित्य में अनुपम माना जाता है। इसकी कल्पनायें कवि के उर्वर मस्तिष्क की मनोहर उपज हैं।

प्रहरकमपनीय स्वं निदिद्रासतोच्चैः
प्रतिपदमुपहूतः केनचिज्जागृहीति।
मुहुरविशदवर्णां निद्रया शून्यशून्यां
ददपि गिरमन्तर्बुध्यते नो मनुष्यः॥ ११।४

प्रातःकाल में झपकी लेनेवाले सिपाही का नितान्त स्वाभाविक वर्णन है। चौकीदार अपने समय को बिताकर सोना चाहता है। वह दूसरे पहरेदार को 'जागो' 'जागो' कहकर पद-पद पर जगा रहा है। वह पहरेदार जागते हुए भी सो रहा है। नींद के मारे अनर्थक आँय-बाँय कुछ शब्द कहता है अवश्य, परन्तु फिर भी वह सो जाता है। जागकर भी अपने पहरे पर नहीं जाता। क्या ही सुन्दर स्वाभाविक वर्णन है!

सूर्योदय का वर्णन सुनिये—

विततपृथुवरत्रा—तुल्यरूपैर्मयूखैः,
कलश इव गरीयान् दिग्भिराकृष्यमाणः।
कृतचपलविहङ्गालापकोलाहलाभि-
र्जलनिधिजलमध्यादेष उत्तार्यतेऽर्कः॥ (११।४४)

चारो ओर फैली हुई, मोटी रस्सियों के समान, किरणों के द्वारा खींचा जाता हुआ, बड़े भारी कलश के समान यह सूर्य दिशारूपी नारियों

से समुद्र के जल से निकाला जा रहा है। जिस प्रकार कलश रस्सी की सहायता से कुएँ से बाहर निकाला जाता है, उसी प्रकार पूर्व समुद्र में डूबे हुए सूर्य को दिशायें किरणरूपी रस्सियों से खींचकर निकाल रही हैं। जिस प्रकार घड़े को जल से निकालने के समय बड़ा कोलाहल होता है, उसी तरह प्रातःकाल की चुह-चुहाती चिड़ियाँ शोर मचा रही हैं। कल्पना में नवीनता है। प्रातःकाल के समय, पक्षिगण का मनोहर कोलाहल कर्णपुट को सुख देता है। चारों ओर किरणें फैलाने वाले सूर्य का सुन्दर वर्णन है :—

> उदयशिखरिशृङ्गप्राङ्गणेष्वेव रिङ्गन्
> सकमलमुखहासं वीक्षितः पद्मिनीभिः।
> विततमृदुकराग्रः शब्दयन्त्या वयोभिः,
> परिपतति दिवोऽङ्के हेलया बालसूर्यः ॥ (११।४७)

जिस प्रकार आँगन में खेलता हुआ कोई बालक, बुलानेवाली अपनी माता की गोद में, हँसते हुए अपने कोमल हाथों को फैला कर जा गिरता है, उसी प्रकार बालसूर्य (बालक-सूर्य) उदयाचल की शिखररूपी आँगनों में घूमता हुआ, मुख के समान कमलों को विकसित करनेवाली कमलिनियों से देखा गया, अपने कोमल करों (किरणों) को फैला कर, पक्षियों के द्वारा शब्द करनेवाली द्यौरूपी (आकाशरूपी) माता की गोदी में लीलापूर्वक गिर रहा है। श्लेष तथा अतिशयोक्ति से परिपुष्ट किये गये रूपक की रमणीयता वास्तव में प्रशंसनीय है।

माघ संस्कृत भाषा पर पूरी प्रभुता रखते हैं। उनके काव्य में नवीन शब्दावली सर्वत्र उपलब्ध होती है। "नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते"—माघ के नव सर्गों को पढ़ जाने पर कोई नया शब्द नहीं मिलता—माघ की देववाणी पर प्रभुता के विषय में प्राचीन आलोचकों की यह सर्वमान्य सम्मति है। माघ का शब्द-भण्डार बृहत् है। इसकी पुष्टि माघकाव्य जैसे २० सर्गवाले महाकाव्य से पूरी तरह से होती है। मात्र

की कल्पना भी अप्रतिम है। अलौकिक प्रतिभा के बल पर माघ की कल्पना आकाश-पाताल को एक कर रही है। प्रायः कल्पनाओं में अनूठापन और मौलिकता उपलब्ध होती है। प्रातः वर्णन में माघ की ऐसी अनेक सूझें हैं जो संस्कृत साहित्य में अपनी स्पर्धा नहीं रखती हैं।

अरुणजलजराजीमुग्धहस्ताग्रपादा
बहुलमधुपमाला कज्जलेन्दीवराक्षी।
अनुपतति विरावैः पत्रिणां व्याहरन्ती
रजनिमचिरजाता पूर्वसन्ध्या सुतेव॥

—११।४०

रात बीत गई है। पूर्व सन्ध्या (प्रातःकाल) आ रही है। जिस प्रकार कमल के समान सुन्दर हाथ पैर-वाली, आँखों में मनोहर अञ्जन लगाकर कोई बालिका अपने बालसुलभ तोतले शब्दों को कहती हुई अपनी माता के पीछे-पीछे दौड़ती है, उसी भाँति पूर्वसन्ध्या—जिसके लाल कमल की श्रेणी ही हाथ पाँव हैं, भ्रमरमालारूपी कज्जल से युक्त कमल ही जिसके नेत्र हैं—पक्षियों के शब्दों से बोलती हुई रात्रि के पीछे पीछे दौड़ती चली आ रही है।

रैवतक के वर्णन में माघ ने क्या ही सुन्दर उत्प्रेक्षा की है—

अपशङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिता-
श्चलिताः पुरः पतिमुपेतुमात्मजाः।
अनुरोदितीव करुणेन पत्रिणां
विरुतेन वत्सलतयैष निम्नगाः॥

(४।४७)

पहाड़ी नदियाँ कल कल शब्द करती हुई बह रही हैं। ये निडर होकर उसकी गोदी में लोट पोट किया करती है। अतः वे रैवतक की बेटियाँ हैं। आज वे अपने पति समुद्र से मिलने के लिए जा रही हैं। इस

कारण रैवतक चिड़ियों के करुण स्वर के द्वारा, जान पड़ता है कि प्रेम के कारण रो रहा है। कन्या के पतिगृह जाने के समय पिता का हृदय पिघल जाता है, वह कितना भी कठोर हो द्रवीभूत अवश्य हो जाता है। "पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः"। अतः रैवतक भी पक्षियों के करुण स्वर से कन्याओं के लिए रो रहा है। ठीक है, पिता का हृदय कोमल होता ही है।

माघ में अलंकार की छटा प्रत्येक रसिकजन के हृदय को आनन्दित करती है। अर्थालंकार की झलक ऊपर के पद्यों में खूब ही है। काव्य में श्लेष तथा उत्प्रेक्षा लाने में माघ खूब बढ़े चढ़े हैं। शब्दालंकार की भी शोभा अतिशय मनोहारिणी है। अनुप्रास तथा यमक का प्रचुर प्रयोग माघकाव्य में मिलता है—

मधुरया मधुबोधितमाधवीमधुसमृद्धिसमेधितमेधया।
मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे॥

७—कुमारदास

जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति।
कविः कुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमौ॥

राजशेखरस्य।

कुमारदास सिंहलद्वीप (लङ्का) के राजा थे; ऐसी किम्वदन्ती संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध है। सिंहल के 'पूजावली' नामक ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि राजा मौग्गलान कुमारदास सिंहल में नौ वर्षों तक राज्य करके कालिदास की चितापर आत्मघात कर मर गया। महावंश के अनुसार कुमारदास की मृत्यु ५२४ ई० में हुई। इस प्रकार सिंहल की परम्परा के अनुसार कवि कुमार और राजा कुमारदास दोनों एक ही व्यक्ति माने जाते हैं। परन्तु कतिपय

विद्वान इन दोनों को पृथक् व्यक्ति मानते हैं। काशिका का प्रभाव इसके ग्रन्थ पर विशेष दीख पड़ता है। अतः इनका समय सप्तम शतक का उत्तरार्ध माना जाता है। किम्वदन्ती है कि कुमारदास के निमन्त्रण पर कालिदास सिंहल गये थे जहाँ उनकी समाधि आज भी बनी हुई है।

इनका एक ही ग्रन्थ उपलब्ध होता है जिसका नाम 'जानकी-हरण' है। इस काव्य में २० सर्ग हैं जिनमें रामायण की कथा नाना छन्दों में निबद्ध की गई है। कुमारदास कालिदास के काव्यों के बड़े भारी भक्त थे और उन्होंने कालिदास की वैदर्भी शैली का सफलता से अनुकरण किया है। वैदर्भी रीति अपने पूर्ण श्रृङ्गार के साथ इनके काव्य में विद्यमान है। इनकी कविता स्वाभाविकता, सुकुमारता तथा सरसता से पगी हुई है। राजशेखर का उपर्युक्त कथन इस बात का साक्षी है कि कालिदास के रघुवंश के रहते कुमारदास ने अपने 'जानकीहरण' में अपनी सजीव काव्य-कला तथा ऊँची कल्पना का प्रदर्शन किया है।

राजा दशरथ के बाण से बिद्ध श्रवणकुमार की ये उक्तियाँ कितनी स्वाभाविक, सरस तथा मर्मस्पर्शी हैं—

एकं त्वया साधयतापि लक्ष्यं, नीतं विनाशं त्रितयं निरागः।
मच्चक्षुषा कल्पितदृष्टिकृत्यौ, वृद्धौ वने मे पितरावहं च॥

हे राजन्, तुमने एक ही लक्ष्य पर बाण छोड़ा, परन्तु निरपराधी तीन मनुष्यों का तुमने नाश कर डाला। मेरी ही आँखों से दृष्टि का काम लेने वाले मेरे बूढ़े माता, पिता और मैं—ये तीनों एक ही बाण से मारे गये।

राम की बाल लीला में कितनी स्वाभाविकता है।

न स राम इह क यात इत्यनुयुक्तो वनिताभिरग्रतः।
निजहस्तपुटावृताननो विदधेऽलीकनिलीनमर्भकः॥

राम को खोजती हुई स्त्रियाँ चारों ओर पुकारती थी कि राम यहाँ

नहीं हैं, कहाँ चले गये ? उधर वह बालक अपने हाथों से नेत्रों को बन्द कर आँख मिचौनी खेल रहा था।

८—रत्नाकर

मा स्म सन्तु, हि चत्वारः प्रायो रत्नाकरा इमे।
इतीव स कृतो धात्रा कवी रत्नाकरोऽपरः॥

राजशेखरस्य

रत्नाकर काश्मीर के महाकवियों की रत्नमालिका के मध्यमणि हैं। काव्य का पूर्ण लालित्य इनकी कविता में लक्षित होता है। इनके पिता का नाम 'अमृतभानु' था। ये 'बालबृहस्पति' की उपाधि धारण करनेवाले काश्मीर नरेश चिप्पट जयापीड (८०० ई०) के सभापण्डित थे। इस बात का उल्लेख उन्होंने अपने को 'बालबृहस्पत्यनुजीविनः' लिखकर किया है। ये दीर्घजीवी प्रतीत होते हैं, क्योंकि कल्हण ने इन्हें अवन्तिवर्मा (८५५-८८४ ई०) के राज्यकाल में प्रसिद्धि प्राप्त करने की घटना का उल्लेख किया है—

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥

अतः साधारण रीति से हम कहते हैं कि ये नवम शतक के प्रथमार्द्ध में विद्यमान थे।

इनके महाकाव्य का नाम 'हरविजय' है। यह संस्कृत महाकाव्यों में परिमाण तथा गुण की दृष्टि से श्रेष्ठ माना जाता है। इसमें पूरे पचास सर्ग हैं। कम से कम इस काव्य का विपुल परिमाण ही इसकी अद्वितीयता का पर्याप्त परिचायक है, परन्तु काव्यगुणों के चमत्कार के कारण भी यह काव्य सचमुच अद्वितीय है। रत्नाकर के समय माघ की विपुल ख्याति थी। उस काव्य को दबा डालने के उद्देश्य से ही रत्नाकर ने इस

महाकाव्य का प्रणयन किया है। माघ वैष्णव थे। उन्होंने अपने काव्य को 'लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्त्तनमात्र-चारु' (अर्थात् भगवान् कृष्ण के चरित-कीर्तन के कारण सुन्दर) कहा है। उसी प्रकार शिवभक्त रत्नाकर ने अपने काव्य को 'चन्द्रार्धचूल-चरिताश्रय- चारु' लिखा है। कवि की यह गर्वोक्ति कि उनकी ललित, मधुर, सालंकार, प्रसादमनोहर, विकट यमक तथा श्लेष से मण्डित, चित्रमार्ग में अद्वितीय वाणी को सुनकर बृहस्पति के चित्त में भी शंका उत्पन्न हो जाती है निरी गर्वमयी उक्ति ही नहीं है, उसके सत्य होने का पर्याप्त कारण भी विद्यमान है—

ललितमधुराः सालंकाराः प्रसादमनोहरा
विकटयमकश्लेषोद्धारप्रबन्धनिरर्गलाः।
असदृशगतीश्चित्रे मार्गे ममोद्गिरतो गिरो
न खलु नृपते चेतो वाचस्पतेरपि शङ्कते ॥

काव्यका कथानक तो बहुत ही स्वल्प है—शंकर के द्वारा अन्धक असुर का बध; परन्तु इसे अलंकृत, परिष्कृत तथा मांसल बनाने में कवि ने कुछ उठा नहीं रखा है। जलक्रीडा, संध्या चन्द्रोदय, समुद्रोल्लास, प्रसाधन, विरह, पानगोष्ठी आदि के वर्णन में १५ सर्ग खर्च किये गये हैं। भाषा के सौन्दर्य में, ललित पदों की मैत्री में, नवीन चमत्कारी अर्थ की कल्पना में, अभिनव वर्णनों के उपन्यास में, शब्दों के अद्भुत प्रभुत्व में यह महाकाव्य संस्कृत साहित्य में बेजोड़ है, यह कथन पुनरुक्तिमात्र है। माघ सचमुच रत्नाकर के सामने काव्यप्रतिभा के प्रदर्शन में हतप्रभ से दीख पड़ते हैं। रत्नाकर का अध्यात्मशास्त्र का ज्ञान भी पूर्ण, बहुमुख तथा परिनिष्ठित था। छठे सर्ग में लगभग दो सौ सुन्दर श्लोकों में भगवान् की बड़ी ही पाण्डित्यपूर्ण स्तुति है जिसके एक एक पद्य से इनका गहरा शास्त्रानुशीलन प्रकट होता है। ४७वें सर्ग की 'चण्डिकास्तुति' इनके शाक्तागम का उच्च ज्ञान अभिव्यक्त कर रही है। इस महनीय काव्य

में ४३२१ पद्य हैं जिनमें 'वसन्ततिलका' की प्रचुरता है। क्षेमेन्द्र ने रत्नाकर की 'वसन्ततिलका' की प्रशंसा की है—

वसन्ततिलकारूढ़ा वाग्वल्ली गाढसङ्गिनी
रत्नाकरस्योत्कलिका चकास्त्याननकानने।

रात के अन्धकार में प्रियतम-गृह जाने वाली अभिसारिकायें उपकार सूचित करने के लिये केशपाश के रूप में अन्धकार को सिर पर चढ़ा रही हैं—

व्यक्तोपकारमधुना स्थगितासु दिक्षु
प्रेयोगृहं सुखमलक्षितमेव यामः।
धम्मिल्लबन्धरुचिरैरभिसारिकाभिः
प्रेम्णा तमश्शिरसितीव शिरोभिरूहे॥

—१९।४३

भगवान् की स्तुति का यह पद्य नितान्त अभिराम है—

अपि बालकोटिशतभागविग्रहः
षडुपाधिकामपि विधाय पद्धतिम्।
स्थित एव भगवन्नहो भवान्
विदधाति चेतसि न कस्य विस्मयम्॥

६।११७

अपने काव्य की महत्ता के विषय में रत्नाकर ने स्वयं जो निम्नांकित पद्य कहा है वह वस्तुतः सत्य है—

हरविजय—महाकवेः प्रतिज्ञां
शृणुत कृत—प्रणयो मम प्रबन्धे।
अपि शिशुरकविः कविः प्रभावात्
भवति कविश्च महाकविः क्रमेण॥

इनके विषय में 'अलंकार विमर्श' में लिखी उक्ति कितनी सटीक है—

माघः शिशुपालवधं विदधत् कविमदवधं विदधे।
रत्नाकरः स्वविजयं हरविजयं वर्णयन् व्यवृणोत् ॥

९—शिवस्वामी

प्रौढोक्त्या गाढ़बन्धेन, चित्रकाव्यचमत्कृतैः।
ध्रुवं कविमदं धुन्वन्, शिवस्वामी स्वयं बभौ ॥

शिवस्वामी संस्कृत महाकाव्य के रचयिताओं की महनीय पंक्ति में उच्च तथा सम्मान्य स्थान पाने के अधिकारी हैं। परन्तु इनकी कीर्त्ति के प्रसार न होने का कारण इनके ग्रन्थ की अनुपलब्धि ही थी। १८३३ ई० में श्रीशेषगिरि शास्त्री ने हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में इनके 'कप्फिणाभ्युदय' काव्य का सर्वप्रथम उल्लेख किया था। सौभाग्यवश पञ्जाब विश्वविद्यालय ने इस ग्रन्थ को प्रकाशित किया है[१]। इसके सम्पादक पण्डित गौरीशंकर जी ने बड़े परिश्रम से इस महाकाव्य का अत्यन्त सुन्दर तथा विशुद्ध संस्करण निकालकर इस महाकाव्य का उद्धार किया है।

शिवस्वामी काश्मीर के निवासी थे। इनके पिता का नाम भट्टार्कस्वामी था। ये स्वयं शैवमतावलम्बी थे, परन्तु 'चन्द्रमित्र' नामक बौद्धाचार्य की प्रेरणा से इन्होंने बौद्धसाहित्य में प्रसिद्ध एक अवदान को अलंकृत महाकाव्य के रूप में गुम्फित किया। राजतरंगिणी से पता चलता है कि इनका उदय काश्मीर के विख्यात नरेश अवन्ति वर्मा के (८८५-८५८ ई०) राज्यकाल में हुआ था—

काल

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः ॥

इस प्रकार शिवस्वामी आनन्दवर्धन तथा रत्नाकर के समसामयिक

१ पंजाब विश्वविद्यालय सिरीज नं० २६, १९३७, (लाहौर)।

हैं। काश्मीर के इतिहास में यह काल साहित्य तथा कला की विशिष्ट उन्नति के कारण 'सुवर्णयुग' माना जाता है। किसी कारण शिवस्वामी का यह बौद्ध काव्य विस्मृत-प्राय हो गया था, परन्तु प्राचीन काल में इसकी पर्याप्त ख्याति थी। सुभाषित ग्रन्थों में इनके श्लोक उपलब्ध होते हैं। मम्मटने ध्वनि के उदाहरण में इनके 'उल्लास्य कालकरवाल-महाम्बुवाहं' (११२४) को उद्धृत किया है। इससे शिवस्वामी की कविता के प्रसिद्ध होने की सूचना मिलती है।

इनके महाकव्य का नाम है—कप्फिणाभ्युदय। बौद्ध साहित्य में 'कप्फिण' का आख्यान विशेषरूप से प्रसिद्ध है। 'कप्फिण' दक्षिण देश ('लीलावती') के राजा थे। कारणवश इन्होंने श्रावस्ती के राजा प्रसेनजित

काव्य

को चढ़ाई कर परास्त किया। प्रसेनजित् ने भगवान् बुद्ध का ध्यान किया जिससे प्रकट होकर उन्होंने कप्फिण को पराजित कर दिया। अन्ततः यह राजा बुद्ध के शरण में गया और उनके धर्मामृत का पान कर कृतकृत्य हुआ। इसी कथानक का वर्णन शिवस्वामी ने २० सर्गों में नाना प्रकार के छन्दों में किया है। कथा को अलंकृत तथा विकसित करने के लिये कवि ने मलयपर्वत (६ स०), षट्ऋतु (८ स०), कुसुमावचय (९ स०), जलक्रीड़ा (१० स०), सूर्यास्त (११ स०), चन्द्रोदय (१२ स०), मदिरापान (१३ स०), कामसूत्रानुसार श्रृंगारिक क्रीड़ा (१४ स०), प्रभात (१५ स०) का इन इन सर्गों में बड़ा ही कलापूर्ण वर्णन किया है। १८वें सर्ग में चित्रयुद्ध के वर्णन में चित्रकाव्य की छटा है, तो १९वें सर्ग में बुद्ध की संस्कृत-प्राकृत मिश्रित भाषा में प्रशस्त स्तुति होने से शान्त का सरस प्रवाह है। प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में 'शिव' शब्द आता है। अतः काव्य 'शिवाङ्क' कहा गया है।

शिवस्वामी सचमुच एक महान् प्रतिभाशाली कवि थे। वे शैवमता-

वलम्बी थे, फिर भी उन्होंने अपने से विभिन्न धर्म के एक सामान्य आख्यान में अपनी प्रतिभा के बल से जान फूँक दी है कि वह पाठकों के सम्मुख परिष्कृत तथा विशिष्ट आकार में चलता फिरता दीख पड़ता है। उन्होंने अपने को बहुत कथाओं को जानने वाला,-चित्रकाव्य का उपदेष्टा 'यमककवि' कहा है। यह कथन अक्षरशः सत्य है। सरस मृदुल शब्दों के गुम्फन की शक्ति इनमें खूब है। काव्य-प्रतिभा का सौन्दर्य इनके काव्य में विशेष मुग्धकारी है। शब्दालंकार के समान इन्होंने अर्थालंकारों—विशेषतः उपमा, उत्प्रेक्षा तथा श्लेष—का प्रयोग बड़ी सुन्दरता से किया है। इनकी शब्दों पर विशेष प्रभुता है। प्राकृत का ज्ञान भी कम चमत्कारी नहीं है। हमारी दृष्टि में शिवस्वामी का यह महाकाव्य संस्कृत साहित्य का एक रत्न है जिसकी प्रभा विशेष अनुशीलन करने पर बढ़ती जावेगी। शिवस्वामी ने रघुकार (कालिदास), मेण्ठ (भर्तृमेण्ठ) तथा दण्डी को उपजीव्य माना है[1]। माघ तथा रत्नाकर के काव्यों का इन्होंने गाढ़ अनुशीलन किया था। इन कवियों की छाया कवि के काव्य पर खूब पड़ी[2]।

काव्य समीक्षा

विरहिणी की यह उक्ति रमणीय तथा चमत्कारिणी है—

गतोऽस्तं घर्मांशुर्भज सहचरीनीडमधुना
सुखं भ्रातः सुप्याः सुजनचरितं वायस कृतम्।

---

१ विदित बहुकथार्थश्चित्र-काव्योपदेष्टा
यमककविरगम्य श्चारु सन्दानभानी।
अनुकृतरघुकारोऽभ्यस्तमेण्ठप्रचारो
जयति कविरुदारो दण्डिदण्डः शिवाङ्कः।२०।४७

२ अर्थसाम्यके लिए द्रष्टव्य कप्फिणाभ्युदय की अंग्रेजी भूमिका पृष्ठ ५३-६१.

मयि स्नेहाद् वाष्पस्थगितनयनायामपघृणो
रुदत्यां यो यातस्त्वयि स विलपत्येष्यति कथम् ॥

हे भाई कौए, सूरज डूब गया। अब अपनी सहचरी के नीड में चले जाओ और वहाँ सुखपूर्वक रहो, तू ने सज्जन का काम किया है। जो आँसुओं से आँखों के ढक जाने पर भी मेरे रोने का ख्याल न कर चला गया, भला वह निर्दय तुम्हारे शब्द करने पर कभी आयगा? सूक्ति का सौन्दर्य तथा भाव सुतरां अवलोकनीय हैं। इनकी कविता के कतिपय कमनीय पद्य यहाँ उद्धृत किये जाते हैं जिनमें पहला पद्य सूर्यास्त के तथा अन्तिम दोनों पद्य ऋतु के वर्णन में हैः—

प्रणतिपरायणा परिकलय्य दिनापचये
परिणतिमीयिवांसमभिसन्ध्यमशीतकरम्।
करपुटकुड्मलानि नियमेन दधे जनता
नहि महतां क्षयेऽपि गुणगौरवमेति हतिम्॥
११।१८

नवकदम्ब-कदम्बकसन्तत-प्रस्रवनोयवनीयकषट्पदः।
अकृत तोयततो यशसे नगो भुवि भुजङ्ग भुजङ्गलितापदम्॥
८।२६

प्रववृते परितः परिचुम्बितं कुमुदकाननमुन्मदरागवत्।
शिशिररश्मिमुखेन शरत् प्रिया विलसदंसुसदंशुकशोभिना॥
८।३२

१०—क्षेमेन्द्र

प्रसन्नरसगम्भीरविविधैः सूक्ति-संचयैः।
प्रत्यक्षं जगतां क्षेमे, क्षमः क्षेमेन्द्र-सत्कविः॥

संस्कृत के कवियों में क्षेमेन्द्र का स्थान अद्वितीय है। इन्होंने साहित्य के विभिन्न विषयों पर अपनी लेखनी चलाई है। इन्होंने संस्कृत में इतने

अधिक ग्रन्थों की रचना की है जिसका वर्णन करना कठिन है। सम्भवतः महाभारत प्रणेता व्यास के बाद रचना की विपुलता को ध्यान में रखते हुये दूसरा स्थान आप ही को देना पड़ेगा। दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार व्यास जी ने लोकोपकार के लिये अपने ग्रन्थों की रचना की उसी प्रकार इन्होंने भी नीति तथा शिक्षा देनेवाले और लोकव्यवहार को सिखलाने वाले ग्रन्थों का प्रणयन किया है। शायद इन्हीं दोनों कारणों से ये अपने को 'व्यासदास' भी लिखा करते थे[1]।

जीवन-वृत्त

ये काश्मीर के एक धनाढ्य ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुये थे। इनके पितामह का नाम 'सिन्धु' तथा पिता का नाम 'प्रकाशेन्द्र' था। इनके पिता बड़े दानी थे। इन्होंने अपने पिता के विषय में लिखा है कि वे मेरु के समान उदार और कल्याणप्रद सम्पत्ति से युक्त थे तथा उनके गृह में असंख्य ब्राह्मणों का भोजन हुआ करता था[2]। क्षेमेन्द्र ने आचार्य अभिनवगुप्त से साहित्य विद्या पढ़ी थी[3]। इस प्रकार काश्मीर के सर्वश्रेष्ठ साहित्य विद्वान् के ये शिष्य थे। इन्होंने साहित्य विद्या में अपनी आचार्यता और निपुणता अच्छी तरह से अभिव्यक्त की है। ये योग्य गुरु के योग्य शिष्य थे। ये काश्मीर के राजा अनन्त

---

१ इत्येष विष्णोरवतारमूर्तेः कथामृतास्वादविशेषभक्त्या।
श्रीव्यासदासान्यतमाभिधेन, क्षेमेन्द्रनामा विहितः स्ववाग्रसः॥
दशावतारचरित १०।४१

२ यस्य मेरोरिवोदारकल्याणपूर्ण-संपदः।
अगण्येयमभूद् गेहे यस्य भोज्यं द्विजन्मनाम्॥
बृहत्कथामञ्जरी १९।६२

३ श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात् साहित्यं बोधवारिधेः।
आचार्यशेखरमणेः विद्या-विवृतिकारिणः॥
बृहत्कथामञ्जरी १९।३७

(१०२८ ई० से १०६३ तक) और कलश (१०६३ ई०–१०८९ ई०) के राज्यकाल में विद्यमान थे। इस प्रकार इनका समय एकादश शतक का मध्यकाल समझना चाहिये। इन्होंने अपने ग्रन्थ दशावतारचरित की समाप्ति ४१ लौकिकाब्द (१०६६ ई०) में की। संभवतः उनका अन्तिम ग्रन्थ यही है। शैव मण्डल में रहकर भी ये परम वैष्णव थे जिसका कारण भागवताचार्य सोमपाद की शिक्षा का प्रभाव था।

इन्होंने अनेक विपुलकाय ग्रन्थों की रचना की है जिनमें प्रधान हैं:—(१) रामायण-मञ्जरी (२) भारत-मञ्जरी (३) बृहत्कथा-मञ्जरी। ये तीनों ग्रन्थ क्रमशः रामायण, महाभारत और गुणाढ्य की बृहत्कथा के कवित्वमय सारांश हैं। ये तीनों स्वतन्त्र काव्यमय ग्रन्थ हैं। (४) दशावतारचरित—इनका नितान्त प्रौढ़ महाकाव्य है जिनमें भगवान् विष्णु के दशावतारों का बड़ा ही रोचक तथा विस्तृत वर्णन है (५) बोधिसत्त्वावदान-कल्पलता—इसमें बौद्ध जातक की कथाओं का बड़ी ही सुन्दर तथा सुबोध पद्यों में वर्णन है। इसके अतिरिक्त इनके लघुकाय ग्रन्थों में (६) कला-विलास (७) चतुर्वर्ग-संग्रह (८) चारुचर्या (९) नीतिकल्पतरु (१०) समय-मातृका (११) सेव्य-सेवकोपदेश नितान्त प्रसिद्ध हैं।

ग्रन्थ

क्षेमेन्द्र ने सच्चा कवि-हृदय पाया था। संसार का इन्हें पूर्ण अनुभव था। ये भलीभाँति जानते थे कि संसार के प्रलोभन इतने अधिक हैं कि वे कच्चे हृदयों को अपनी ओर खींचकर दुर्गति के गड्ढे में गिराने के लिये सदा तैयार रहते हैं। जगत्-कल्याण की इसी भावना से प्रेरित होकर इन्होंने अपने नीतिमय ग्रन्थों की रचना की है। इनकी भाषा बड़ी ही मीठी; सरस तथा सुबोध है। न तो कहीं पाण्डित्य का प्रदर्शन है और न कहीं शब्द में अनावश्यक चमत्कार उत्पन्न करने का व्यर्थ प्रयास है। इनकी भाषा में प्रवाह है। पदावली इतनी स्निग्ध है कि कहीं भी अनमेल शब्दों का प्रयोग नहीं दीखता।

कविता

दूसरे की स्त्री को चुराना कितना बड़ा अपराध है; यह कवि के शब्दों में ही सुनिये :—

सर्वापकारः सुकृतप्रहारः क्लेशावतारः कुशलापसारः।
शीलापचारः कुपदाभिसारः पापप्रकारः परदारहारः॥

दशावतारचरित ७।११९

अरण्यवास के आनन्द का यह वर्णन कितना सुन्दर है—

दयितजनवियोगोद्वेगरोगातुराणां
विभवविरहदैन्यम्लानमानाननानाम्।
शमयति शितशल्यं हन्त नैराश्यनश्य-
द्भवपरिभवतान्तिः शान्तिरन्ते वनान्ते॥

जिन लोगों का हृदय दयितजनों के वियोग के उद्वेगरूपी रोग से आक्रान्त है और धन के नाश से उत्पन्न होनेवाली दीनता के कारण जिनका मुख फीका पड़ गया है उनके हृदयगत तेज बाण को दूर हटाने में एक ही वस्तु समर्थ होती है और वह है अन्त में वन में निवास। उनके चित्त में निराशा के कारण संसार के परिभव का क्लेश दूर भाग जाता है और वे शान्ति का आनन्द लेने लगते हैं।

११—मङ्खक

निष्कलङ्कं तवैकस्य श्रीमङ्ख कवितादूभुतम्।
स्पृष्टोक्तिर्यस्य नास्तुत्य—स्तुतिकीर्तनपांसुभिः॥

—तेजकण्ठस्य

क्षेमेन्द्र के बाद एक शताब्दी के भीतर ही काश्मीर के एक दूसरे महाकवि ने नवीन महाकाव्य रचा। इनका नाम मंखक हैं। 'श्रीकण्ठ-चरित' में मंख ने भगवान् शंकर और त्रिपुर के युद्ध का साहित्यिक वर्णन प्रस्तुत किया है। अपने कैलासवासी पिता के आदेश से कवि ने

इसका प्रणयन किया था। प्रसिद्ध आलंकारिक 'रुय्यक' इनके गुरु थे। ये गुरु-शिष्य काश्मीर के राजा जयसिंह (११२९-५० ई०) के सभापण्डित थे।

श्रीकण्ठचरित्रमें २५ सर्ग हैं। मूल कथानक तो छोटा है, पर महाकाव्य की पूर्ति के लिए दोला, पुष्पावचय, जलक्रीड़ा, सन्ध्या, चन्द्र, चन्द्रोदय, प्रसाधन, पानकेलि, क्रीड़ा तथा प्रभात का विस्तृत वर्णन ७वें सर्ग से लेकर १६वें सर्ग तक क्रमशः किया गया है। २५वां सर्ग तो तत्कालीन काश्मीरक कवियों का साहित्यिक वर्णन है जो कवि के ज्येष्ट भ्राता अमात्य 'अलंकार' की सभा को अलंकृत करते थे। यह बड़ा ही जीवन्त तथा रोचक वर्णन है। इसका साहित्यिक मूल्य बहुत ही अधिक है। कविता उच्च कोटि की है। काश्मीरी कवियों की कविता का एक राग ही अलग है जिसकी माधुरी सहृदयों को बरबस अपनी ओर आकृष्ट करती है। पदों का सुन्दर विन्यास, अर्थों की मनोहर कल्पना, भक्ति का उद्रेक—इसकी कुछ विशिष्टतायें हैं। द्वितीय सर्ग में कवि और काव्य की मार्मिक समीक्षा है। रमणीय उक्तियों में दोष का पता उसी प्रकार जल्दी चलता है जिस प्रकार धुले हुए वस्त्र में जरा सा धब्बा[1]। बिना कठिन परीक्षा के कविता का गुण नहीं ज्ञात होता। बिना आँधी के मणिदीप और साधारण दीपक का अन्तर मालूम नहीं पड़ता[2]—ये उक्तियाँ मंखक के समीक्षात्मक विचार को प्रकट करती हैं।

---

१ सूक्तौ शुचावेव परे कवीनां सद्यः प्रमादस्खलितं लभन्ते।
अधौतवस्त्रे चतुरं कथं वा विभाव्यते कज्जलबिन्दुपातः॥ २।९

२ नो शक्य एव परिहृत्य दृढां परीक्षां
ज्ञातुं मितस्य महतश्च कवेर्विशेषः।
को नाम तीव्रपवनागममन्तरेण
भेदेन वेत्ति शिखिदीपमणिप्रदीपौ॥—२।३७

अन्धकार का यह वर्णन कितना मौलिक, चमत्कारपूर्ण और मनोरम है। कवि कहता है कि सायंकाल का सूर्य जगत् के व्यवहार की गणना करने वाले भगवान् का सोने का बना हुआ मसीपात्र (दावात) है। सायंकाल में जब वह (सूर्य) उल्टा मुख करके गिर पड़ता है तो वही काली स्याही दावात से निकल कर सारे संसार में अंधकार के रूप में फैल जाती है—

किन्नु कालगणनापतेर्मषीभाण्डमर्यमवपुर्हिरण्मयम्।
तत्र यद्विपरिवर्तिताननै लिम्पति स्म धरणिं तमोमषी॥

श्रीकण्ठचरित १०।१९

विरह-वर्णन के ये श्लोक कितने मर्मस्पर्शी तथा हृदयग्राही हैं। इनमें चन्द्रमा का उपालम्भ सुन्दर शब्दों में किया गया है—

रात्रिराज! सुकुमारशरीरः कस्य सहेत तव नाम मयूखान्।
स्पर्शमाप्य सहसैव यदीयं चन्द्रकान्तदृषदोऽपि गलन्ति॥
कालकूटमधुनापि निहन्तुं हन्त नो वहसि लांछनभङ्ग्या।
यद्भयादिव निगीर्णमपि त्वामाशु मुञ्चति सुधाकर! राहुः॥

सन्ध्याकाल का यह वर्णन संस्कृत साहित्य में बिलकुल अनूठा है जिसमें प्रथमार्ध समस्या है और द्वितीयार्ध मङ्खक के द्वारा की गयी पूर्ति है—

एतद्भ्रुकुंचानुकारिकिरणं राजद्रुहोऽह्नः शिर—
श्छेदाभं वियतः प्रतीचिनिपतत्यब्धौ रवेर्मण्डलम्।
एषापि क्षुरमा प्रियानुगमनं प्रोद्दामकाष्ठोत्थिते,
सन्ध्याग्नौ विरचय्य तारकमिषाज्जातास्थि शेषस्थितिः॥

श्रीकण्ठचरित २५।१०५

१२—श्रीहर्ष

तावद् भा भारवेः भाति यावन्माघस्य नोदयः ।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः ॥

श्रीहर्ष के पिता का नाम 'हीर' तथा माता का नाम 'मामल्लदेवी' था । हरि पण्डित काशी के राजा गहड़वालवंशी विजयचन्द्र की सभा के प्रधान पण्डित थे । सभा में किसी एक विशिष्ट पण्डित के साथ इनका शास्त्रार्थ हुआ । सुनते हैं कि यह विशिष्ट विद्वान् मिथिला देश के पण्डित प्रसिद्ध नैयायिक उदयनाचार्य थे[1] । शास्त्रार्थ में हीर हार गये । मरते समय श्रीहर्ष से कह गये कि मुझे पराजय होने का बड़ा दुःख है । यदि तुम सुपुत्र हो तो उस पण्डित को शास्त्रार्थ में अवश्य जीतना । श्रीहर्ष ने गंगातीर पर 'चिन्तामणि' मंत्र का वर्ष भर तक जप किया । भगवती त्रिपुरा प्रत्यक्ष हुईं । अप्रतिम पाण्डित्य का वरदान दिया । श्रीहर्ष की वैदुषी ऐसी प्रखर निकली कि इनकी कविताओं को कोई समझता ही न था । पुनः तपस्या की । भगवती ने कहा—आधी रात के समय माथेको जल को गीला रखो और दही पीओ । श्रीहर्ष ने वैसा ही किया । तब कहीं जाकर लोग इनके काव्यों को समझने में समर्थ हुये । विजयचन्द्र की सभा में गये । सभा में जाते ही राजा की स्तुति में यह सुन्दर पद्य कह सुनाया—

जीवनवृत्त

गोविन्दनन्दनतया च वपुःश्रिया च
मास्मिन् नृपे कुरुत कामधियं तरुण्यः ।

---

१ चाण्डू पण्डित ने अपनी टीका के आरम्भ में 'श्रीहर्षः स्वपितुर्विजेतुरुदयनस्य कृतीः खण्डनखण्डखाद्यनामकग्रन्थेनाखण्डयत्' लिखकर इस प्रसिद्धि का समर्थन किया है । अतः इसके ठीक होने में अब सन्देह नहीं मालूम पड़ता ।

अङ्गीकरोति जगतां विजये स्मरः स्त्री-
रस्त्री जनः पुनरनेन विधीयते स्त्री ।

काश्मीर में इनके ग्रन्थ का बड़ा आदर किया गया । प्रसिद्धि है कि ये मम्मट के भांजे थे ।

अन्तरंग प्रमाण

श्रीहर्ष के ऊपर लिखित वृत्तान्त की परिपुष्टि नैषध में उल्लिखित कथनों से ठीक ठीक होती है । पिता का 'हीर' तथा माता का मामल्ल देवी नाम था[1] । कान्यकुब्ज के राजा की सभा में इनका बड़ा सम्मान होता था क्योंकि इन्होंने कान्यकुब्जेश्वर से आसन तथा पान के बीड़ा मिलने की बात लिखी है[2] । कान्यकुब्ज (कन्नौज) के राजा जयचन्द्र की सभा में श्रीहर्ष रहते थे । सम्भवतः जयचन्द्र के पिता विजयचन्द्र के दरबार में भी ये बहुत दिन तक रहे होंगे, क्योंकि इन्हीं के नाम पर कविवर ने 'विजय प्रशस्ति' लिखी थी[3] । काश्मीर में इनके काव्य की बड़ी प्रशंसा हुई थी । इस वृत्तान्त को कविवर ने स्वयं लिखा है[4] । इस प्रकार ऊपर लिखित घटनायें सत्य प्रमाणित होती हैं और श्रीहर्ष कान्यकुब्ज के नरेश विजयचन्द्र तथा जयचन्द्र की सभा के एक परम मूल्यवान रत्न ठहरते हैं ।

श्रीहर्ष केवल प्रथम कक्षा के महाकवि ही न थे, प्रत्युत ऊँचे दर्जे के प्रकाण्ड पण्डित भी थे । श्रीहर्ष में पाण्डित्य तथा वैदग्ध्य का

---

१ श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालंकारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
यह पद्यार्ध प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में आता है ।

२ ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात् ।
(२२ सर्ग का अन्तिम पद्य)

३ तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य............ (५ ५०)

४ काश्मीरैर्महिते चतुर्दशतयीं विद्यां विदद्भिर्महा- (१६।१३१)

अनुपम सम्मिलन था। ये जिस प्रकार हृदय कली को खिलानेवाली स्वभावमधुरा कविता लिखने में नितान्त दक्ष थे, उसी प्रकार मस्तिष्क को आश्चर्यान्वित करनेवाली अनेक पण्डितों का मद चूर्ण करनेवाली, तर्ककर्कशा वाणी के गुम्फन में भी अत्यन्त प्रवीण थे। जिस श्रीहर्ष ने काव्यकला के अनुपम शृङ्गारभूत नैषधीय-काव्य की रचना की है, उसी श्रीहर्ष ने प्रखर पाण्डित्य के चूड़ान्त निदर्शन-रूप 'खण्डनखण्डखाद्य' की सृष्टि की है। जिस श्रीहर्ष ने अपनी मनोहारिणी कविता के कारण काश्मीरदेश में अपनी विमल-कीर्ति पताका फहराई, उसी ने जयचन्द्र के दरबार में अपने पूज्य पिता को परास्त करने वाले मानी तार्किक-प्रकाण्ड उदयन का भी मद चूर्ण कर डाला। कविवर की यह उक्ति नितान्त युक्ति-युक्त है—

श्रीहर्ष की योग्यता

साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढ़न्यायग्रहग्रन्थिले
तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती।
शय्या वास्तु मृदूत्तरच्छदवती दर्भाङ्कुरैरास्तृता
भूमिर्वा हृदयङ्गमो यदि पतिस्तुल्या रतिर्योषिताम्॥

इस वचन को सुनकर ही उस तार्किक को हार माननी और इनकी श्रेष्ठता स्वीकार करनी पड़ी थी—

हिंस्राः सन्ति सहस्रशोऽपि विपिने शौण्डीर्यवीर्योद्यता-
स्तस्यैकस्य पुनः स्तुवीमहि महः सिंहस्य विश्वोत्तरम्।
केलिः कोलकुलैर्मदो मदकलैः कोलाहलं नाहलैः
संहर्षो महिषैश्च यस्य मुमुचे साहंकृते हुंकृते॥

सच तो यह कि श्रीहर्ष को हुये आज लगभग आठ सौ वर्ष व्यतीत हो गये, परन्तु इस दीर्घ काल में केवल पण्डितराज जगन्नाथ को छोड़ इनके जोड़ का कोई कवि हुआ ही नहीं।

हमारे चरितनायक केवल कवि-पण्डित ही न थे, प्रत्युत एक प्रचण्ड साधक तथा उद्भट योगी थे। कहा जा चुका है कि गुरु से दीक्षा लेकर श्रीहर्ष

ने चिन्तामणि मन्त्र को सिद्ध किया था जिससे प्रसन्न हो भगवती सरस्वती ने इन्हें अलौकिक प्रतिभा प्रदान की थी। चिन्तामणि मंत्र का उद्धार तथा मंत्र जपने का उच्चफल कवि ने स्वयं नैषध में सरस्वती मुख से कहलाया है[1]। जब चिन्तामणि मंत्र के जापक द्वारा किसी व्यक्ति के सिर पर हाथ रख देने से वह सुन्दर श्लोकों की अनायास ही रचना करने लगता है[2], तब पावन गंगा के तीर पर इस परम प्रसिद्ध मंत्र को सिद्ध करने वाले श्रीहर्ष ने अद्भुत कल्पनामय नैषधकाव्य की रचना कर डाली, इसमें कौन आश्चर्य है ? श्रीहर्ष उच्चकोटि के योगी भी थे। आपने ही लिखा है कि वे समाधि में ब्रह्मानन्द का आस्वाद लिया करते थे। धन्य है ऐसा परमश्लाघनीय महात्मा कवि और धन्य है उसकी लोकोत्तर कल्पना का विकाश तथा अद्भुत पाण्डित्य की प्रखरता ! अपने आदरणीय महाकाव्य के अन्त में श्रीहर्ष ने अपने विषय में जो यह लिखा है वह निःसन्देह सत्य है :—

> ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्
> यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम् ।
> यत् काव्यं मधुवर्षि धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः
> श्री श्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याभ्युदीयादियम् ।

---

१ अवामावामार्धे सकलमुभयाकारघटनात्
द्विधाभूतं रूपं भगवदभिधेयं भवति यत् ।
तदन्तर्मंत्रं मे स्मरहरमयं सेन्दुममलं
निराकारं शश्वज्जप नरपते सिध्यतु स ते ॥ (१४।८८)

२ सर्वाङ्गीणरसामृतस्तिमितया वाचा स वाचस्पतिः
स स्वर्गीयमृगीदृशामपि वशीकाराय मारायते ।
यस्मै यः स्पृहयत्यनेन स तदेवाप्नोति किं भूयसा
येनायं हृदये स्थितः सुकृतिना मन्मन्त्रचिन्तामणिः ॥ (१४।८९)

ऊपर दी गई श्रीहर्ष की जीवनी पढ़ने से पाठकों को पता चल ही गया होगा कि ये कान्यकुब्ज नरेश जयचन्द्र की सभा में विद्यमान थे। जयचन्द्र के वंश वाले राजपूत गहड़वाल कहलाते थे। एगारहवीं तथा बारहवीं सदी में इस वंश का उत्तरीय भारत में बड़ा नाम था। ये लोग कन्नौज के राजा कहलाते थे। परन्तु पीछे चलकर इन्होंने काशी को अपनी राजधानी बनाई। जयचन्द्र काशी से ही अपने विस्तृत साम्राज्य पर शासन करते थे। ये वही जयचन्द हैं जिनके नाम को साधारण लोगों ने बदनाम कर रखा हैं। वास्तव में ऐतिहासिकों की नई खोज ने इनके सब कलङ्कों का मार्जन कर डाला है। इनके पिता विजयचन्द्र तथा इन्होंने ११५६ ईस्वी से लेकर ११९३ ईस्वी तक राज्य किया था। अतएव कविवर श्रीहर्ष का आविर्भाव-काल विजयचन्द्र तथा जयचन्द्र के सभापण्डित होने के कारण से द्वादश शताब्दी का उत्तरार्ध ठहरता है।

आविर्भाव काल

श्रीहर्ष ने अनेक ग्रन्थों की रचना की। इन सब ग्रन्थों का नाम कविवर ने अपने नैषधीयचरित में उल्लिखित किया है। नैषध में उल्लेख-क्रम से ग्रन्थों के नाम नीचे दिये जाते हैं:—

ग्रन्थ

(१) स्थैर्य-विचारण-प्रकरण[1]—नाम से ही यह ग्रन्थ दार्शनिक विषय पर लिखा हुआ जान पड़ता है। अनुमान से कहा जा सकता है कि इसमें क्षणिकवाद का निराकरण होगा।

(२) विजय-प्रशस्ति[2]—जान पड़ता है कि इस ग्रन्थ में जयचन्द्र के पिता विजयचन्द्र की, जो उस समय के प्रसिद्ध योद्धा तथा विजयी

१ तुर्यः स्थैर्यविचारणप्रकरणभ्रातर्य्ययं तन्महा-
काव्येऽत्र व्यगलन्नलस्य चरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः (४)
२ तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य नव्ये महा— (५।१३८)

वीर थे, प्रशंसात्मक प्रशस्ति लिखी गई थी। गुरुवर महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्माजी इस ग्रन्थ को ऐतिहासिक ग्रन्थ कहा करते थे।

(३) खण्डनखण्ड[1] श्रीहर्ष का यही प्रसिद्ध खण्डनखण्डखाद्य नामक वेदान्त-ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ वेदान्त शास्त्र का एक अनुपम रत्न है। इसमें नैयायिक तर्क प्रणाली का अनुसरण कर लेखक ने न्याय के सिद्धान्तों का खण्डन तथा अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का मण्डन किया है। पाण्डित्य की दृष्टि से यह ग्रन्थ उच्च कोटि का है और श्रीहर्ष की अलोकसामान्य शास्त्र-चातुरी प्रदर्शन कर रहा है।

(४) गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति[२]—नं० २ की तरह यह भी प्रशस्ति है जिसको ग्रन्थकार ने किसी गौड भूमि (बंगाल) के राजा की प्रशंसा में बनाया था।

(५) अर्णव वर्णन[३]—नाम से समुद्र का वर्णन जान पड़ता है।

(६) छिन्द प्रशस्ति[४]—छिन्द नामक किसी राजा के विषय में लिखी गई काव्य-पुस्तक जान पड़ती है। 'छिन्द' किस देश का राजा

---

१ षष्ठः खण्डनखण्डतोऽपि सहजात् क्षोदक्षमे तन्महा। (६।११३)

२ गौडोर्वीशकुलप्रशस्तिभणितिभ्रातर्ययं तन्महा- (७।११०)

३ संहब्धार्णववर्णनस्य नवमस्तस्य व्यरंसीन्महा-। (९।१६०)

४ यातः सप्तदशः स्वसुः सुसदृशि छिन्दप्रशस्तेर्महा-। (१७।२२२)

५ नारायण की टीका में 'छन्दः प्रशस्ति' पाठान्तर दिया गया है जिससे यह छन्दः शास्त्र विषयक ग्रन्थ माना जा सकता है। परन्तु ग्रन्थकार ने नं० २ तथा नं० ४ प्रशस्तियों की भांति यह भी किसी राजा के विषय में ही लिखा जान पड़ता है। अतः 'छन्दः प्रशस्ति' पाठ ठीक नहीं जँचता। प्रशस्तिकाव्य राजा का ही प्रशंसा में हुआ करता है, छन्दोविषयक ग्रन्थ के लिये प्रशस्ति शब्द का व्यवहार नहीं होता।

था और उसका निवास-स्थान कहाँ था ? यह आज कल बिलकुल अज्ञात है।

(७) शिवशक्तिसिद्धि[1]—यह ग्रन्थ शिव तथा शक्ति की साधना के विषय में लिखा गया प्रतीत होता है। कहीं कहीं शक्ति के स्थान पर 'भक्ति' पाठ है। तदनुसार इसका 'शिवभक्तिसिद्धि' भी नाम हो सकता है।

(८) नवसाहसांकचरितचम्पू[2]—श्रीहर्ष के शब्दों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्होंने नवसाहसांक के चरित्र को चम्पू के रूप में वर्णन किया था। 'नवसाहसांक' राजा भोज के पिता सिन्धुराज का विरुद विख्यात है। पद्मगुप्त ने 'नवसाहसांकचरित' नामक महाकाव्य में सिन्धुराज के ही चरित का बखान किया है। आज नहीं कहा जा सकता कि श्रीहर्ष का यह चम्पू सिन्धुराज के विषय में था अथवा 'नवसाहसांक' विरुदधारी किसी अन्य राजा के विषय में।

(९) नैषधीयचरित—इस महाकाव्य में निषध देश के अधिपति राजा नल का पावन चरित्र बड़ी ही उत्तम रीति से वर्णन किया गया है। इसमें २२ लम्बे लम्बे सर्ग हैं जिसमें २८३० श्लोक हैं। तिसपर नल चरित्र का एकदेश ही श्रीहर्ष ने वर्णन किया है। आरम्भ में राजा नल का विशद वर्णन है; नल का मृगया-विहार, हंस का ग्रहण तथा मुक्ति का हाल है। राजा हंस को दमयन्ती के पास भेजते हैं। हंस वहाँ जाता है और अकेले में जाकर नल के सौन्दर्य का वर्णन करता है। दमयन्ती के पूर्वानुराग का बड़ा ही प्रशस्त वर्णन है। राजा भीम अपनी कन्या दमयन्ती के लिये

---

१ यातोऽस्मिन् शिवशक्तिसिद्धिभगिनीसौभ्रात्रभव्ये महा—
(१८।१५४)

२ द्वाविंशो नवसाहसांकचरिते चम्पूकृतोऽयं महा—
काव्ये तस्य कृतो नलीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः। (२२।१५१)

स्वयंवर की रचना करते हैं। इन्द्र, वरुण, अग्नि और यम देवता भी दमयन्ती के अलोक सामान्य रूपवैभव की कथा सुन स्वयंवर में पधारना चाहते हैं। राजा नल को ही तिरस्करिणी विद्या के सहारे अपना दूत बना महल में भेजते हैं। नल देवताओं की ओर से खूब पैरवी करते हैं। परन्तु दमयन्ती का नल-विषयक निश्चय तनिक भी नहीं डिगता। स्वयंवर रचा जाता है। चारों देवता नल का ही रूप धारण कर सभा में उपस्थित होते हैं। सरस्वती स्वयं उसी सभा में आती है और राजाओं का परिचय देती है। नल की प्रतिकृति वाले पाँच पुरुषों को देख दमयन्ती घबड़ा जाती है। अन्त में देवतागण उसकी पतिभक्ति से प्रसन्न होकर अपने विशिष्ट चिन्हों को प्रकट करते हैं, जिससे दमयन्ती राजा नल को सहज ही पहचान लेती है। दोनों का विवाह होता है। अब देवतागण स्वर्ग को लौटते हैं। तब कलि के साथ घनघोर वाग्युद्ध छिड़ जाता है। देवता कलि को हरा कर नास्तिकवाद का मुंहतोड़ उत्तर देते है। नल दमयन्ती के प्रथम मिलनरात्रि का रुचिर वर्णन कर ग्रन्थ समाप्त होता है। संक्षेप में नैषध का यही सार है। जिस प्रकार खण्डनखण्ड खाद्य श्रीहर्ष के दार्शनिक ग्रन्थों में मुकुट मणि है, उसी प्रकार यह नैषध उनके काव्यों का अलंकार है।

कविता

श्रीहर्ष की कविता संस्कृत साहित्य की एक मनोहर वस्तु है। शब्दों का सुन्दर विन्यास तथा भावों का समुचित निवेश किस सहृदय के मन को नहीं हरण कर लेता? कविवर ने अपने महाकाव्य को 'श्रृङ्गारामृत-शीतगुः'—श्रृङ्गाररूपी अमृत के लिये चन्द्रमा-कहा है यह वास्तव में ठीक ही। श्रीहर्ष ने श्रृङ्गाररस के वर्णन करने में बड़ी सहृदयता दिखलाई है। विप्रलम्भ के लम्बे लम्बे रमणीय वर्णनों को पढ़कर जिस प्रकार हृदय में आनन्द उत्पन्न होता है, उसी प्रकार संभोग का मधुर रूप देख चित्त प्रफुल्लित हो उठता है। अलंकारों से कविजी ने अपनी भारती को इस प्रकार विभूषित किया है कि उसकी

भव्यमूर्ति देखते ही बनती है। अलंकारों में उपमा, रूपक, यमक, अतिशयोक्ति, श्लेष—सबका उचित प्रयोग श्रीहर्ष की कविता में पाया जाता है। श्लेष काव्य लिखने में इनकी बड़ी प्रवीणता झलकती है। नैषध में पञ्चनली (१३।३४) प्रसिद्ध ही है जहाँ कविवर ने श्लेष से एक ही पद्य में पाँचों नलों का वर्णन किया है। अतिशयोक्ति की कथा मत पूछिये। श्रीहर्ष के समान कल्पना की ऊँची उड़ान बहुत कम कवियों में दीख पड़ती है। उसी प्रकार उपमा तथा रूपक का विन्यास प्रशंसनीय है।

संस्कृत भाषा पर श्रीहर्ष का इतना प्रभुत्व है कि उचित शब्द आप ही आप अनायास जुटे चले आते हैं। पदशय्या इतनी सुन्दर बन पाई है कि एक पद के हेर फेर से कविता-कामिनी के रूप को विकृत होने का भय लगा हुआ है। उसी प्रकार अर्थों की सूझ है। श्रीहर्ष ने 'एकामत्यजतो नवार्थघटनाम्' की जो प्रतिज्ञा की है उसे सचमुच पूरी कर दिखाई है। एक ही विषय पर कई श्लोकों में लम्बे लम्बे भी वर्णन हैं; पर अर्थ की पुनरावृत्ति तनिक भी नहीं हैं। जब देखिये तब नये भाव, जब पढ़िये तब नवीन शब्दावली। श्रीहर्ष के समान पद तथा अर्थ का इतना मनोहर सन्निवेश साहित्य में बहुत ही दुर्लभ है। परन्तु सबसे विलक्षण है इनकी अलोक सामान्य काव्य-प्रतिभा। इस प्रतिभा के बल पर इन्होंने किसी भाव को अछूता नहीं छोड़ा है। शास्त्रों के अर्थ का भी सन्निवेश किया है परन्तु बड़े ही मार्मिक ढंग से। कविता के इन्हीं गुणों के कारण रसिक पण्डित-मण्डली नैषध के सामने किरात तथा शिशुपाल-वध को फीका बतलाती है—

उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः।

अब श्रीहर्ष की कविता के कुछ नमूने दिये जाते हैं—

तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा।
तनोति भानोः परिवेषकैतवात् तदा विधिः कुण्डलनां विधोरपि॥(१।१४)

कवि राजा नल का वर्णन कर रहा है कि राजा के प्रबल प्रताप तथा उज्ज्वल कीर्ति को जब कभी ब्रह्मा देखते हैं तब सूर्य तथा चन्द्रमा को वृथा समझ कर उनके चारों ओर परिवेष के व्याज से व्यर्थता सूचक कुण्डलना लगा देते हैं।

चन्द्रमा में दीख पड़ने वाले कलङ्क के विषय में श्रीहर्ष ने बड़ी अनूठी बातें कहीं हैं। दो सूक्तियाँ यहाँ दी जाती हैं—

यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रजः स्फुरत्प्रतापानलधूमसञ्जिम।
तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ दधाति पङ्कीभवदङ्कतां विधौ॥ (१।८)

विजय यात्रा के लिये जब राजा की सेनायें चलीं, तब उनके चलने से उसके प्रतापानल के धुएँ की तरह काली काली धूलि चारों ओर छा गई थी। सागर में वही धूलि जाकर गिरी जिससे मथा गया चन्द्रमा आज भी अंक के रूप में वही पंक धारण कर रहा है।

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम॥ (२।२५)

दमयन्ती के मुख की रचना करने के लिये ब्रह्मा ने चन्द्रमण्डल के सार भाग को काट लिया है। अतः चन्द्रमा के मध्य में जो छिद्र बन गया है उसी के द्वारा अत्यन्त नील आकाश की नीलिमा दीख पड़ रही है। ये कलङ्क क्या है? नभोमण्डल की नीलिमा दिखाने वाले बिल हैं।

सन्ध्याकाल का वर्णन पढ़िये—

कालः किरातः स्फुटपद्मकस्य वधं व्यधाद्यस्य दिनद्विपस्य।
तस्यैव सन्ध्यारुचिरास्रधारा ताराश्च कुम्भस्थलमौक्तिकानि॥ (२२।६)

कालरूपी किरात ने विकसित कमल रखनेवाले दिवसरूपी (सूँड़पर लाल बिन्दुओं को धारण करने वाले) हाथी को मार डाला है। यही कारण है कि सन्ध्या के रूप में उसकी रुचिर रुधिरधारा दीख पड़ती है तथा उसके मस्तक के जो मोती बिखरे हैं वेही गगनमण्डल में उदित तारायें हैं। क्या ही रमणीक रूपक है!

आदाय दण्डं सकलासु दिक्षु योऽयं परिभ्राम्यति भानुभिक्षुः ।
अब्धौ निमज्जन्निव तापसोऽयं सन्ध्याभ्रकाषायमधत्त सायम् ॥

यह भानुरूपी भिक्षु (संन्यासी) दण्ड लेकर सब दिशाओं में दिनभर घूमता रहा है। अब सायंकाल को जलाशय में स्नान करने के लिये मानो वह सन्ध्याकाल के लाल गगनमण्डल रूपी काषाय वस्त्र को अपने शरीर के ऊपरी भाग पर धारण कर रहा है। सूर्य के अन्त होने के समय का यह रक्त आकाश नहीं; बल्कि किसी स्नानार्थी संन्यासी का रक्त काषाय रखा हुआ जान पड़ता है। क्या ही मौलिक सूक्त है!

ऊपर कहा गया है कि श्रीहर्ष बड़े भारी दार्शनिक थे। नैषध का सतरहवाँ सर्ग दार्शनिकता से ओतप्रोत है परन्तु अन्य सर्गों में भी इनका दर्शन-ज्ञान स्पष्ट झलक रहा है। इन्होंने शास्त्रकारों को बड़ी फबतियाँ सुनाई हैं। 'औलूक' नाम धारण करनेवाला वैशेषिक दर्शन ही अन्धकार के स्वरूप वर्णन करने में पूरा समर्थ है, इसका वर्णन कवि ने बड़े ही अच्छे ढंग से किया है :—

ध्वान्तस्य वामोरु विचारणायां वैशेषिकं चारु मतं मतं मे ।
औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत् क्षमं तमस्तत्त्वनिरूपणाय ॥

इतर कवि

इन बड़े कवियों के अतिरिक्त अन्य कविजनों के काव्य भी कम रोचक नहीं हैं। अभिनन्द का 'कादम्बरीकथासार' काश्मीर में १०वें शतक में लिखा था। ये नैयायिक जयन्तभट्ट के पुत्र थे। सुन्दर अनुष्टुप् छन्दों में कादम्बरी की पूरी कथा कही गई है। क्षेमेन्द्र ने अभिनन्द के अनुष्टुपों की प्रशंसा की है। कट्टाकवि वेंकटनाथ (१३ शतक) का 'यादवाभ्युदय' कृष्ण चरित के वर्णन में लिखा गया है। ये कवि-तार्किक-शिरोमणि की उपाधि से विभूषित थे। ये कवि होने की अपेक्षा बड़े दार्शनिक थे। इन्होंने रामानुजीय दर्शन तथा मत को अपने शताधिक ग्रन्थों से इतना पुष्ट किया कि ये द्वितीय

रामानुज माने जाते हैं। १७वीं शताब्दी तथा उसके बाद द्रविड़ देश में अनेक मान्य काव्यकर्ता उत्पन्न हुए जिनमें नीलकंठ दीक्षित की प्रतिभा सर्वातिशायिनी है। ये उच्च विद्वत्कुल में उत्पन्न हुए थे। इनके पितामह प्रसिद्ध वेदान्ती अप्पय दीक्षित के कनिष्ठ भ्राता अच्या दीक्षित थे। इनके 'नीलकण्ठविजयचम्पू' का निर्माण ४१३८ कलिवर्ष में (१६३७ ई०) हुआ था। अतः इनका समय १७वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। इनकी प्रख्यात कृति 'शिवलीलार्णव' महाकाव्य है जिसके २२ सर्गों में शंकर की पुराणवर्णित लीलाओं का सरस सन्निवेश है। रामभद्र-दीक्षित का 'पतञ्जलिचरित' (८ सर्ग) इसी युग की रचना है जिसमें महाभाष्यकार का चरित्र ललित पद्यों में वर्णित है। कृष्णानन्द का 'सहृदयानन्द' १५ सर्गों में नल का चरित वर्णन करता है। ये प्राचीन कवि हैं। १४ वें शतक में जगन्नाथ पुरी के निवासी थे। साहित्य-दर्पण में इनका एक पद्य उद्धृत है।

जैनकवि

संस्कृत महाकाव्य के इतिहास में जैन पण्डितों की रचनायें कुछ कम महत्त्व की नहीं हैं। जैन पण्डितगण प्राचीन काल से संस्कृत भाषा तथा साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् होते आये हैं। उन्होंने अपने तीर्थङ्करों का चरित्र अलंकृत शैली में लिखकर जैनधर्म की महती सेवा की है। इन पुस्तकों में कतिपय अपवाद को छोड़कर धर्म-प्रचार की प्रवृत्ति ही अधिक पाई जाती है, शुद्ध साहित्यिक चेतना को जागरित करने का प्रयास कम है। जैन कवियों की संख्या बहुत अधिक है। कुछ चुने हुये कवियों ही का वर्णन यहाँ दिया जाता है:—

धनेश्वर सूरि (६१० ई०)—शत्रुञ्जय महाकाव्य। इस महाकाव्य में १४ सर्ग हैं जिनमें राजाओं के विषय की प्रसिद्ध दन्तकथायें काव्यरूप से वर्णित हैं।

वाग्भट्ट (११४० ई०)—नेमिनिर्वाणकाव्य। इस महाकाव्यके

१५ सर्गों में जैनतीर्थंङ्कर नेमिनाथ का चरित्र वर्णित है। हेमचन्द्र के समकालिक इस कवि की कविता प्रसाद से स्निग्ध तथा माधुर्य से पूर्ण है।

अभयदेव (१२२१ ई०)—जयन्त विजय काव्य। इस महाकाव्य में १९ सर्ग है जिसमें मगधदेश के राजा जयन्त का विजय लगभग २००० श्लोकों में वर्णित है।

अमर चन्द्र सूरि (१२४३-६० ई०)—बाल-भारत। यह ग्रन्थकार जिनदत्त सूरि का शिष्य तथा अणहिलपट्टन के राजा बीसल देव का सभा-पण्डित था। इनके बालभारत में ४४ सर्ग हैं तथा ६९५० श्लोक हैं। महाभारत की कथा संक्षेप में इस ग्रन्थ में वर्णित है। भाषा सुबोध तथा रीति विशेषतः वैदर्भी है।

वीरनन्दी (१३०० ई०) चन्द्रप्रभ-चरित। इस महाकाव्य के १८ सर्गों में सप्तम जैन तीर्थंङ्कर चन्द्रप्रभ का जीवन-चरित सरस भाषा में निबद्ध है।

देवप्रभसूरि (१२५० ई०)—पाण्डव-चरित। इस काव्य में महाभारत की कथा संक्षेप में दी गयी है। इसके १८ सर्ग अनुष्टुप् में निबद्ध है। कविता सरल तथा रोचक है।

वस्तुपाल (१३ शतक)—नरनारायणानन्द। गुजरात के राजा वीरधवल (१२१९-३९ ई०) का प्रसिद्ध मन्त्री वस्तुपाल विद्वानों के आश्रय देने के कारण 'लघुभोजराज' कहा जाता था। सोमेश्वर, हरिहर, अरिसिंह आदि कवि इसके आश्रय में रहते थे। अमात्य के उपकार को इन कवियों ने काव्य में निबद्ध कर इन्हें अमर बना दिया है। इस महाकाव्य में १६ सर्ग हैं जिनमें कृष्ण और अर्जुन की मैत्री, गिरनार पर्वत पर उनकी क्रीड़ा तथा सुभद्रा-हरण का वर्णन है।

बालचन्द्रसूरि (१३ शतक)—वसन्त-विलास। यह ग्रन्थ वस्तु-

पाल का जीवन चरित है जो उनके पुत्र जैत्रं सिंह के मनोविनोद के लिये लिखा गया था। प्रबन्ध-चिन्तामणि से ज्ञात होता है कि यह काव्य वस्तुपाल को इतना पसन्द आया कि इन्होंने कवि जी को आचार्य पद के अभिषेक के लिये एक हजार स्वर्ण मुद्रायें दीं।

देवविमलगणि—(१७ शतक) हीर-सौभाग्य। इस ग्रन्थ में हीरविजय सूरि के चरित्र का विस्तृत वर्णन है। सूरि ने अकबर को जैन धर्म का उपदेश दिया था जिसका उसने पालन कर धार्मिक पर्वों पर हिंसा बन्द कर दी थी। अतः अकबर का इतिहास जानने के लिये १७ सर्गात्मक इस काव्य का अनुशीलन नितान्त आवश्यक है।

हरिचन्द्र

जैन महाकवियों में धर्मशर्माभ्युदय के रचयिता महाकवि हरिचन्द्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है। जैन साहित्य में इस महाकाव्य का वही स्थान तथा आदर है जो माघ-काव्य तथा नैषध-काव्य को प्राप्त है। ग्रन्थ-कार का समय निश्चित नहीं है। ये नोमक नामक वंश में उत्पन्न हुये थे। ये जाति के कायस्थ थे। इनके पिता का नाम आर्द्रदेव और माता का नाम रथ्या देवी था। हर्षचरित के आरम्भ में बाणभट्ट ने जिस भट्टारहरिचन्द्र का उल्लेख किया है[1] उससे तो इन्हें भिन्न ही मानना ही पड़ेगा क्योंकि भट्टारहरिचन्द्र गद्य के लेखक थे, महाकाव्य के नहीं। कर्पूरमञ्जरी की प्रथम जवनिका में हरिचन्द्र का नाम सादर उल्लिखित है[2]। ये कवि ही 'धर्मशर्माभ्युदय' काव्य के रचयिता है, यह भी कथन

---

१ पदबन्धोज्ज्वलो हारी कृतवर्णक्रमस्थितिः।
भट्टारहरिश्चन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते।

२ विदूषकः—उज्जुअं एव्व ता किं ण भणह, अम्हाणं चेडिआ हरिअन्द णंदिअंद कोट्टिसहालप्पहुदीणं पि पुरदो सुकइ त्ति।

सन्देह से रहित नहीं है। परन्तु ये कवि पुराने अवश्य हैं। संभवतः ये एकादश शताब्दी में उत्पन्न हुये थे[1]। इनके ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति का समय १२८७ वि० सं० है। अतः इस संवत् से पूर्व ही इनका अविर्भाव हुआ होगा। वाग्भट ने 'नेमि निर्वाण' काव्य में धर्मशर्माभ्युदय की शैली की छाया ग्रहण की है। 'नेमि निर्वाण' की रचना १२वीं सदी में हुई थी। अतः इससे भी इनका समय एकादश शतक ही ठहरता है।

धर्मशर्माभ्युदय काव्य में २१ सर्ग हैं जिसमें पन्द्रहवें तीर्थङ्कर धर्मनाथ जी का चरित वर्णित है। इस काव्य की भाषा बड़ी ही सुन्दर तथा अलंकृत है।

यह काव्य वैदर्भी रीति का आश्रय लेकर लिखा गया है। शब्द-सौष्ठव तथा नवीन अर्थ कल्पना के लिये यह काव्य प्रसिद्ध है। कवि आलोचकों के विषय में कह रहा है कि रमणीय काव्य होने पर भी कतिपय ही विदग्ध लोग उससे आनन्द ले सकते हैं। जैसे चंचल-नयनी सुन्दरी के कटाक्ष विक्षेप करने पर तिलक नामक वृक्ष ही खिल उठता है, अन्य वृक्ष नहीं।

श्रव्येऽपि काव्ये रचिते विपश्चित्, कश्चित् सचेताः परितोषमेति।
उत्कोरकः स्यात् तिलकश्चलाक्ष्याः, कटाक्षभावैरपरे न वृक्षाः॥ १।१७

अपने पुत्र को गोदी में लेने से जो आनन्द प्राप्त होता है उसका सुन्दर तथा अनुभूत वर्णन कवि के ही शब्दों में सुनिये :—

न चन्दनेन्दीवरहारयष्टयो, न चन्द्ररोचींषि न चामृतच्छटाः।
सुताङ्गसंस्पर्शसुखस्य निस्तुलां कलामयन्ते खलु षोडशीमपि॥

वर्षा का वर्णन देखिये:—

खल इव द्विजराजमपि क्षिपन् दलितमित्रगुणो नवकन्दलः।
अजनि कामकुतूहलिनां पुना रसमयस्समयः स घनागमः॥११।३२

[1] नाथूराम प्रेमी—जैन साहित्य और इतिहास पृ० ४७२।७६

इह घनैर्मलिनैरपहस्तिता कुटजपुष्प-मिषादुडुसन्ततिः ।
गिरिवने भ्रमरारवपूत्कृतैरवततार ततारतिरम्बरात् ॥ ११।३३

(ख) ऐतिहासिक महाकाव्य

रामायण-महाभारत के वर्णन प्रसंग में 'इतिहास' की भारतीय कल्पना का कुछ वर्णन ऊपर किया गया है। इतिहास का आश्रय लेकर काव्य लिखने की परिपाटी संस्कृत साहित्य में नई नहीं है। कवियों ने अपने आश्रयदाता की कीर्ति अक्षुण्ण बनाये रखने के विचार से उनका जीवन चरित रोचक भाषा में लिखने का उद्योग किया है। परन्तु उनका यह उद्योग शुद्ध साहित्य-कोटि में ही आता है, इतिहास-कोटि में नहीं क्योंकि वे अपने आश्रयदाता के विषय में अत्यावश्यक ऐतिहासिक सामग्री भी देने का प्रयत्न नहीं करते। गुप्तकाल के कवि वत्सभट्टि ने कतिपय प्रशस्तियाँ ही प्रस्तुत की हैं। बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' लिखकर ऐतिहासिक काव्य के निर्माण का प्रथम अवतार किया है, परन्तु महाकाव्य की दृष्टि से पद्मगुप्त परिमल का काव्य प्रथम ऐतिहासिक काव्य कहा जा सकता है।

पद्मगुप्त (परिमल)

संस्कृत का सबसे पहला ऐतिहासिक महाकाव्य 'नवसाहसाङ्क चरित' है जिसमें धारा के प्रसिद्ध नरेश भोजराज के पिता सिन्धुराज (नवसाहसाङ्क) का विवाह शशिप्रभा नामक राजकुमारी के साथ वर्णित है। रचयिता का नाम है पद्मगुप्त परिमल। ये पहले सिन्धुराज के जेठे भाई वाक्पतिराज उपाधिकारी राजा मुञ्ज के सभाकवि थे। मुञ्ज बड़े गुणग्राही तथा स्वयं सरस्वती के उपासक थे। उनकी मृत्यु के अनन्तर पद्मगुप्त ने अपने को निराश्रय पाया। परन्तु सिन्धुराज ने कविवर का इतना सत्कार किया कि उनकी प्रसन्नता कविता के रूप में

इह घनैर्मलिनैरपहस्तिता कुटजपुष्प-मिषादुडुसन्ततिः ।
गिरिवने भ्रमरारवपूत्कृतैरवततार ततारतिरम्बरात् ॥ ११।३३

(ख) ऐतिहासिक महाकाव्य

रामायण-महाभारत के वर्णन प्रसंग में 'इतिहास' की भारतीय कल्पना का कुछ वर्णन ऊपर किया गया है। इतिहास का आश्रय लेकर काव्य लिखने की परिपाटी संस्कृत साहित्य में नई नहीं है। कवियों ने अपने आश्रयदाता की कीर्ति अक्षुण्ण बनाये रखने के विचार से उनका जीवन चरित रोचक भाषा में लिखने का उद्योग किया है। परन्तु उनका यह उद्योग शुद्ध साहित्य-कोटि में ही आता है, इतिहास-कोटि में नहीं क्योंकि वे अपने आश्रयदाता के विषय में अत्यावश्यक ऐतिहासिक सामग्री भी देने का प्रयत्न नहीं करते। गुप्तकाल के कवि वत्सभट्टि ने कतिपय प्रशस्तियाँ ही प्रस्तुत की हैं। बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' लिखकर ऐतिहासिक काव्य के निर्माण का प्रथम अवतार किया है, परन्तु महाकाव्य की दृष्टि से पद्मगुप्त परिमल का काव्य प्रथम ऐतिहासिक काव्य कहा जा सकता है।

पद्मगुप्त (परिमल)

संस्कृत का सबसे पहला ऐतिहासिक महाकाव्य 'नवसाहसाङ्क चरित' है जिसमें धारा के प्रसिद्ध नरेश भोजराज के पिता सिन्धुराज (नवसाहसाङ्क) का विवाह शशिप्रभा नामक राजकुमारी के साथ वर्णित है। रचयिता का नाम है पद्मगुप्त परिमल। ये पहले सिन्धुराज के जेठे भाई वाक्पतिराज उपाधिकारी राजा मुञ्ज के सभाकवि थे। मुञ्ज बड़े गुणग्राही तथा स्वयं सरस्वती के उपासक थे। उनकी मृत्यु के अनन्तर पद्मगुप्त ने अपने को निराश्रय पाया। परन्तु सिन्धुराज ने कविवर का इतना सत्कार किया कि उनकी प्रसन्नता कविता के रूप में

प्रकट हुई। इस प्रकार यह ग्रन्थ १००५ ईस्वी के लगभग लिखा गया। इस महाकाव्य में १८ सर्ग हैं। इसके १२वें सर्ग में सिन्धुराज के पूर्ववर्ती समस्त परमारवंशी राजाओं का कालक्रम से वर्णन है जिसकी सत्यता शिलालेखों से प्रमाणित हो चुकी है। काव्य की दृष्टि से यह महाकाव्य वैदर्भी रीति का उत्कृष्ट उदाहरण है। वैदर्भी अपने पूर्ण शृंगार के साथ इसमें प्रकट हुई है। प्रसाद गुण की चारुता अवलोकनीय है। प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में कवि सिद्धहस्त है। कालिदास की कविता का जितना सफल अनुकरण इस महाकाव्य में दृष्टिगोचर हो रहा है उतना अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। उपमा आदि अलंकारों का सन्निवेश भी नितान्त मनोरम हुआ है। इस प्रकार यह काव्य परमारों के इतिहास के लिये भी उपादेय है। काव्य की दृष्टि से तो यह मनोरम है ही।

कालिदास की रसमयी पद्धति—सुकुमार मार्ग का पूर्ण सौन्दर्य पद्मगुप्त के मनोरम काव्य में स्फुटित हो रहा है। इन्होंने अपनी अनुपम प्रतिभा के बलपर कालिदास की कीर्ति पुनः जीवित की है। साहित्य तथा इतिहास दोनों दृष्टियों से पद्मगुप्त परिमल के काव्य में रसिक भ्रमरों को मुग्ध बनाने वाले परिमल का सर्वथा सद्भाव है। कालिदास की कविता की जिन विशेषताओं का निर्देश इन्होंने किया है वे इनकी कविता में सद्यः स्फुरित होते हैं। इनका कथन है कि कालिदास की सरस्वती अत्यन्त उज्ज्वल, प्रसन्न तथा हृदयंगम अलंकारों से सर्वथा विभूषित है—

प्रसादहृद्यालंकारैस्तेन मूर्तिरभूष्यत।
अत्युज्ज्वलैः कवीन्द्रेण कालिदासेन वागिव॥

यह वर्णन इनकी कविता के ऊपर हर एक प्रकार से लगाया जा सकता है।

राजा की तलवार से उत्पन्न होने वाले यश का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा ।
तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु, यशस्त्रिलोक्याभरणं प्रसूते ॥

राजा के करस्पर्श को पाकर प्रत्येक रणमें उसकी कृपाणलेखा तमाल के समान नीलरंग होने पर भी शरच्चन्द्रमा के समान उज्ज्वल त्रिलोकी के आभरण रूप यश को पैदा करती है । आश्चर्य है ! कारण तथा कार्य के रंगों में साम्य दीखता है, परन्तु यहाँ नील वस्तु उज्ज्वल वस्तु को उत्पन्न कर रही है यही विचित्र बात है ।

बिल्हण

दूसरा ऐतिहासिक महाकाव्य इतिहास के घटनाचक्र पर विशेष जोर देता है । इस काव्य का नाम 'विक्रमाङ्कदेव-चरित' है जिसके रचयिता महाकवि बिल्हण काश्मीर के निवासी थे । १८वें सर्ग में कवि ने अपने जीवन चरित का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है । उनके प्रपितामह का नाम मुक्तिकलश था, पितामह का राजकलश तथा पिता का ज्येष्ठकलश । उनकी माता का नाम नागादेवी था । इष्टराम और आनन्द उनके दो भाई थे । आश्रयदाता की खोज में बिल्हण काश्मीर से निकल पड़े और मथुरा, कन्नौज, प्रयाग काशी आदि अनेक स्थानों को पार करते हुए वे दक्षिण भारत के कल्याण नगर के चालुक्यवंशीय प्रसिद्ध नरेश विक्रमादित्य षष्ठ (१०७६—११२७ ई०) के दरबार में जा पहुँचे । गुणग्राही राजा ने इनका खूब स्वागत किया ।

बिल्हण

'विक्रमाङ्क-देव-चरित' में इन्हीं विक्रमादित्य तथा उनके वंश का विस्तृत वर्णन दिया हुआ है । ऐतिहासिक घटनाओं के निर्देश करने में बिल्हण ने इतनी तत्परता दिखलाई है कि यह काव्य कल्याण के चालुक्य वंशी नरेशों का इतिहास जानने के लिये परम उपयोगी हो गया है । काव्य-दृष्टि से बिल्हण वैदर्भी मार्ग के कवि हैं । ग्रन्थ के १८वें सर्गों में

माधुर्य तथा प्रसाद का पर्याप्त पुट है। इस कवि की प्रौढ़ि प्राचीन साहित्यिकों में चिरकाल से प्रसिद्ध है। इनकी अनूठी सूक्तियाँ विदग्धों की जिह्वा पर नाचा करती हैं। रसों में वीर तो प्रधान है ही, परन्तु शृंगार तथा करुण का पुटभी कम मनोरंजक नहीं है। बिल्हणके काव्य में कुछ विलक्षण प्रौढ़ि है जिससे विदग्धहृदय सदा से इनकी कविता पर रीझता आता है। इनका कहना है कि कवीश्वरों के भावों को अन्यकवि कितना भी ग्रहण करते जायँ उनमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आती। राक्षसों ने असंख्य रत्नों को छीन लिया तथापि आज भी समुद्र रत्नाकर ही बना हुआ है[1]। ये राज दरबार में कविजनों के रखने के तथा प्रतिष्ठा देने के बड़े भारी पक्षपाती हैं। इनका कथन है[2] कि राम का यश जगत् में फैलाने का तथा रावण के यश के संकुचित होने का एकमात्र कारण महर्षि वाल्मीकि ही हैं। इसलिये कविजनों का तिरस्कार कभी न करना चाहिये।

सुन्दर रसीली कविता को सुनकर भी उसके दोषों को खोजने में ही दुर्जन लोग लगे रहते हैं। सुन्दर केलि-वन में आने पर भी ऊँट केवल काटों को ही खोजता है। कोमल फूलों तथा पत्तों की ओर उसकी दृष्टि कदापि नहीं जाती :—

कर्णामृतं सूक्तिरसं विमुच्य दोषे प्रयत्नः सुमहान् खलानाम्।
निरीक्षते केलिवनं प्रविष्टः क्रमेलकः कण्टकजालमेव ॥ १।२९

साहित्यविद्या से अनभिज्ञ लोगों के ऊपर कवियों की उक्तियों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। स्त्रियों के न भींगे हुये केशों के ऊपर काले अगुरू और धूपका वास क्या प्रभाव कर सकता है?

---

१ गृह्णन्तु सर्वे यदि वा यथेष्टं नास्ति क्षतिः कापि कवीश्वराणाम्।
रत्नेषु लुप्तेषु बहुष्वमर्त्यैरद्यापि रत्नाकर एव सिन्धुः ॥

२ लङ्कापतेः संकुचितं यशो यत् यत्कीर्तिपात्रं रघुराजपुत्रः।
स सर्व एवादिकवेः प्रभावो न कोपनीया कवयः क्षितीन्द्रैः ॥

कुण्ठत्वमायाति गुणः कवीनां, साहित्यविद्याश्रमवर्जितेषु ।
कुर्यादनार्द्रेषु किमङ्गनानां केशेषु कृष्णागुरु-धूपवासः ॥ ११४

कल्हण

इनकी लिखी हुई 'राजतरङ्गिणी' विशुद्ध इतिहास के रूप में ग्रहण की गई है। इसमें काश्मीर के राजाओं का इतिहास बहुत प्राचीन काल से आरम्भ करके १२वें शतक तक साङ्गोपाङ्ग रूप से दिया गया है। कवि ने आरम्भ में अपने कुल का भी इतिहास दिया है। काश्मीर-नरेश जयसिंह (११२७-११४९) के राज्यकाल में कल्हण ने इस ग्रन्थ की रचना की थी। इनके गुरु का नाम 'अलकदत्त' था जिसका मंखकने "श्रीकण्ठ चरित" में वर्णन किया है। कल्हण तो काश्मीरी नाम है, इसका संस्कृत रूप 'कल्याण' है जिसे मंखक ने अपने काव्य में दिया है। बिल्हण की कविता का इन्होंने पर्याप्त अनुशीलन किया था। इसीलिये इनके काव्य को उनकी कविता से 'संक्रान्त' कहा गया है। इन्होंने ११४९ ई० में ग्रन्थ आरम्भ किया और दूसरे वर्ष उसे समाप्त कर दिया।

जीवनवृत्त

कल्हण का जन्म काश्मीर के एक ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके पिता चण्पक (चम्पक ?) महाराज हर्ष (१०८९-११०९) के विश्वास-पात्र राजनैतिक सचिव थे। हर्ष के बध किये जाने पर इन्होंने राजनीति में भाग लेना छोड़ दिया। इनके चाचा 'कनक' भी राजा हर्ष के प्रिय पात्रों में से थे जिनकी मृत्यु के अनन्तर वे काशी चले आये और यहाँ उन्होंने वैराग्यमय जीवन बिताया। कल्हण ने राजनीति से वञ्चित होकर अपने देश का राजनैतिक इतिहास लिखना प्रारम्भ किया। इसके लिये इन्होंने तत्कालीन उपलब्ध सामग्री का अच्छा उपयोग किया।

संस्कृत साहित्य में कल्हण का एक विशेष स्थान है। घटनाओं को कालक्रम से निबद्ध करना तथा उसमे उपदेश ग्रहण करने की कला का

सर्वप्रथम प्रचार इन्होंने ही किया। राजतरंगिणी में पौराणिककाल से लेकर १२वीं सदी तक का विस्तृत तथा क्रमबद्ध राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास लिखा पाया जाता है। नवम शताब्दी के पहिले का इतिहास बिलकुल अधूरा तथा धुँधला है। अन्तिम शताब्दियों का इतिहास बड़ा ही स्पष्ट, विस्तृत और घटना-बहुल है। कल्हण की ऐतिहासिक कल्पना राजाओं की तिथि और युद्ध के समय के देने से नहीं है बल्कि सांस्कृतिक इतिहास प्रस्तुत करने में है। इसलिये इन्होंने कवियों की स्थान-स्थान पर विस्तृत चर्चा की है।

ग्रन्थ की महत्ता

काव्य की दृष्टि से भी इस ग्रन्थ का कुछ कम महत्त्व नहीं है। कवि का ध्यान चलती भाषा लिखने की ओर अधिक गया है। वह अपनी कविता को अलंकार के बोझ से दबाना नहीं चाहता। यहाँ उनकी कविता के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

कविता

आस्वद् बिम्बाधरा कृष्णकेशी सितकरानना।
हरिमध्या शिवाकारा सर्वदेवमयीव सा॥
भुजवनतरुच्छायां येषां निषेव्य महौजसां
जलधिरशना मेदिन्यासीदसावकुतोभया।
स्मृतिमपि न ते यान्ति क्ष्मापा विना यदनुग्रहं
प्रकृतिमहते कुर्मस्तस्मै, नमः कविकर्मणे॥ १।४६

कल्हण की इस अमर कृति के जोड़ की अन्य ऐतिहासिक रचना संस्कृत में नहीं है। जो कुछ है वह काव्यदृष्टि से ही उपादेय है:—

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने अपने आश्रयदाता नरेश का चरित्र विस्तार के साथ 'कुमारपाल चरित' नामक महाकाव्य में निबद्ध किया है[1]। इसमें पूरे २८ सर्ग हैं जिनमें आदि के २० सर्ग संस्कृत में निबद्ध हैं तथा अन्तिम आठ सर्ग प्राकृत में लिखे काव्य हैं। इसे 'द्व्याश्रय काव्य' भी

---

१ बाम्बे संस्कृत सीरीज में प्रकाशित (संख्या ६०, ६९, ७६)।

कहते हैं। इसका कारण यही नहीं है कि यह उभय-भाषा निबद्ध है प्रत्युत हेमचन्द्र-रचित संस्कृत तथा प्राकृत व्याकरण के उदाहरणों का भी इसमें सन्निवेश है। गुजरात के प्रसिद्ध चालुक्यनरेश कुमारपाल का इतिवृत्त जानने के लिये यह ग्रन्थ नितान्त उपादेय है।

उस दुर्दैव को हम किन शब्दोंमें कोसें जिसने हिन्दू साम्राज्य के अंतिम सम्राट् पृथ्वीराज का जीवन-चरित्त 'पृथ्वीराज विजय' एकही हस्तलिखित प्रति--सो भी अधूरी—में सुरक्षित रखा है। इस महाकाव्य के टीकाकार जोनराज (१४४८ के आसपास) ही काश्मीरी नहीं है, प्रत्युत उसका रचयिता भी उसी देश का निवासी था। जब पृथ्वीराज की कीर्ति सर्वत्र व्याप्त हो रही थी उसी समय इस ग्रन्थ की रचना हुई थी। यह ग्रन्थ ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है[1]। गुजरात के अनेक राजा और मन्त्रियों का जीवन-चरित मिलता है जिनमें सोमेश्वर (११७९ ई०--१२६२ ई०) की 'कीर्ति-कौमुदी' आज भी प्रकाशित है[2]। गुजरात के राजा वीरधवल के गुण-ग्राही मन्त्री वस्तुपाल की कीर्ति इस महाकाव्य में गायी गयी है। इसी कवि का 'सुरथोत्सव'[3] दुर्गासप्तशती में वर्णित राजा सुरथ के चरित होने के अतिरिक्त ऐतिहासिक महत्त्व भी रखता है। अरिसिंह का 'सुकृत-संकीर्तन' नामक महाकाव्य इसी शतक की रचना है। यह महाकाव्य ११ सर्गों में निबद्ध है और मंत्री वस्तुपाल के ही सुकृतों का कीर्तन है। सर्वानन्द ने 'जगडू-चरित' काव्य लिखकर उस परोपकारी जगडूशाह की कीर्ति को अमर बना दिया है जिसने १२५६--५८ ई० के भीषण दुर्भिक्ष में अन्नकष्ट से मरते हुए प्राणियों को अपनी उदारता से बचाया था। गुजरात में होने वाले इस दुर्भिक्ष का बड़ा ही रोचक वर्णन इस काव्य में

---

१ गौरीशंकर हीराचन्द ओझा द्वारा प्रकाशित, अजमेर।
२ बाम्बे संस्कृत सीरीज (संख्या २५)।
३ काव्य-माला नं ७३ (निर्णयसागर, बम्बई)।

किया गया है। अतः इसका सामाजिक मूल्य बहुत अधिक है।

इस प्रसङ्ग में हम 'रामपाल चरित' को नहीं भूल सकते जिसमें सन्ध्याकर नंदी ने पालवंशीय नरेश रामपाल (१०८४-११३० ई०) का जीवन चरित बड़ी सुन्दर भाषा में लिखा है। बङ्गाल में लिखे गये चरित-काव्यों में यही ग्रन्थ प्रधान है।

(ग) प्राकृत महाकाव्य

संस्कृत के महाकाव्यों के ढंग पर प्राकृत में भी अनेक महाकाव्यों की रचना समय समय पर होती रही। इन प्राकृत महाकाव्यों में संस्कृत महाकाव्य के सब विशिष्ट गुण विद्यमान हैं। कथा-वस्तु को अलंकृत करने का ढंग भी वही पुराना है। प्रकृति के मनोरम दृश्यों का, प्रभात तथा संध्या का, वसन्त तथा वर्षा का, संश्लिष्ट वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया गया है। प्राकृत-महाकवियों ने अपने सहयोगी संस्कृत महाकवियों की रचनाओं से बढ़कर काव्य-कला दिखलाने का प्रयत्न किया है। अनेक अंश में ये कविलोग सफल भी हुए हैं।

(१) प्रवरसेन

कीर्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्ज्वला।
सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना ॥—बाणभट्ट

प्राकृत के दो महाकाव्य विख्यात हैं—(१) प्रवरसेन का सेतुबन्ध तथा (२) वाक्पतिराज का गौड़वध (गउडवहो)। इनमें प्रवरसेनके ऐतिहासिक व्यक्तित्व का पूरा परिचय नहीं मिलता। इस महाकाव्य के रचयिता का नाम प्रवरसेन था जो किसी देश के राजा था। पर वे किस देश के राजा थे? इसका ठीक ठीक पता नहीं चलता। कुछ लोग इन्हें काश्मीर का राजा मानते हैं, अन्य लोग वाकाटक वंश के राजा प्रवरसेन से इनकी अभिन्नता मानते हैं। सेतुबन्ध का दूसरा नाम 'रावणवध'

या 'दशमुखवध' है। इसमें सेतुबन्धन से आरम्भ कर रावणवध तक की कथा प्रौढ़रीति से वर्णित है। दण्डी ने महाराष्ट्री प्राकृत में लिखित इस महाकाव्य को 'सागरः सूक्तिरत्नानाम्'—सूक्तिरत्नों का समुद्र कहा है[1]। यह प्रशंसा यथार्थ है। बाणभट्ट भी इस महाकाव्य के कीर्तिशाली होने के प्रबल प्रमाण हैं। इन कारणों से स्पष्ट है कि सप्तम शतक से पहले ही इसकी रचना हो चुकी थी। इसके कर्ता कालिदास भी माने जाते हैं, ऐसी किम्वदन्ती है। सम्भवतः षष्ठ शतक में इस महाकाव्य की रचना हुई थी।

'सेतुबन्ध' में १५ 'आश्वास' हैं जिसमें सेतुबन्ध से आरम्भ कर रामकथा का सुन्दर चमत्कारपूर्ण वर्णन है। इस काव्य में प्रसाद गुण पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। 'गउडवहो' के समान नितान्त नवीन अर्थ की कल्पना तो यहाँ कम मिलती है, परन्तु जो कुछ मिलता है वह सरस भाषा में निबद्ध है। कालिदास के रचयिता होने की किंवदन्ती का रहस्य इस साहित्यिक सौन्दर्य में छिपा हुआ है।

हनुमान् जी के आगमन पर रामचन्द्रजी की अवस्था का यह वर्णन नितान्त सुन्दर है—

दिट्ठ त्ति ण सद्दहिअं झीणा त्ति सवाहमन्थरं णीससिअम्।
सोअइ तुमं ति रुराण पहुणा जिअइ त्ति मारुइ।उवऊढो॥

'सीता जी को देखा है' इसे विश्वास नहीं किया। 'वह क्षीण हो गई है' इसपर वे रोते हुए दीर्घ निःश्वास लेने लगे। 'तुम्हें शोच करती है' इस पर प्रभु रोने लगे। 'वह जीती है' यह जानकर राम ने हनुमान्जी को आलिंगन किया।

---

१ महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।
सागरः सूक्तिरत्ननां सेतुबन्धादि यन्मयम्॥—काव्यादर्श

(२) वाक्पतिराज

ये कान्यकुब्ज के राजा यशोवर्मा की सभा के अन्यतम रत्न थे। महाकवि भवभूति भी इसी राज-सभा में रहते थे। वाक्पतिराज भवभूति की कविता के बड़े प्रशंसक ही न थे प्रत्युत उसके ऋणी भी थे। इन्होंने लिखा है कि भवभूति की कविता उस समुद्र के समान है जिसके रस के कतिपय कण इनकी कविता में छिटके हुये हैं। इनका समय अष्टम शतक का पूर्वार्ध है। यशोवर्मा ने गौड़ देश (मगध) के किसी नरेश पर चढ़ाई की थी। उसी का वर्णन इस काव्य में है। 'गउडवहो' में १२०८ गाथाएँ हैं। इसका ऐतिहासिक मूल्य अधिक नहीं है। परन्तु कविता की दृष्टि से यह ग्रन्थ प्राकृत-साहित्य का एक देदीप्यमान रत्न है जिसकी प्रभा विदग्ध हृदयों को आज भी स्निग्ध बनाती है। इनकी एक दूसरी भी रचना थी जिसका नाम 'मधुमय विजय' था। लेकिन यह पुस्तक अभी तक मिली नहीं।

प्राकृतिक दृश्यों में कवि का हृदय खूब रमता था। यही कारण है कि प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन बड़ा ही सजीव, यथार्थ तथा अलंकृत है। सुन्दर पदों का विन्यास और नवीन उत्प्रेक्षाओंकी कल्पना बड़े सुन्दर ढंग से की गई है। शंकर के मस्तक पर विराजने वाले चन्द्रमा के विषय में वाक्पति की यह सूक्ति बड़ी अनूठी है :—

> तं णमद कामणेहा अज्जवि धारेइ जो जडाबद्धं।
> तइअ-णयणग्गी-निवडण-कअ ववसायं पिव मियङ्कं ॥२०॥

शङ्कर ने अपने तीसरे नेत्र से काम को जला दिया है। मित्र की दुरवस्था देख कर चन्द्रमा नितांत दुःखित है और वह स्वयं मित्र के नेह से तीसरे नेत्र में कूदने के लिये तैयार है। इस व्यवसाय से रोकने के लिये शंकर ने उसे जटाओं से कसकर बाँध रखा है।

वसन्त का यह वर्णन नितांत अभिराम है :—

इह सोहन्ति-दरुमिल्ल-किसलयायम्बिरच्छिइ वत्ताइं !
पाविय-पडिवोहाइंव सिसिर-पसुत्ताइं रणाइं ॥ ६०० ॥

वसन्त की ऋतु में वृक्षों के नए पल्लव ताम्र रंग से बड़े मनोहर दिखलाई पड़ रहे हैं। जान पड़ता है कि शिशिर ऋतु में सोये हुये जंगल अब वसन्त में जाग गए हैं। और पल्लवरूपी नेत्रों को खोलकर वे इधर उधर देख रहे हैं। नए पल्लव क्या हैं जागे हुए जंगलों की लाल लाल नेत्र हैं।

(घ) महाकाव्य का विकास

लौकिक संस्कृत में कविता लिखने का उदय वाल्मीकि से हुआ। रामायण हमारा आदिकाव्य है। वाल्मीकि हमारे आदि कवि हैं। क्रौञ्च-वध की घटना जो साधारण दर्शकों के हृदय में थोड़ी सी सहानभूति उत्पन्न करने में ही समर्थ होती वाल्मीक के रससिक्त हृदय में शोकतरङ्गिणी के प्रवाहित होने का कारण बनती है और रसावेश में महर्षि का शोक श्लोक के रूप में परिणत हो जाता है। जिस अवसर पर 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वं' के रूप में वाल्मीकि की करुण-रसाप्लुत वैखरी स्खलित हुई उसी समय भारतीय काव्य की दिशा का परिचय सहृदयों को मिल गया काव्यतरङ्गिणी रसकूल का आश्रय लेकर ही प्रवाहित होती रहेगी, इसकी पर्याप्त सूचना उसी समय मिल गयी। वाल्मीकि का आदिकाव्य संस्कृत भारती का नितांत अभिराम निकेतन है। सरसता और स्वाभाविकता ही इसका सर्वस्व है। नाना रसों का मंजुल समन्वय, वर्णन में नितांत स्वाभाविकता, छोटे छोटे मनोरम पदों के द्वारा भावपूर्ण मधुर अर्थों की अभिव्यक्ति—इस काव्य की विशिष्टता है। स्थान स्थान पर वाल्मीकि ने अपने काव्य को अलंकारों से भूषित करने का भी उद्योग किया है, पर

इन अलंकारों से वस्तु का सौन्दर्य और भी अधिकता से फूटता है और रसिकों के हृदय को हठात् मुग्ध बना देता है। अलंकारों के द्वारा रस की अभिव्यक्ति होती है, शोभा का विकास होता है, गुण की गरिमा बढ़ती है। वाल्मीकि के काव्य में अलंकार की छटा कम सुहावनी नहीं है। गरुड़ की यह उपमा रामचन्द्र की उदात्तता के अनुरूप ही है—

राक्षसेन्द्रमहासर्पान् स रामगरुडो महान्।
उद्धरिष्यति वेगेन वैनतेय इवोरगान्॥ (राम० ५।२१।२७)

सीता के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का यह प्रकार कितना अनूठा है—

त्वां कृत्वोपरतो मन्ये रूपकर्ता स विश्वकृत्।
नहि रूपोपमा ह्यन्या तवास्ति शुभदर्शने॥ (५।२०।१३)

यह समासोक्ति भी सरसता का भव्य निदर्शन है—

चञ्चच्चन्द्रकरस्पर्श—हर्षोन्मीलिततारका।
अहो रागवती सन्ध्या जहाति स्वयमम्बरम्॥ (४।३०।४५)

वाल्मीकि ने बाह्य प्रकृति का बड़ा ही मार्मिक वर्णन प्रस्तुत किया है। उनके प्राकृतिक वर्णनों में सर्वत्र बिम्बग्रहण का प्राधान्य है। बिम्बग्रहण वहीं होता है जहाँ कवि अपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वस्तुओं के अंग-प्रत्यंग, वर्ण, आकृति तथा उसके आसपास की परिस्थिति का परस्पर संश्लिष्ट वर्णन देता है। यह तभी सम्भव है जब कवि के हृदय में प्रकृति के लिए सच्चा अनुराग रहता है। वाल्मीकि का यह हेमन्त वर्णन (अरण्य, अ० १६) अनुपम है—

अवश्यायनिपातेन किञ्चित् प्रक्लिन्न शाद्वला।
वनानां शोभते भूमिर्निविष्टतरुणातपा॥
स्पृशंस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम्।
अत्यन्ततृषिता वन्यः प्रतिसंहरते करम्॥

वन की भूमि जिसकी हरी हरी घास ओस गिरने से कुछ गीली सी बन गई है; तरुण धूप के पड़ने से कैसी शोभा दे रही। अत्यन्त प्यासा

जंगली हाथी अधिक शीतल जल के स्पर्शमात्र से ही अपनी सूँड़ को सिकोड़ लेता है।

वाल्मीकि की 'रसमयपद्धति' को हम 'सुकुमारमार्ग' कह सकते हैं। रस ही उसका जीवन है। स्वाभाविकता उसका भूषण है। कालिदास ने इसी शैली को अपनाकर इतना यश अर्जन किया है। इस पद्धति के दो श्रेष्ठ कवि हैं—वाल्मीकि और कालिदास।

कालिदास में वाल्मीकीय शैली का उदात्त उत्कर्ष मिलता है। कालिदास ने अपने आप को वाल्मीकि की कविता में सिक्त कर दिया था। उनसे बढ़कर रामायण का भक्त शायद ही कोई दूसरा कवि मिले। इसीलिए उनके काव्य में वाल्मीकि की मनोरम पदावली तथा मञ्जुल भाव पूर्णतया भरे पड़े हैं। वाल्मीकि को बिना समझे कालिदास का अध्ययन पूरा नहीं हो सकता। रघुवंश (१।४) में कालिदास ने 'पूर्वसूरिभिः' के द्वारा वाल्मीकि की ओर संकेत किया है। रघु० (१५।३३) में रामायण को 'कविप्रथमपद्धति' कहा गया है। वाल्मीकि के सरस हृदय का परिचय कालिदास ने सुन्दर शब्दों में इस प्रकार किया है—

> तामभ्यगच्छद् रुदितानुसारी मुनिः कुशेध्माहरणाय यातः।
> निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥

कालिदास को अपनी काव्यकला को पुष्ट करने में वाल्मीकि से स्फूर्ति तथा प्रेरणा मिली है, यह सिद्धान्त सन्देहहीन है। कालिदास प्रकृति के प्रवीण पुरोहित थे। उनकी दृष्टि में प्रकृति तथा मानव का परस्पर सम्बन्ध विश्व में विराजने वाली भगवद्विभूति की एक विस्पष्ट अभिव्यक्ति है। प्रकृति मानव पर प्रभाव डालती है। वह मनुष्य के दुःख में दुःखी और सुख में सुखी होती है। मानव भी प्रकृति को अपनी चिरसंगिनी समझता है। शाकुन्तल के चतुर्थ अंक की सुषमा इसी उभयपक्षीय सम्बन्ध की अभिराम अभिव्यक्ति में है। प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण कवि की विशेषता है—वह प्रकृति के नानारूपों में रमता

है तथा अपनी पैनी दृष्टि से वह उन सूक्ष्म अंशों को भी देखता है जिसे अन्य कवियों की आँखें देखकर भी नहीं देखती। कुमार सम्भव में कालिदास सूर्य के किरणों को झरनों के जलकणों पर पड़ने से इन्द्रधनुष का दृश्य देखते हैं—एक नहीं दो नहीं, प्रत्युत हजारों इन्द्रधनुष रविरश्मिरञ्जित जलकणों में अपना सप्तरंगी रूप सदा दिखलाया करते हैं, परन्तु कालिदास की दृष्टि इन रंगों को पहचानती है और सन्ध्याकाल में सूरज के लटकने के कारण इन्द्रधनुष का अभाव उसे बेतरह खटकता है।

सीकरव्यतिकरं मरीचिभिर्दूरमत्यवनते विवस्वति।
इन्द्रचापपरिवेषशून्यतां निर्झरास्तव पितुर्व्रजन्त्यमी॥

—कुमार ८।३१

यह उक्ति रूढ़ि का अनुकरण करने वाले किसी कवि की नहीं है, वरन् उस कवि की है जो मुग्ध दृष्टि से प्रकृति के सौन्दर्य को देखकर अपने आपको भूल जाता है।

इस निसर्ग-भावना के समान ही कालिदास की कविता की कमनीयता है। अलंकारों की झंकार का वह युग न था। रसीली बोली पर ही रसिकसमाज अपने को निछावर करता था। कालिदास की कविता में अलंकारों का भव्य विन्यास है—परन्तु वह विन्यास इतना भड़कीला नहीं है कि पाठकों का हृदय वर्ण्य-वस्तु को छोड़कर अलंकारों की छटा की ओर आकृष्ट होजाय। उस अलंकार से वस्तु का सौन्दर्य निखरता है, उसका सलोनापन अधिक बढ़ता है, वह रसिकों के हृदय में बरबस घर कर लेती है।

कालिदास की शैली को परवर्ती कवियों ने बड़ी सफलता के साथ अपनाया है। अश्वघोष के ऊपर कालिदास की स्पष्ट छाप है। गुप्तकाल के प्रशस्तिलेखक हरिषेण और वत्सभट्टि ने कालिदास के काव्यों का गहरा अनुशीलन कर उसी के आदर्श पर अपनी कविता लिखी थी। इतना ही नहीं कालिदास के काव्यों की ख्याति भारतवर्ष के बाहर भी कम्बोज

देश (आजकल का इन्डोचीन) तक फैली थी। भारतीय विद्वान् जिन जिन उपनिवेशों में धर्म और सभ्यता के प्रचार के लिये गये वहाँ उन्होंने कालिदास के काव्यों का प्रचार किया। इसलिये सुवर्णद्वीप (सुमात्रा) और कम्बोज, जावा आदि देशों में उपलब्ध संस्कृत शिलालेखों में कालिदास की कविता का पर्याप्त अनुकरण पाया जाता है—उदाहरण के लिये कंबोज के राजा भववर्मा के ६००ई० के शिलालेख की कुछ पंक्तियाँ तथा कालिदास के श्लोक साथही दिये जाते हैं जिससे इस महाकवि का विपुल प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है[1]।

विचित्र-मार्ग

संस्कृत साहित्य के विकास में महाकवि भारवि का नाम विशेष उल्लेखनीय रहेगा, क्योंकि उन्होंने महाकाव्य लिखने की एक नयी शैली को जन्म दिया। आचार्य कुन्तक इस अलंकार बहुलपद्धति को 'विचित्र मार्ग' की संज्ञा देते हैं। इस अलंकृत शैली की दो विशेषतायें हैं—(१) विषय-सम्बन्धी और (२) भाषा-संबन्धी। भारवि के पहले

विचित्र मार्ग

वाल्मीकि तथा कालिदास ने अपने महाकाव्य का जो विषय चुना था वह अत्यन्त विस्तृत तथा परिमाण में विपुल है।

१—(क) शरत्कालाभियातस्य परानावृततेजसः ।
द्विषामसह्यो यस्यैव प्रतापो न रवेरपि ॥ (शिलालेख,६)
दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि ।
तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे ॥ (रघुवंश ४।४९)

(ख) यस्य सेनारजो धूममुज्झितालंकृतिष्वपि ।
रिपुस्त्रीगण्डदेशेषु चूर्णभावमुपागतम् ॥ (शिलालेख ७)
भयोत्सृष्टविभूषाणां तेन केरलयोषिताम् ।
अलकेषु चमूरेणुश्चूर्णप्रतिनिधिः कृतः ॥ (रघु० ४।५९

कालिदास ने अपने रघुवंश में, केवल १९ सर्गों के भीतर दिलीप से प्रारम्भ कर अग्निवर्ण तक रघुवंश की अनेक पीढ़ियों का वर्णन बड़ी सफलता के साथ किया है परन्तु भारवि ने अर्जुन का किरात के पास जाना और उनसे युद्ध कर अस्त्र प्राप्त करने की स्वल्प कथा को १८ सर्गों में कह डाला है। इन्होंने अपने काव्य में पर्वत, नदी, सन्ध्या, प्रातः, ऋतु तथा अनेक प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में अनेक सर्ग समाप्त कर दिये हैं और इस प्रकार इस छोटे से कथानक को इतना अधिक विस्तार प्रदान किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि भारवि के पहले काव्य का विषय विस्तृत होता था और प्राकृतिक वर्णन कम। परन्तु भारवि के बाद काव्य में कथावस्तु अत्यन्त कम होने लगी और प्रकृतिवर्णन अधिक। यही बात शिशुपालवध और नैषध जैसे महाकाव्यों में भी पायी जाती है।

दूसरी बात भाषा-सम्बन्धी है। वाल्मीकि तथा कालिदास ने अपने महाकाव्यों में सीधी, सादी, चलती और प्रवाहपूर्ण भाषा का उपयोग किया है। उनकी कविता प्रसाद गुण से युक्त है। न तो उनमें कहीं क्लिष्ट कल्पना मिलती है और न अलंकारों की बेसुरी झनकार। इनकी कविता में अलंकार के लाने का परिश्रम-पूर्वक प्रयास नहीं किया है और न चित्रकाव्य लिखकर गोमूत्र और कमल का ही प्रदर्शन किया है। इनकी कविता में जहाँ कहीं भी अलंकार आये हैं वे स्वाभाविक रीति से अनायास प्रयुक्त हैं। उनसे कविता के समझने में कष्ट नहीं होता, बल्कि इसका सौष्ठव और अधिक बढ़ जाता है। परन्तु भारवि ने एक ऐसी शैली का जन्म दिया, एक ऐसी रीति का काव्य में प्रयोग किया जो अलंकार के भार से लदी है, श्लेष के प्रयोग से अत्यन्त दुरूह बन गयी है तथा चित्रकाव्य का प्रदर्शन करने की बलवती इच्छा से पहेली के समान कठिन हो गयी है। ऐसी ही शैली के जन्मदाता भारवि हैं। अलंकारों की प्रधानता

होने के कारण ही इसे 'अलंकृत शैली' नाम प्रदान किया गया है[1]।

इस अलंकृत शैली का उत्कर्ष माघ का प्रसाद है। अतः इस शैली की उद्भावना में भारवि और माघ का नाम संश्लिष्ट रहेगा। अब कवियों के सामने दो प्रकार की शैलियाँ विद्यमान थीं—(१) वाल्मीकि-कालिदास की रसमयी शैली और (२) भारवि-माघ की अलंकृत शैली। पिछले कवियों ने अपनी रुचि के अनुसार इन शैलियों में से अन्यतम को अपनाया है। पद्मगुप्त परिमल ने 'नवसाहसांकचरित' में तथा श्रीहर्ष ने 'नैषध' में प्रथम शैली को अपनाया है, परन्तु अपने काव्य को अलंकृत करने की प्रवृत्तिभी इनमें हैं। 'अलंकृत शैली' का भव्य निदर्शन रत्नाकर का 'हरविजय' है। इस परवर्ती युग के कवियों की दृष्टि में नैसर्गिकता के स्थान पर 'अलंकारिकता' का विशेष मूल्य है। बाह्य प्रकृति के वर्णन में भी भिन्नता आ गई है। ये कवि लोग प्रकृति के मार्मिक रूपके विश्लेषण में नितान्त असमर्थ हैं। उनमें निरीक्षण का वस्तुतः अभाव है। श्रीहर्ष जैसे विदग्ध कवि की दृष्टि में सायंकाल में पश्चिम दिशा शवरालय में प्रहर के अन्त की सूचना देनेवाले कुक्कुटों (मुर्गों) की कलँगी के कारण लाल रंग की दिखलाई पड़ती है—

> अस्ताद्रिचूडालयपक्कणालिछेकस्य किं कुक्कुटपेटकस्य।
> यामान्तकूजोल्लसितैः शिखौघैर्दिग् वारुणी द्रागरुणीकृतेयम्॥
>
> —नैषध २२।५

इस श्लोक में कुक्कुट जाति की विशिष्टता का निरीक्षण अवश्य है, परन्तु सन्ध्या की किसी मार्मिक विशिष्टता की ओर संकेत कहाँ है? कालिदास के ऊपर दिये गये सन्ध्या-वर्णन की तुलना करने से इस वर्णन का

---

[1] द्रष्टव्य—मेरा ग्रन्थ 'भारतीय साहित्य शास्त्र' दूसरा खण्ड पृष्ठ १८४—१९४।

छलकापन किसी भी आलोचक को स्पष्ट हो जायगा। कहाँ निर्झरकण में इन्द्रधनुष का निरीक्षण और कहाँ सन्ध्याकालीन आकाश को कुक्कुटों की कलँगी से लाल बतलाना !!

कालिदास ने अनेक साहित्यिक रूढ़ियों को जन्म दिया है जिनमें एक रूढ़ि है—द्रुतविलम्बित छन्द में यमकमय ऋतुवर्णन। द्रुतविलम्बित के चतुर्थ चरण में उन्होंने यमक का बड़ा ही सरस विन्यास कर वसन्तशोभा का वर्णन रघुवंश के नवम सर्ग में किया है। बस पिछले कवियोंने इस रूढ़ि को अपना लिया, पर यमक का इतना अधिक प्रयोग किया कि रसवत्ता जाती रही। माघके षष्ठ सर्गका ऋतुवर्णन मेरे कथन का पर्याप्त उदाहरण है। कालिदास का यह यमक कितना स्वाभाविक तथा मनोरम है—

विरचिता मधुनोपवनश्रियामभिनवा इव पत्रविशेषकाः।
मधुलिहां मधुदानविशारदाः कुरबका रवकारणतां ययुः॥

इसके सामने माघ का कोई भी श्लोक खड़ा नहीं हो सकता। अलंकृत शैली का विकटरूप तब प्रकट होता है, जब कवि एकही प्रबन्धमें राम की तथा अर्जुन की कथा सुनाने के लिए कटिबद्ध हो जाता है। कभी कभी तो तीन तीन अर्थ एकही श्लोक से आदि से लेकर अन्त तक निकलते हैं। ऐसी द्व्यर्थी महाकाव्यों में धनञ्जय का 'द्विसन्धान' विद्यामाधव का 'पार्वतीरुक्मिणीय', हरिदत्तसूरि का 'राघवनैषधीय', कविराजसूरि का 'राघवपाण्डवीय मुख्य हैं। त्र्यर्थी काव्यों में राजचूडामणि दीक्षित का राघव यादवीपाण्डवीय' तथा चिदम्बरसुमति का 'राघवपाण्डवयादवीय' मुख्य हैं। कहना व्यर्थ है कि इन काव्यों में पाण्डित्य का प्रदर्शन ही मुख्य है, हृदय को विकसित करनेवाली कला की अभिव्यक्ति नितरां न्यून है।

पञ्चम परिच्छेद

नाटक

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं।
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा ॥
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते।
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् ॥
—कालिदास

नाटक संस्कृत साहित्य का एक गौरवपूर्ण अंग है। नाटकों ने इस साहित्य को वह महत्त्व प्रदान किया है जिससे इसकी कीर्ति-कौमुदी संसार भर में चमकने लगी है। जिस ग्रन्थ ने भारतीय साहित्य के

महत्त्व

सौन्दर्य को, कोमल कल्पना को तथा मनोहर रसपरिपाक को संसार के मनीषियों के सामने अभिव्यक्त किया वह महाकवि कालिदास के द्वारा रचित नाटक (अभिज्ञान शाकुन्तल) ही था। काव्य की अपेक्षा नाटक को प्रतिष्ठा सदा अधिक रही है। काव्य के आनन्द से वञ्चित रहने वाले भी व्यक्ति नाटक का मनोहर अभिनय देखकर असीम अलौकिक आनन्द की उपलब्धि करते हैं। इसके लिये कारण की खोज में कहीं अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है। काव्य श्रवण-मार्ग से हृदय को आकृष्ट करता है तथा अपना प्रभाव जमाता है। परन्तु नाटक नेत्र के मार्ग से हृदय को चमत्कृत करता है। किसी वस्तु के देखने का आनन्द उसके सुनने की अपेक्षा कहीं अधिक होता है।

है। काव्य में रसानुभूति के लिए अर्थ का समझना नितान्त आवश्यक होता है परन्तु नाटक में इसकी आवश्यकता नहीं। इसलिए नाटक की समता चित्र से की गई है[1]। जिस प्रकार चित्र भिन्न भिन्न रङ्गों के सम्मिश्रण से सहृदय दर्शकों के चित्त में रस का स्रोत बहाता है, ठीक उसी प्रकार नाटक भी वेशभूषा, नेपथ्य-रचना आदि उचित संविधानों से दर्शकों के हृदय पर एक अमिट प्रभाव डालता है तथा उनके हृदय में आनन्द का उदय कराता है। संस्कृत के प्रसिद्ध आलंकारिक वामन ने इसीलिए काव्यों में रूपक को विशेष महत्त्व प्रदान किया है। रूपक की श्रेष्ठता का एक और भी कारण है। काव्य की विशद रसानुभूति के लिए जिस कवित्वमय वातावरण की आवश्यकता होती है उसकी सृष्टि सभी नहीं कर सकते। वह तो कल्पना से प्रसूत होती है। इसीलिए काव्य का रसास्वाद सहृदयों को ही हुआ करता है। परन्तु अभिनय में तो रसोपभोग की सकल सामग्री संविधानकों के द्वारा उपस्थित की जाती है। रसानुभूति के लिए वातावरण स्वयं उपस्थित हो जाता है, उसकी कल्पना करने की आवश्यकता नहीं रहती। यही कारण है कि साधारण व्यक्तियों के लिए भी काव्य की अपेक्षा नाटक का आकर्षण विशेष प्रभावशाली होता है। इसीसे नाटक कवित्व की चरम सीमा माना जाता है—नाटकान्तं कवित्वम्।

नाटक का उद्देश्य अत्यन्त महत्त्वशाली है। भारत ने नाट्य को 'सार्ववर्णिक' वेद कहा है क्योंकि अन्य वेद केवल द्विजमात्र के लिए उपयोगी तथा उपादेय होते हैं। परन्तु नाट्य का उपयोग प्रत्येक वर्ण के लिए है। प्रत्येक व्यक्ति इस आनन्द का अधिकारी माना गया है। नाटक का प्रभाव किसी एक प्रकार की अभिरुचिवाले लोगों के ऊपर नहीं होता प्रत्युत वह सार्वजनिक मनोरञ्जन होने के कारण

उद्देश्य

१ सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। तद्धि चित्रं चित्रपटवद् विशेषसाकल्यात्—वामन—काव्यालंकारसूत्र १।३।३०, ३१।

समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए ग्राह्य तथा उपादेय होता है। नाटक का विषय भी सीमित नहीं होता प्रत्युत तीनों लोक के भावों का अनुकीर्तन इसमें रहता है[1]। यह शक्ति-हीनों के हृदय में शक्ति का सञ्चार कराता है। शूरवीरों के हृदय में उत्साह बढ़ाता है, अज्ञानियों को ज्ञान प्रदान कराता है और विद्वानों की विद्वत्ताका उत्कर्ष करता है। नाटक है लोक-वृत्त का अनुकरण[2]। इस विशाल विश्व के पट पर सुख दुःख की जो प्रवृत्तियाँ अपना खेल दिखाया करती हैं तथा मानवजीवन को सुखमय या दुःखमय बनाती हैं उन सब का चित्रण नाटक का अपना विशिष्ट उद्देश्य है। इसीलिए भरतमुनि का कहना है कि कोई भी ऐसा ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग अथवा कर्म नहीं है जो इस नाट्य में नहीं दिखलाई पड़ता[3]। इसीलिए कालिदास ने भिन्न रुचिवाले लोगों के लिए नाटक को एक सामान्य मनोरञ्जन का साधन बतलाया है[4]।

दृश्यकाव्य के लिए 'रूपक' शब्द का व्यवहार करना उचित है। रूपक दश प्रकार का होता है जिसका महत्त्वपूर्ण प्रकार नाटक माना जाता है। नाटक के अतिरिक्त रूपक के भेद ये हैं—(१) प्रकरण (२) भाण (३) प्रहसन (४) डिम (५) व्यायोग (६) समवकार (७) वीथि (८) अङ्क (९) ईहामृग। इनके सिवाय १८ प्रकार

प्रकार

---

१ त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्।

२ नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्॥

—नाट्यशास्त्र १।१०९

३ न तज् ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥

—नाट्यशास्त्र १।११४

४ नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्। —कालिदास

के उपरूपकों का भी नाम तथा लक्षण नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में मिलते हैं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि संस्कृत का रूपक साहित्य बड़ा विशाल, व्यापक तथा नानारूपात्मक है। परन्तु दुःख है इन सब प्रकारों के उदाहरण-स्वरूप ग्रन्थ आजकल उपलब्ध नहीं है।

प्राचीनता

संस्कृत साहित्य में नाटकों की उत्पत्ति बहुत प्राचीन काल में हो चुकी थी। वैदिक युग में भी नाट्य के अस्तित्व का परिचय हमें भली भाँति चलता है। ऋग्वेद के सूक्तों से ज्ञात होता है कि सोम-विक्रय के समय एक प्रकार का अभिनय हुआ करता था जिसका उद्देश्य दर्शकों का मनोरञ्जन था। 'महाव्रतस्तोम' के अवसर पर कुमारियाँ अग्नि की परिक्रमा करती हुई नाचती तथा गाती थीं। यजुर्वेद में नट्' शब्द तो नहीं परन्तु 'शैलूष' शब्द उपलब्ध होता है। ऋग्वेद में अनेक सूक्त विद्यमान हैं जिनमें भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का आपस में कथनोपकथन है। इन्हीं सूक्तों को 'सम्वाद सूक्त' कहते हैं। इसमें नाटकीय अंश अवश्य विद्यमान है। सामवेद तो संगीत का आकर ही ठहरा। सामों का गायन भिन्न-भिन्न स्वरों में इतनी मधुरता के साथ किया जाता था कि श्रोताओं का हृदय आनन्द से आप्यायित हो जाता था। इससे स्पष्ट है कि नाट्य के विकास के लिए नृत्य, गीत, वाद्य आदि जिन आवश्यक उपादानों की आवश्यकता होती है उनकी सत्ता प्रचुर-मात्रा में वैदिक युग में थी।

रामायण और महाभारत के युग में इस कोमल कला की ओर भारतीयों का ध्यान था, इस विषय में तनिक भी सन्देह नहीं है। रामायण में 'शैलूष' 'नट' तथा 'नर्तक' का उल्लेख अनेक प्रसंगों में किया गया है। वाल्मीकि का कहना है कि जिस जनपद में राजा नहीं रहता उसमें कहीं 'नट' और नर्तक' प्रसन्न दिखाई नहीं देते[1]। रामायण में

१ नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्तकाः—वा. रा. २।६७।१५

'नर्तन' के साथ साथ नाटक के प्रदर्शन का भी वर्णन विद्यमान है। महाभारत में भी 'नट' 'नर्तक' 'गायक' 'सूत्रधार' आदि का निर्देश मिलता है[1]। हरिवंश में जो महाभारत का ही एक अंग है रामचरित के नाटक-रूप में दिखलाये जाने का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि इस युग में नाटक जनसाधारण की श्रद्धा और सम्मान का भाजन था। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में 'शिलालि' तथा 'कृशाश्व' के द्वारा रचित नटसूत्रों का उल्लेख किया है[2]। इससे सिद्ध है कि नाटकों का उस समय इतना प्रचार था कि नटों की शिक्षा के लिए स्वतन्त्र सूत्र ग्रन्थों की रचना होने लगी थी। पतञ्जलि के महाभाष्य में इस विषय की बड़ी ही उपादेय बातें संगृहीत हैं। 'कंसं घातयति'[3] (कंस को मारता है) 'बलिं बन्धयति' (बलि को बाँधता है) में प्रयुक्त वर्तमानकालिक क्रिया का समाधान करते हुए भाष्यकार ने उन नटों ('शोभनिक' या सौभिक) का उल्लेख किया है जो प्रत्यक्ष रूप से सबके सामने कंस को मारते हैं तथा बलि को बाँधते हैं। यहाँ पतञ्जलि ने अपने समय में प्रचलित 'कंसवध' तथा 'बलिबन्ध' नामक नाटकों का उल्लेख किया है। इतना ही नहीं, इनके अभिनय की ओर भी संकेत किया है। उनका कहना है कि कंसवध नाटक में कंस के भक्त लोग तो काला मुख बनाकर अभिनय करते थे और कृष्ण

---

१ आनर्ताश्च तथा सर्वे नटनर्तकगायकाः। वनपर्व १५।१३

२ पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः। ४।३।११०
कर्मन्दकृशाश्वादिनिः ४।३।१११

३ ये तावदेते शोभनिका (सौभिका) नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति, प्रत्यक्षं च बलिं बन्धयन्ति इति।...अतश्च सतः व्यामिश्रा हि दृश्यन्ते केचित् कंसभक्ता भवन्ति केचित् वासुदेवभक्ताः। वर्णान्यत्वं खलु पुष्यन्ति। केचिद्रक्तमुखा भवन्ति केचित् कालमुखाः।

के अनुयायी अपना मुँह लाल रंग से रँगकर अभिनय करते थे। पतञ्जलि का यह कथन इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि विक्रम के पूर्व द्वितीय शतक में नाटकों का अभिनय जनता के मनोरञ्जन का एक अति उत्तम तथा सर्वप्रिय साधन था। कामसूत्र में वात्स्यायन (द्वितीय शतक) ने भी 'नागरक' के मनोरञ्जन का वर्णन करते समय पक्ष या मास के किसी प्रसिद्ध दिन सरस्वती के मन्दिर में समाज (उत्सव) के होने तथा उस समय बाहर से आये हुए नटों (कुशीलवों) के द्वारा अभिनीत नाटकों के प्रदर्शन का उल्लेख किया है[1]। इन सब उल्लेखों से प्रमाणित होता है कि वैदिक काल से लेकर विक्रम के समय तक नाटकों का प्रचलन इस देश में था। नटों की शिक्षा के लिए भी ग्रन्थ रचे गये थे। विक्रम के समय में हमारे आद्य नाटककार कालिदास का प्रादुर्भाव हुआ और तभी से नाटकों की रचना एवं उनके प्रदर्शन की प्रथा अविच्छिन्न रूप से इस भारतवर्ष में चली आ रही है। नाट्यकला भारत की निजी सम्पत्ति है, किसी बाहरी देश से उधार लिया हुआ धन नहीं है।

नाटक की उत्पत्ति

भारत में नाटक की उत्पत्ति कैसे हुई? किन उपादानों को ग्रहण कर भारतीय नाट्यकला का उदय हुआ? ये प्रश्न अत्यन्त जटिल हैं। विद्वानों ने इस विषय की मीमांसा बड़ी छानबीन के साथ की है। पर उनमें से किसी का मत अभ्रान्त या विश्वसनीय नहीं माना जा सकता।

---

१ पक्षस्य मासस्य वा प्रज्ञातेऽहनि सरस्वत्याः भवने नियुक्तानां नित्यं समाजः। कुशीलवाश्चागन्तवः प्रेक्षकमेषां दद्युः।

—कामसूत्र

इसका कारण स्पष्ट है। नाटक समाज के लिये दर्पण के समान होता है। समाज एक प्रकार से टिकने वाली वस्तु नहीं है। समाज में नई विचार धाराओं का प्रवाह ज्यों ज्यों जैसे जैसे आता है, नये भावों की ज्यों ज्यों जागृति होती है, नाटक के रूप में भी वैसा ही परिवर्तन होता रहता है। आजकल भारतीय समाज की जो रूपरेखा है उसके आधार पर जिस प्रकार प्राचीन समाज का स्वरूप निश्चय करना कठिन है उसी प्रकार नाटक की वर्तमान स्थिति का अध्ययन कर उसके मूल कारणों को खोज निकालना नितान्त दुःसाध्य है। पश्चिमी विद्वानों ने इस विषय को खोज निकालने का पर्याप्त उद्योग किया है। उन्होंने पाश्चात्य नाटक की उत्पत्ति के विषय में प्रचलित भिन्न भिन्न मतों को भारतीय नाटक के उत्पत्ति के विषय में भी लागू करने का यत्न किया है। परन्तु हमारी मान्य परम्परा के विरुद्ध होने के कारण ये मत सर्वथा ग्राह्य नहीं किये जा सकते। अतः इन विद्वानों के मतों का संक्षेप में उल्लेख कर देना ही यहाँ पर्याप्त होगा।

डाक्टर रिजवे नाटक की उत्पत्ति वीरपूजा से सम्बद्ध मानते हैं। नाटक प्रणयन की प्रवृत्ति तथा रुचि मरे हुए वीर पुरुषों के प्रति आदर दिखलाने की इच्छा से जाग्रत हुई। जिस प्रकार ग्रीक देश में नाटक (ट्रेजिडी का जन्म मृत पुरुषों के प्रति किये गये सम्मान की प्रक्रिया से हुआ उसी प्रकार भारतवर्ष में भी नाटक वीरपूजा से ही उत्पन्न हुए। रामलीला तथा कृष्ण लीला इस प्रवृत्ति तथा सिद्धान्त को पुष्ट करने वाले आधुनिक उज्ज्वल दृष्टान्त हैं[1]।

डा० रिजवे-मृतकपूजा

यह मत योरोपियन विद्वानों को भी ग्राह्य नहीं है। क्योंकि आज-

---

१ Dr. Ridgeway.—Drama and Dramatic Dances of non-European Races.

कल के प्रचलित नाटकीय उत्सवों के आधार पर नाटक का मूल खोज निकालना साहस का काम है। इसलिये डाक्टर कीथ ने नाटक की उत्पत्ति के विषय में एक नवीन मत की कल्पना की है। उनके मत में प्राकृतिक परिवर्तनों को जन-साधारण के सामने मूर्ति रूप से दिखलाने की अभिलाषा से ही नाटकों का जन्म हुआ है[1]। महाभाष्य में निर्दिष्ट कंसवध नामक नाटक के अभिनय से इस मत को कुछ पुष्टि प्राप्त होती है। भाष्य में लिखा हुआ है कि कंस तथा उनके अनुयायी लोग काले मुख रखते थे तथा कृष्ण और उनके अनुयायी इस नाटक के अभिनय में रक्त मुख धारण करते थे। डाक्टर कीथ का कहना है कि इस नाटक का वसन्त ऋतु का हेमन्त ऋतु पर विजय दिखलाना ही मुख्य उद्देश्य है। कृष्ण का विजय उद्भिज जगत् के भीतर चेष्टा दिखलाने वाली जीवनी शक्ति का प्रतीक मात्र है। इस विचित्र सिद्धान्त के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इसके उद्भवाक को भी इस मत में विश्वास नहीं है। भारतीय ग्रन्थों में तो इसके प्रति संकेत भी नहीं है।

प्राकृतिक परिवर्तनोंका स्थूल चित्रण

जर्मन विद्वान डाक्टर पिशेल नाटक की उत्पत्ति पुत्तलिका नृत्य[2] से बतलाते हैं। इस नृत्य की उत्पत्ति भारतवर्ष में ही हुई और उनके मत से इस नृत्य का प्रचार अन्य देशों में भारत से ही हुआ। सूत्रधार तथा स्थापक आदि शब्दों का मूल अर्थ इस मत का पोषण अवश्य करता हैं। 'सूत्रधार' का मूल अर्थ है 'डोरे को पकड़ने वाला' और 'स्थापक' का अर्थ है किसी वस्तु को लाकर रखने वाला। इन दोनों शब्दों का

पिशेल-पुत्तलिका नृत्य

---

१ Theory of Vegitation Spirit. Keith—Sanskrit Drama pp. 45-48.

२ Dr. Pischel's Theory of Puppet Show.

सम्बन्ध पुत्तलिका-नृत्य से है। डोरी पकड़कर पुतलियों को नचाने वाला व्यक्ति 'सूत्रधार' कहलाता था। भारतीय नाट्य के प्रबन्धक को सूत्रधार कहने का तात्पर्य यही हो सकता है कि भारतीय नाटक की उत्पत्ति पुत्तलिका नृत्य से हुई। इस मत में एकही तथ्य है और वह यह है कि पुत्तलिका नृत्य सबसे पहले भारतवर्ष में ही उत्पन्न हुआ और यहीं से वह अन्य देशों में भी प्रचारित हुआ। परन्तु इस सामान्य नृत्य से रसभाव संवलित नाटक की उत्पत्ति मानना नितांत निराधार तथा प्रमाण-रहित है।

डा० कोनो-छाया नाटक

कुछ विद्वानों की सम्मति में नाटक की उत्पत्ति छाया नाटकों से हुई। इस मत को पुष्ट करने के लिये छाया नाटक के प्राचीन उल्लेख खोज निकाले गये हैं। डाक्टर पिशेल ही इसके उद्भावक हैं तथा इस मत के समर्थकों में डाक्टर लूडर्स तथा डाक्टर कोनो हैं। यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता क्योंकि भारतवर्ष में छाया नाटक की प्राचीनता सिद्ध नहीं की जा सकती। दूतांगद नामक छाया-नाटक संस्कृत में अवश्य प्रसिद्ध है परन्तु वह न तो इतना प्राचीन ही है और न इतना महत्त्वपूर्ण ही। छाया-नाटक जैसे सीधे-सादे उपकरण से भारतीय नाट्यकला का उदय मानना भ्रामक ही है।

कुछ विद्वानों ने नाटक की उत्पत्ति 'मे पोल नृत्य'[२] से निश्चित किया है। पश्चिमी देशों में मई का महीना बड़ाही आनन्द तथा उत्सव का होता है। उस महीने में एक स्थान पर एक लम्बा बाँस गाड़ दिया जाता है।

---

१ Shadow Play. Dr. Sten Konow—Das Indische Drama pp. 45-46

२ May-Pole Theory.

मे-पोल सिद्धान्त — उसके नीचे स्त्रियाँ तथा पुरुष साथ साथ नृत्य किया करते हैं और इस तरह से आनन्दपूर्वक दिन बिताते हैं। यह लोक नृत्य का एक नमूना है। पाश्चात्य विद्वान नाटक की उत्पत्ति इसी मे-पोल से मानते हैं। भारतवर्ष में होने वाला इन्द्रध्वज उत्सव ठीक उसी प्रकार का समझा गया है। अन्य विद्वानों ने इस मत को ध्यान देने के योग्य भी नहीं समझा है। इन्द्रध्वज उत्सव नैपाल आदि देश में अभी तक प्रचलित है। उसका समय, उसके अन्तर्गत भाव तथा उसकी प्रचलित रूढ़ि सब इस मत के विरुद्ध हैं।

सम्वाद सूक्त से नाट्योद्गम

अनेक भारतीय तथा पश्चिमी विद्वान नाटक की उत्पत्ति वेद-मूलक मानते हैं। ऋग्वेद में ऐसे अनेक सूक्त हैं जिनमें एक से अधिक वक्ता हैं। उन सूक्तों को 'सम्वाद सूक्त' कहते हैं क्योंकि अनेक व्यक्तियों का इसमें परस्पर कथनोपकथन दृष्टिगोचर होता है। ऐसे सम्वाद सूक्तों में 'पुरुरवा' तथा 'उर्वशी' का सम्वाद कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक का आधार है, इस विषय में सन्देह करने के लिए अवकाश नहीं है। विद्वानों का कहना है कि इन्हीं सम्वाद सूक्तों में नाट्य के बीज अन्तर्निहित हैं। कालान्तर में इन्हीं बीजों के अङ्कुरित होने से नाट्य का विकास सम्भव हुआ। इन सम्वाद सूक्तों के स्वरूप तथा उनसे नाट्य के विकसित होने के विषय में विद्वानों की विभिन्न धारणाएँ हैं :—

(क) जर्मन विद्वान् डाक्टर श्रोडर[1] का मत है कि ये सम्वाद सूक्त गायन तथा नर्तन के साथ वस्तुतः अभिनीत किये जाते थे। ये स्वयं

---

१ Dr. Schroeder.

धार्मिक नाटक[1] हैं जिनका अभिनय यज्ञ के विशिष्ट अवसरों पर नृत्य गीत तथा-वाद्य के उपकरणों के साथ याज्ञिकों के द्वारा किया जाता था। आजकल बङ्गाल में जिन धार्मिक 'यात्राओं' का प्रचलन है वे इन्हीं नाटकों के विकसित वर्तमान रूप हैं।

नाना मत

(ख) डाक्टर हर्टल[2] का मत है कि ये सम्वाद सूक्त वस्तुतः गाये जाते थे और गाने के लिए एक से अधिक व्यक्ति रखे जाते थे, क्योंकि सम्वाद का प्रदर्शन एक व्यक्ति के द्वारा कथमपि नहीं हो सकता। उनके कथनानुसार इन्हीं सूक्तों में नाटक के बीज हैं।

(ग) डाक्टर कीथ इस मत में आस्था नहीं रखते। उनका कहना है कि ये सम्वाद सूक्त ऋग्वेद में उपलब्ध होते हैं जिनका केवल 'शंसन' मात्र होता था। गायन का प्रयोग तो केवल सामवेद में होता है। इसीलिए सामगायन करने वाले ऋत्विक को उद्‌गाता कहते हैं और ऋग्वेद के मन्त्रों के उच्चारण करने वाले ऋत्विज् को होता कहते हैं। ये सम्वाद सूक्त अनेक प्रकार के हैं, कहीं तत्त्वों का विचार हैं तो कहीं किसी ऐतिहासिक घटना का उल्लेख है। मूलतः इनका विषय व्यावहारिक है और नाटकों के बीज इन सूक्तों में माने जा सकते हैं।

(घ) जर्मनी के कुछ मान्य विद्वान्—जिनमें डाक्टर विण्डिश[3] ओल्डेनबर्ग[4] और पिशेल मुख्य हैं—इन सम्वाद सूक्तों के स्वरूप का वर्णन कुछ नये ढंग से ही करते हैं। उनकी सम्मति में ये सम्वाद सूक्त गद्य पद्यात्मक थे। पद्य भाग अधिक रोचक तथा मञ्जुल होने से अवशिष्ट रह गया है परन्तु गद्य भाग केवल वर्णनात्मक होने से धीरे धीरे लुप्त हो गया है। इसे वे लोग 'आख्यान' के नाम से पुकारते हैं। नाटक में जो गद्य और पद्य का सम्मिश्रण है वह पिशेल की राय में इन्ही सम्वाद सूक्तों

---

१ Ritual drama. २ Dr. Hertel
३ Dr. Windisch. ४ Dr. Oldenberg.

के अनुकरण पर है। डाक्टर ओल्डेनबर्ग ऐतरेयब्राह्मण के 'शुनःशेप' उपाख्यान तथा शतपथ ब्राह्मण में आये हुए 'पुरुरवा उर्वशी' की कथा इन्हीं आख्यानों का अवशिष्ट रूप मानते हैं।

भरत का नाटकोत्पत्ति-विषयक मत

नाटकोत्पत्ति के विषय में भारतवर्ष में कुछ कथाएँ परम्परा से चली आई है। इसमें सबसे प्राचीन वह प्रतीत होती है जो भारतीय नाट्य-शास्त्र के प्रथम अध्याय में मिलती है। यहाँ उसी का सारांश दिया जाता है। सांसारिक मनुष्यों को अत्यन्त खिन्न देखकर इन्द्रादि देवताओं ने ब्रह्मा के पास जाकर ऐसे वेद के निर्माण करने की प्रार्थना की जिससे वेद के अनधिकारी स्त्री शूद्रादि सभी लोगों का मनोरंजन हो। यह सुनकर ब्रह्मा ने चारो वेदों का ध्यान कर ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर 'नाट्यवेद' नामक पञ्चमवेद की रचना की[1] और इन्द्र से कुशल और प्रगल्भ देवताओं में इसका प्रचार करने को कहा। इन्द्र ने कहा कि देवता लोग नाट्य कर्म में कुशल नहीं है। वेदों के मर्म जानने वाले मुनिजन इसका ग्रहण और प्रयोग करने में समर्थ है। अतः ब्रह्मा के कथनानुसार भरतमुनि ने अपने पुत्रों को इसकी शिक्षा दी। यह प्रयोग भारती, सात्यवती, आरभटी वृत्ति में शुरू हुआ। बाद में कैशिकी वृत्ति जोड़ी गई जिसका प्रदर्शन

---

१ जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।
नाट्यशास्त्र अध्याय १ श्लोक १७

स्त्री-पात्र के बिना नहीं हो सकता था। अतः उन्होंने अप्सराओं की कल्पना की। भरतमुनि इन सब वस्तुओं से सुसज्जित होकर ब्रह्माजी के पास गए और आगे का प्रयोग पूछा। ब्रह्माजी के कथनानुसार इन्द्र के ध्वजोत्सव में इस नाट्यवेद का सर्वप्रथम प्रयोग किया गया। इस प्रयोग को देखकर देवता लोग अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने पात्रों को अनेक वस्तुएँ पारितोषिक रूप में दी। प्रयोग का विषय था इन्द्र विजय। इस प्रयोग में देवों का उत्कर्ष और दैत्यों का अपकर्ष देखकर दैत्य अत्यन्त क्रुद्ध हुए और विघ्न करने लगे। इन्द्र ने इन विघ्नों का उत्पात जानकर अपनी ध्वजा से सब विघ्नों को जर्जर कर दिया। और उसी से उस ध्वजा का नाम 'जर्जर' पड़ गया[1]। इन विघ्नों से बचे रहने के लिए इन्द्र ने विश्वकर्मा को नाट्यगृह बनाने की आज्ञा दी। इसके बन जाने पर स्वयं ब्रह्मा ने देवताओं की स्थापना की जिससे पात्रों तथा नाटक के प्रयोग की रक्षा हो। दैत्यों को सम्बोधित कर ब्रह्मा ने कहा कि यह नाट्यवेद देव और दैत्य दोनों के लिए है। इसमें धर्म, क्रीड़ा, हास्य और युद्ध सभी विषय हैं। ऐसा कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग और कर्म नहीं है जो नाट्य में न हो[2]। नाट्य तो त्रैलोक्य भावों का कीर्तन है। ऐसी कौन वस्तु है जिसका प्रदर्शन और प्रयोग इसमें नहीं किया जाता। जिस प्रकार दैत्यों के पराजय का वर्णन है उसी प्रकार अन्य प्रयोगों

---

१ नाट्यविध्वंसिभिः सर्वैयेन ते जर्जरीकृताः।
तस्मात् जर्जर इत्येवं नामतोऽयं भविष्यति ॥

नाट्यशास्त्र अ० १ श्लो० ७४

२ न तत् ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत् कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥

नाट्यशास्त्र अ० १ श्लो० ११३

में देवताओं का पराजय भी दिखाया जा सकता है। इतना समझाने पर किसी प्रकार दैत्य लोग शान्त हुए और नाटक निर्विघ्न होने लगा। पहला अभिनीत नाटक त्रिपुर-दाह नामक डिम तथा समुद्रमन्थन नामक समवकार थे।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि भारतीय विद्वान् नाट्य को वेद से आविर्भूत मानते हैं। सुखमय सत्ययुग में इसकी कल्पना थी ही नहीं। इसकी उत्पत्ति तो त्रेता में हुई जब दुःखों का आविर्भाव जगतीतल पर हुआ। भारतवर्ष में आरम्भ से ही नाट्य के प्रयोग में स्वाभाविकता रही है। पुरुषों की भूमिका पुरुष ग्रहण करते थे और स्त्रियों की भूमिका स्त्रियाँ ग्रहण करती थीं। पुरुषों का स्त्रीभूमिका ग्रहण करना नितान्त अनुचित है। इस अस्वाभाविक प्रथा का निराकरण पाश्चात्य जगत् ने गत शताब्दी में ही किया है। नाटक की व्यापकता तथा प्रभावशीलता सर्वत्र स्वीकृत है। भरत के वर्णन से स्पष्ट है कि नाट्य की उत्पत्ति धर्म से सम्बद्ध है। नाटक के विकास में वैष्णव धर्म का विशेष हाथ है। पतञ्जलि ने जिन नाट्यप्रयोगों का (कंसवध तथा बलिबन्धन का) उल्लेख किया है वे विष्णुचरित से सम्बद्ध हैं। नाटक में शौरसेनी की प्रधानता भी यही सूचित करती है कि नाटक के विकास में शूरसेन देश (मथुरा) में कृष्णभक्ति का विशेष प्रभाव था।

भारतीय नाटक पर ग्रीक प्रभाव

नाटक भारतीयों की प्रतिभा का विकाश है अथवा इसे विकसित होने में ग्रीक देश की नाट्यकला भी कारणभूत है? इन प्रश्नों ने विद्वानों का ध्यान विशिष्ट रूप से आकृष्ट किया है। जर्मन विद्वान् डाक्टर वेबर ने प्रथमतः संस्कृत नाटकों पर ग्रीक प्रभाव पड़ने की बात उठाई। इसका उत्तर डा० पिशेल ने इतना संयुक्तिक दिया कि कुछ दिनों तक

इसकी चर्चा दब गई। पुनः डा० विण्डिश ने इस प्रश्न की विस्तृत मीमांसा कर ग्रीक प्रभाव के स्वरूप को नई खोजों के आधार पर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। डा० वेबर का कहना है कि नाटक के उपादान प्राचीन संस्कृत साहित्य में इतने अल्प हैं कि उनके आधार पर नाटक जैसी कमनीय कला का उदय नहीं हो सकता। सिकन्दर नाटकों का बड़ा प्रेमी था। उसके दरबार में नाटकों का खूब अभिनय होता था। बैक्ट्रिया तथा पंजाब के ग्रीक राजाओं के दरबार में नाटकों का खूब प्रचार था। इसी का प्रभाव संस्कृत नाटकों पर पड़ा। भारतीय प्रतिभा नवीन प्रभावों को आत्मसात् करने में नितान्त प्रवीण थी। अतः नाटक का विकास स्वतः अपनी प्रतिभा के बल पर नहीं हुआ, प्रत्युत ग्रीक नाटकों के अभिनय देखकर भारतीयों को इस दिशा में प्रेरणा तथा स्फूर्ति मिली। परन्तु यह सिद्धान्त नितान्त उपेक्षणीय है। जिन आधारों पर यह विशाल किला खड़ा किया गया है वह बिल्कुल लचर तथा एकदम दुर्बल है।

डा० विण्डिश का कहना है कि न्यू एटिक कामेडी[1] भारतीय नाटकों पर ग्रीक प्रभाव पड़ने का मूल स्रोत है। इस प्रकार के सुखान्त नाटकों में समाज का विस्तृत चित्रण रहता है। ईसा के प्रथम तथा द्वितीय शताब्दी में रोम तथा भारत से बड़ा व्यापारिक सम्बन्ध था। बेरिगाज़ा (आधुनिक भड़ौंच) इस रोमन व्यापार का प्रधान बन्दरगाह था। उज्जैनी में लिखित मृच्छकटिक के ऊपर ग्रीक नाटकों का प्रकृष्ट प्रभाव पड़ा है। परन्तु इस न्यू कामेडी तथा संस्कृत नाटक का सम्पर्क और सादृश्य वस्तुतः बहुत ही कम है। रोमन नाटकों के समान संस्कृत नाटक अंकों में विभक्त हैं जिनके अन्त में प्रत्येक पात्र का निर्गमन अनिवार्य होता है, परन्तु यह विभाजन स्वतन्त्र रूप से सिद्ध हो सकता है। मृच्छकटिक को तृतीय शतक की रचना मानकर उसे कालिदास से प्राचीन

---

१ New Attic Comedy (340-260. B. C.)

मानना कथमपि न्याय्य नहीं है। मृच्छकटिक न तो इतना पुराना है और न उसके कथानक तथा पात्र-विश्लेषण में कोई नवीनता ही है। भासका 'दरिद्र चारुदत्त' मृच्छकटिक का आधार है। इसका वस्तु अन्य नाटकों से कथमपि भिन्न नहीं है। ऐसी दशा में ग्रीक प्रभाव की कल्पना केवल इसी प्रमाण के आधार पर करना अनुचित है।

संस्कृत नाटकों में यवनि स्त्रियों का उल्लेख मिलता है। अभिज्ञान शाकुन्तल के द्वितीय अंक में वनमाला धारण करने वाली धनुर्धारिणी यवनियाँ राजा दुष्यन्त की परिचारिका के रूप में चित्रित की गई है[1]। परन्तु इस उल्लेखमात्र से अभीष्टसिद्धि नहीं हो सकती। रोमन भौगोलिकों ने स्पष्ट लिखा है कि रोम तथा भारत में गहरा व्यापार होता था जिसमें शराब, गानेवाले लड़के तथा सुन्दर दासियाँ रोम से भेजी जाती थी। इन श्वेताङ्गी रोमन ललनाओं ने भारतीय राजा लोगों की दृष्टि अपनी ओर आकृष्ट किया था। वे उन्हें दासी बनाकर अपने महलों में रखते थे। इसी सामाजिक घटना के आधार पर संस्कृत नाटकों का यह वर्णन है। इससे ग्रीक नाटकों के प्रभाव पड़ने का समर्थन कथमपि नहीं होता।

'यवनिका' शब्द को इस प्रसङ्ग में बड़ा महत्त्व प्रदान किया गया है। उस बड़ी इमारत के खड़ा होने के लिए यह मजबूत नींव समझा जाता है जिसे पाश्चात्य पण्डितों ने ग्रीक प्रभाव को पुष्ट करने के लिए खड़ा किया है। इस शब्द की विशेष छानबीन करने पर हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं वह निम्नलिखित है:—

(१) नाट्य ग्रन्थों में 'यवनिका' शब्द का अप्रयोग।—

किसी भी नाट्यग्रन्थ में यवनिका (परदा) शब्द का प्रयोग नहीं मिलता

---

१ एसो बाणासनहत्थाहि जवनीहि वनपुप्फमालाधारिणीहि परिवुदो इदो एव्व आअच्छदि पिअवअस्सो।

न किसी प्राचीन नाटक में ही इसका दर्शन होता है।' कालिदास, श्रीहर्ष भवभूति आदि के नाटकों में 'यवनिका' शब्द का अभाव है। केवल १०वीं शताब्दी के आरम्भ में राजशेखर ने 'कर्पूरमंजरी' में 'जवनिकान्तरं' का प्रयोग किया है जिसका संस्कृत रूप 'यवनिकान्तर' भ्रम से मान लिया गया है।

(२) मूल शब्द 'जवनिका', 'यवनिका' नहीं।

'जवनिका' मूल तथा प्राचीन शब्द है। अमरसिंह ने इसका प्रयोग खेमा (दूष्य—पटवस्त्र) को चारों ओर से ढाँकनेवाले कपड़े के लिये किया है जिसे आज कल 'कनात' कहते हैं—"प्रतिसीरा जवनिका स्यात् तिरस्करणी च सा" (अमर २।६।१२०)। इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—वह परदा जिसमें लोग दौड़कर चले जाँय। 'जवन्तेऽस्याम्'—क्षीर स्वामी। जवन्त्यस्याम् जुः सौत्रो गतौ वेगे च। ल्युट् स्वार्थे कन्-रामाश्रमी। शब्दकल्पद्रुम की व्याख्या है—जवनं वेगेन प्रतिरोधनमस्ति अस्याः। जवन ठन् टाप् च। 'जु' धातु से ल्युट् करने से यह निष्पन्न हुआ है। इसके तीन अर्थ होते हैं—एक तो कनात, दूसरा नाव पर तानने के लिये पाल तथा तीसरा परदा सामान्यरूप से। इस तीसरे अर्थ में इसका प्रयोग संस्कृत साहित्य में बहुशः किया गया है—

मायाजवनिकाच्छन्नमज्ञाधोक्षजमव्ययम्।
न लक्ष्यसे मूढ़दृशा नटो नाट्यधरो यथा॥ —भागवत १।८।१९

समीरशिशिरः शिरःसु वसतां।
सतां जवनिका निकामसुखिनाम्॥ —शिशुपालवध ४।५४
नरः संसारान्ते विशति यमधानीजवनिकाम्। —भर्तृहरि

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि संस्कृत कोषों में परदा के अर्थ में जवनिका शब्द ही मिलता है। कहीं कहीं जवनिका के स्थान पर 'यमनिका' शब्द भी पाठान्तर रूप से मिलता है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि जवनिका

शब्द ही मूल शब्द है। गलती से उसे यवनिका का रूप दे दिया गया है। सबसे विशेष बात ध्यान देने की यह है कि जवनिका शब्द नाट्य-शास्त्र का पारिभाषिक शब्द है ही नहीं। यह तो बोलचाल में परदा के अर्थ में व्यवहृत होनेवाला सर्वसाधारण शब्द है।

(३) ग्रीक नाटकों में जवनिका का अभाव।

ग्रीक नाटक में स्वयं परदे का चाल नहीं था। वहाँ दर्शकों की संख्या इतनी अधिक होती थी कि उनकी सुगमता के लिये रंगमंच बड़ा ऊँचा बनाया जाता था। उस पर किसी प्रकार का परदा नहीं था। इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि ग्रीक नाटकों का प्रभाव भारतीय-नाटकों पर बिलकुल नहीं पड़ा है। यवनिका शब्द के आधार पर की गई यह कल्पना नितांत भ्रामक तथा निराधार है। जब ग्रीक नाटकों में परदा ही न था, तब भारतीयों ने परदा लिया कहाँ से? 'जवनिका' की यह समीक्षा 'मूले कुठाराघातः' की लोकोक्ति चरितार्थ कर रही है।

संस्कृत नाटकों की विशिष्टता

संस्कृत नाटक ग्रीक नाटक से इतने मौलिक अंशों में भिन्न है कि बाहरी प्रभाव उनके ऊपर कथमपि माना नहीं जा सकता। ग्रीक नाटकों के भेद हैं—(१) सुखान्त नाटक (कामेडी) तथा (२) दुःखान्त नाटक (ट्रेजिडी)। परन्तु भारतीय नाटक में इस वर्गीकरण का सर्वथा अभाव है। संस्कृत साहित्य में दुःखान्त नाटक ही नहीं है। यही तो इसके उपर दोषारोपण का प्रधान बीज है। (२) संस्कृत नाटकों का परिमाण दूसरे साहित्य के नाटकों से बहुत ही अधिक है। अकेला मृच्छकटिक ग्रीक नाट्यकार एसकिलस के तीन नाटकों के बराबर है। (३) संस्कृत और प्राकृत का मिश्रण संस्कृत नाटकों की अपनी विशेषता है। यहाँ नायक और प्रधान पुरुष पात्र संस्कृत का प्रयोग करते हैं और स्त्रियाँ

प्राकृत का। इस प्रकार का भाषासम्मिश्रण कहीं अन्यत्र नहीं मिलता। (४) संस्कृत नाटकों के विभागों को 'अंक' कहते हैं। अंक की समाप्ति होने पर सब पात्रों का रङ्गमञ्च से चला जाना आवश्यक होता है। फ्रेञ्च नाटकों में भी यही प्रथा है। नाटक का अंकों में विभाजन एक नई वस्तु है जो ग्रीक नाटकों में उपलब्ध नहीं होती। पाश्चात्यरूपकों में अंकों का विभाग रोमन लोगों ने आविष्कृत किया। परन्तु कोई भी विद्वान् कालक्रम में पर्याप्त भिन्नता होने के कारण रोमन नाटकों का प्रभाव संस्कृत नाटकों पर नहीं मानता। (५) विदूषक की कल्पना भी एक निराली वस्तु है। उसके जोड़ का पात्र ग्रीक नाटकों में नहीं है। वह नायक का मित्र होता है, दास नहीं। उसका कार्य केवल हास्यरस का उत्पादन ही नहीं है प्रत्युत नायक को अनेक कार्यों में सहायता प्रदान करना है। (६) संस्कृत नाटकों के आख्यान (वस्तु) नितान्त मौलिक तथा भारतीय हैं। वह रामायण, महाभारत आदि से गृहीत हैं। उसमें किसी प्रकार का विदेशी कथाओं का मिश्रण नहीं दीख पड़ता।

इस प्रकार संस्कृत तथा ग्रीक नाटकों में इतने मुख्य विभेद हैं कि दोनों को नितान्त स्वतंत्र, और एक दूसरे से अप्रभावित रचना मानना ही न्यायसंगत है।[1]

१ विशेष के लिये द्रष्टव्य—Banerjee: Hellenism in Ancient India pp-240-65.

नाटक का अभ्युदय

१—कालिदास

हमारे आद्य नाटककार कालिदास हैं जिनके जीवन चरित तथा समय का निरूपण पिछले अध्याय में हमने किया। यहाँ केवल इनके नाटकों का सामान्य परिचय दिया जाता है।

(१) मालविकाग्निमित्र—इसमें पाँच अंक हैं। इस नाटक में शुंगवंशी राजा अग्निमित्र तथा मालविका की प्रेमकहानी निबद्ध की गई है। राजा की पत्नियों में आपस का डाह, राजा की कामपरायणता, प्रधान महिषी धारिणी की धीरता तथा चतुरता आदि विषय अच्छी तरह दिखलाये गये हैं।

(२) विक्रमोर्वशीय—इसमें पाँच अंक हैं। इस त्रोटक में पुरुरवा और उर्वशी की प्रेमलीला वर्णित है पुरवा के विरह का अच्छा दृश्य दिखाया गया है। कविता भी ऊँचे दर्जे की है। पुरुरवा और उर्वशी का आख्यान ऋग्वेद में संवाद के द्वारा वर्णित है। शतपथ ब्राह्मण में भी वह विस्तृत रूप से लिखा गया। कालिदास ने इसी प्राचीन आख्यान को एक रमणीय रूपक का रूप दे डाला है।

(३) शाकुन्तल अथवा अभिज्ञानशकुन्तल—यह कालिदास का सबसे प्रसिद्ध नाटक है। भारतीय आलोचकों ने इसे नाटक-साहित्य में सब से श्रेष्ठ बतलाया है—'काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला।' पश्चिमी विद्वानों ने भी इसे अत्युत्तम नाटक माना है। इस नाटक में सात अंक हैं। पहले अंक में हस्तिनापुर का राजा दुष्यन्त आखेट करने के लिये वन में जाता है और संयोगवश महर्षि कण्व के आश्रम में शकुन्तला से साक्षात्कार करता है। उसकी जन्मकथा सुन उसके हृदय में शकुन्तला

प्राकृत का। इस प्रकार का भाषासम्मिश्रण कहीं अन्यत्र नहीं मिलता। (४) संस्कृत नाटकों के विभागों को 'अंक' कहते हैं। अंक की समाप्ति होने पर सब पात्रों का रङ्गमञ्च से चला जाना आवश्यक होता है। फ्रेञ्च नाटकों में भी यही प्रथा है। नाटक का अंकों में विभाजन एक नई वस्तु है जो ग्रीक नाटकों में उपलब्ध नहीं होती। पाश्चात्यरूपकों में अंकों का विभाग रोमन लोगों ने आविष्कृत किया। परन्तु कोई भी विद्वान् काल-क्रम में पर्याप्त भिन्नता होने के कारण रोमन नाटकों का प्रभाव संस्कृत नाटकों पर नहीं मानता। (५) विदूषक की कल्पना भी एक निराली वस्तु है। उसके जोड़ का पात्र ग्रीक नाटकों में नहीं है। वह नायक का मित्र होता है, दास नहीं। उसका कार्य केवल हास्यरस का उत्पादन ही नहीं है प्रत्युत नायक को अनेक कार्यों में सहायता प्रदान करना है। (६) संस्कृत नाटकों के आख्यान (वस्तु) नितान्त मौलिक तथा भारतीय हैं। वह रामायण, महाभारत आदि से गृहीत हैं। उसमें किसी प्रकार का विदेशी कथाओं का मिश्रण नहीं दीख पड़ता।

इस प्रकार संस्कृत तथा ग्रीक नाटकों में इतने मुख्य विभेद हैं कि दोनों को नितान्त स्वतंत्र, और एक दूसरे से अप्रभावित रचना मानना ही न्यायसंगत है।[1]

---

१ विशेष के लिये द्रष्टव्य—Banerjee: Hellenism in Ancient India pp-240-65.

नाटक का अभ्युदय

१—कालिदास

हमारे आद्य नाटककार कालिदास हैं जिनके जीवन चरित तथा समय का निरूपण पिछले अध्याय में हमने किया। यहाँ केवल इनके नाटकों का सामान्य परिचय दिया जाता है।

(१) मालविकाग्निमित्र—इसमें पाँच अंक हैं। इस नाटक में शुंगवंशी राजा अग्निमित्र तथा मालविका की प्रेमकहानी निबद्ध की गई है। राजा की पत्नियों में आपस का डाह, राजा की कामपरायणता, प्रधान महिषी धारिणी की धीरता तथा चतुरता आदि विषय अच्छी तरह दिखलाये गये हैं।

(२) विक्रमोर्वशीय—इसमें पाँच अंक हैं। इस त्रोटक में पुरुरवा और उर्वशी की प्रेमलीला वर्णित है पुरवा के विरह का अच्छा दृश्य दिखाया गया है। कविता भी ऊँचे दर्जे की है। पुरुरवा और उर्वशी का आख्यान ऋग्वेद में संवाद के द्वारा वर्णित है। शतपथ ब्राह्मण में भी वह विस्तृत रूप से लिखा गया। कालिदास ने इसी प्राचीन आख्यान को एक रमणीय रूपक का रूप दे डाला है।

(३) शाकुन्तल अथवा अभिज्ञानशकुन्तल—यह कालिदास का सबसे प्रसिद्ध नाटक है। भारतीय आलोचकों ने इसे नाटक-साहित्य में सब से श्रेष्ठ बतलाया है—'काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला।' पश्चिमी विद्वानों ने भी इसे अत्युत्तम नाटक माना है। इस नाटक में सात अंक हैं। पहले अंक में हस्तिनापुर का राजा दुष्यन्त आखेट करने के लिये वन में जाता है और संयोगवश महर्षि कण्व के आश्रम में शकुन्तला से साक्षात्कार करता है। उसकी जन्मकथा सुन उसके हृदय में शकुन्तला

के लिये अनुराग उत्पन्न होता है। द्वितीय अंक में ऋषियों की प्रार्थना पर आश्रम की रक्षा करने के लिये वह स्वयं वहीं रह जाता है। तृतीय अंक में राजा और शकुन्तला का समागम है। चतुर्थ अंक में कण्व तीर्थयात्रा से लौटकर आश्रम में आते हैं और शकुन्तला को आपन्नसत्त्वा जान गौतमी तथा शारद्वत और शार्ङ्गरव नामक दो शिष्यों के साथ हस्तिनापुर भेजते हैं। शकुन्तला का आश्रम से जाने का दृश्य बड़ा ही करुणोत्पादक है। यह चतुर्थ अंक शकुन्तला में सब से अच्छा समझा जाता है—'तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कः'। पञ्चम अंक में शकुन्तला हस्तिनापुर पहुँचती है परन्तु दुर्वासा के अभिशाप के कारण राजा उसे पहचानता नहीं। इस प्रत्याख्यान के बाद ऋषियों के चले जाने पर शकुन्तला को कोई दिव्य ज्योति आकाश में उठा ले जाती है और मारीच के आश्रम में वह अपनी माता मेनका के साथ निवास करती है। षष्ठ अंक में राजा की नामाङ्कित अँगूठी मछुये के पास से राजा को मिलती है। उसे देखतेही दुष्यन्त को शकुन्तला की स्मृति हो जाती है; वह अपनी प्रियतमा के प्रत्याख्यान से अत्यन्त विह्वल हो उठता है। अन्त में इन्द्र की सहायता करने के लिये स्वर्गलोक जाता है। सप्तम अंक में दुष्यन्त विजय प्राप्त कर स्वर्ग से लौटता है और मारीच-आश्रम में अपने पुत्र तथा प्रियतमा का साक्षात्कार करता है। इसी मिलन तथा मारीच के आशीर्वाद के साथ नाटक समाप्त होता है।

शकुन्तला कालिदास की अनुपम कृति है। यह आरम्भ से अन्त तक नाट्यकला का प्रदर्शनीय निदर्शन है। साहित्य की दृष्टि से यह तो श्रेष्ठ है ही, साथ ही साथ इसमें आध्यात्मिक रहस्यों की ओर भी संकेत किया गया है। चौथे अंक में 'अयमहं भोः' (मैं यह आया) इस प्रकार के द्वार पर ऊँची पुकार लगानेवाले, पवित्र तपोजीवन के लिये आह्वान करनेवाले, दुर्वासाऋषि अरण्यवास, सादा जीवन विलासरहित

आचरण तथा तपश्चर्या के प्रतीक हैं। छिपे चोर की तरह वृक्षों की ओट से प्रवेश करनेवाला दुष्यन्त विलासिता का प्रतीक हैं। दुर्वासा का तिरस्कार कर दुष्यन्त को अपना हृदय देनेवाली शकुन्तलारूपी भारतभूमि की शोचनीय दशा देखकर किसके हृदय में सहानभूति की सरिता नहीं उमड़ पड़ती ? तपोमार्ग के अवलम्बन करने से असीम शान्ति तथा नित्य अक्षय्य सुख की प्राप्ति देखकर कौन मनुष्य तपोमय जीवन बिताने के लिये शिक्षा नहीं ग्रहण करता ? शकुन्तला की दुर्दशा को दिखलाकर क्या कालिदास ने गान्धर्व विवाह की प्रथा को दूषित नहीं बताया है ?

शाकुन्तल की समीक्षा

शाकुन्तल नाटक कालिदास के ग्रन्थों में ही शीर्ष स्थानीय नहीं है अपितु वह संस्कृत नाटक मणिमाला का शोभामान सुमेरु है—महनीय मध्यमणि है। कथानक पुराना है। महाभारत के आदिपर्व में शकुन्तला तथा दुष्यन्त का आख्यान वर्णित है, परन्तु यह कथानक नितांत नीरस, अरोचक तथा आदर्श विहीन है। दुष्यन्त आश्रम में जाता है। कण्व उपस्थित नहीं है। शकुन्तला से उनकी चार आँखें होती हैं। दोनों के हृदय में परस्पर प्रेम की मधुर भावना जाग्रत हो उठती है, परन्तु किसी प्रौढ़ व्यवहार-कुशला पुरन्ध्री की तरह शकुन्तला बहुवल्लभ-दुष्यन्त से विवाह करना तभी स्वीकार करती है जब वह उसके पुत्र को अपना उत्तराधिकारी बनाने का वचन देता है। दोनों का प्रेममिलन होता है। राजा उसे छोड़कर राजकार्य देखने के लिये हस्तिनापुर चला जाता है। शकुन्तला को पुत्र पैदा होता है—वह बड़ा होता है। कण्व राजा के पास पुत्र के साथ शकुन्तला को भेजते हैं राजा उसे अस्वीकार करता है। ठीक उसी

शाकुन्तल का मूल आख्यान

समय आकाशवाणी होती है—भरस्व पुत्र दौष्यंतिं सत्यमाह शकुन्तला—
'शकुन्तला सच बोलती है। पुत्र तुम्हारा ही है। उसका रक्षण करो।'
राजा तब अपनी जानकारी प्रकट करता है—इस विषय से मैं परिचित था
परन्तु अपने सभासदों के सामने स्वीकार करते हुये लज्जा से हिचकता
था। आकाशवाणी की सचाई पर वह शकुन्तला को अपनी हृदय की
तथा महल की रानी बनाता है। बस महाभारत का यही संक्षिप्त कथा-
नक है—निष्प्राण, निर्जीव तथा निरीह कथानक। दुष्यन्त समाज-भीरु
छली व्यक्ति है जो अपने हृदय की बातें सुनकर अनसुनी कर देता है—
जानकर भी असत्य भाषण करता है। शकुन्तला नितान्त वयस्का नारी
है जिसमें हृदय कम है, मस्तिष्क ही अधिक है—पुत्र के लिये राज्यपद
के वचन पर ही अपना कोमल हृदय देने के लिये तैयार होती है। ऐसे
उपकरणों को कालिदास की अमर लेखनी ने इतना सुन्दर सुसज्जित रूप
दिया है कि उसकी प्रभा विदग्धों के हृदय को स्निग्ध करती है—आदर्श
वादियों के सामने भारतीय संस्कृति के अनुरूप आदर्श की सृष्टि करती
है—सौन्दर्य तथा प्रेम का, स्वार्थ तथा परमार्थ का, लोक तथा परलोक
का अनुपम सामञ्जस्य उपस्थित करती है।

कालिदास ने वस्तुविन्यास में चरित्र चित्रण की सुषमा बनाये रखने
के लिये अनेक परिवर्तन किये हैं। शकुन्तला के शील की रक्षा के लिये
उन्होंने अनुसूया और प्रियम्वदा जैसे सखियों की कल्पना की है जो
अपनी सखी के भविष्य की चिन्ता स्वयं कर उसे चिन्ता-
भार से मुक्त बनाती है। दुष्यन्त के आदर्श चरित्र की
सिद्धि के लिये उन्होंने दुर्वासा के शाप की कल्पना प्रस्तुत
की है। दुष्यन्त जान बूझकर प्रेयसी शकुन्तला के साथ गान्धर्व विवाह
की बात भूल नहीं जाता, प्रत्युत उसके सिर पर जलते जादू की तरह
कोपन ऋषि का अभिशाप चक्कर काट रहा था। राजा अपनी महाभार-

शाकुन्तल में परिवर्तन

तीय प्रतिनिधि के समान अपनी व्याहृता को इच्छापूर्वक विस्मृति के गर्त में नहीं डाल देता। वह तो एक बड़े अभिशाप के वश में होकर अपने आपको ही भूल बैठता है। पञ्चम से लेकर सप्तम अंक की वस्तु—शकुन्तला का प्रत्याख्यान, उसकी तपश्चर्या तथा पुनर्मिलन—कवि के उर्वर मस्तिष्क की अनुपम उपज है। इस प्रकार शाकुन्तल का कथानक दो विरोधी मानस प्रवृत्तियों के तुमुल संघर्ष पर आश्रित है। इन प्रवृत्तियों के नाम हैं—काम और धर्म, वासना और कर्तव्य। नाटक के आरम्भिक तीन अंकों में काम का राज्य है और उत्तरार्ध में धर्म की विजय है। वासना के वश में होने में राजा का पतन होता है परन्तु कर्तव्य की ओर अग्रसर होने पर उसका उत्थान होता है। इस प्रकार समग्र शाकुन्तल नाटक 'धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि' का जीवन्त साहित्यिक दृष्टान्त है।

चरित्र-चित्रण

चरित्र-चित्रण कालिदास की विशिष्टता है। उनके हाथों में निर्जीव दुष्यन्त सजीव हो उठता है; रूक्षप्राया शकुन्तला परम स्निग्ध रूप धारण कर हमारे लोचनों के सामने झाँकती है। दुष्यन्त प्रजावत्सल, उदात्त चरित्र धीरोदात्त नायक है। उसका हृदय धर्मभावना से उत्तान है। ऋषियों के तपोवन में वह शान्त भाव से प्रवेश करता है—अपनी राजस राजसी वेशभूषा को हटाकर वह शान्त चित्त से कण्वाश्रम में प्रवेश करता है; मुनिकन्याओं से शिष्टता से वार्तालाप करता है। आश्रम की रक्षा करने के लिए अपनी ममतामयी माता के स्नेहमय आग्रह को टाल देता है, गन्धर्व-विधि से शकुन्तला से विवाह करता है, उसे बुलाने का वचन भी दे आता है, परन्तु दुर्वासा के शापवश वह हस्तिनापुर जाते ही अपनी प्रेयसी को भूल जाता है। यह हुआ उसका पतन। हरिण का आखेट वह करने जाता है, पर स्वयं काम का शिकार बन जाता है। यदि नाटक का पर्यवसान यहीं हो जाता तो यह एक सामान्य रचना ही बन कर रहता। परन्तु षष्ठ और सप्तम अंकों में

राजा दुष्यन्त पार्थिव जगत् से ऊपर उठता है और आध्यात्मिकता तथा तपस्या की साधना से वह उस दिव्य लोक में पहुँच जाता है जहाँ काम का धर्म से कोई विरोध नहीं होता, भोग और योग का मनोरम सामञ्जस्य घटित होता है; स्वार्थ और परमार्थ घुल-मिलकर एकाकार हो जाते हैं। यह है दुष्यन्त चरित्र का अभ्युत्थान। इसी के प्रदर्शन में कालिदास की कमनीय कला की चरम अभिव्यक्ति है। दुष्यन्त का आदर्श रूप हमें इस घोषणा में मिलता है जिसका सिंहनाद समग्र भारतवर्ष को मुखरित करता था—

येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्॥

शकुन्तला का चरित्र-चित्रण कालिदास ने जिस खूबी के साथ किया है, वह भी अवलोकनीय है। चतुर्थ अंक में कालिदास का प्रकृति प्रेम तथा प्रकृतिदेवी की सजीव मूर्ति का दर्शन किसे रसमय नहीं बनाता? प्रथम अंक में आश्रम का सच्चा वर्णन किया गया है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने दिखलाया है कि अनुसूया प्रियंवदा जैसे सजीव पात्रों के तरह तपोवन का अस्तित्व भी ठीक सजीव है। तपोवन के न रहने पर शकुन्तला कुछ और ही होती। तपोवन का प्रभाव शकुन्तला के चरित्र पर स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है। सच्चा प्रेम पाने का कितना सुन्दर साधन बतलाया गया है। कठिन तपस्या के पहले सच्चा प्रणय पैदा नहीं हो सकता, वह तो केवल कामवासना है। जब तक काम तपस्या के कठोरानल में—वियोग की कराल आग में—दग्ध होकर शुद्ध नहीं बनता, तब तक सच्चा स्नेह उद्भूत ही नहीं होता। दुष्यन्त-शकुन्तला का प्राथमिक प्रेम केवल काम के रंग में ढला था, उसमें स्वार्थ के जहरीले कीट पैदा हो गये थे। प्रत्याख्यान किये जाने पर शकुन्तला शान्त मन से मारीच के आश्रम में तपस्या में अनुरक्त होती है और दुष्यन्त स्वयं पश्चात्ताप तथा वियोग की भीषण वड़वाग्नि में अपने को तप्त कर शुद्ध करता है।

तब कहीं जाकर सच्चे स्नेह की प्रतिमा उनके सामने झलकती है। अतएव जर्मन महाकवि गेटे[1] की यह प्रशस्त प्रशंसा कितनी औचित्यपूर्ण है। गेटे की प्रशंसा का यह संस्कृतरूप है :—

वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यत्,
यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम् ॥
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो—
रैश्वर्यं यदि वांछसि प्रियसखे ! शाकुन्तलं सेव्यताम् ॥

कवीन्द्र रवीन्द्र ने शेक्सपिअर के टेम्पेस्ट नाटक तथा कालिदास के शाकुन्तला का सुन्दर सरस विषय तारतम्य दिखलाया है :—'टेम्पेस्ट में शक्ति है, शाकुन्तल में शक्ति है; टेम्पेस्ट में बल के द्वारा जय हुई है और शाकुन्तल में मंगल के द्वारा सिद्धि। टेम्पेस्ट में आधे मार्ग पर विराम हो गया है और शाकुन्तल में सम्पूर्णता का अवसान है। टेम्पेस्ट में मिरांडा सरल माधुर्य से परिपूर्ण है, परन्तु इस सरलता का नीव अज्ञता-अनभिज्ञता-पर अवलम्बित है; शकुन्तला की सरलता अपराध, दुःख, अभिज्ञता धैर्य तथा क्षमा से परिपक्व गम्भीर तथा स्थायी है। गेटे की समालोचना का अनुसरण कर मैं फिर भी यही कहता हूँ कि शकुन्तला के आरम्भ के तरुणसौन्दर्य ने मङ्गलमय परम परिणति से सफलता प्राप्त कर मर्त्य को स्वर्ग के साथ सम्मिलित करा दिया है।'

---

[1] Wouldst thou the life's young blossoms and fruits of its decline,
And by which the soul is pleased, enraptured feasted, fed—
Wouldst thou the earth and heaven itself in one sweet name combine?
I name thee, O Shakuntala, and all at once is said.

सौन्दर्यभावना—कालिदास शृंगार के भावुक कवि माने जाते हैं। अतः उनकी दृष्टि सौन्दर्य की कोमल भावना को पहचानने तथा प्रकट करने में नितान्त चतुर है। उसका रसमय हृदय इन सौन्दर्य वर्णनों में झाँकता हुआ दीख पड़ता है। वे बाह्यप्रकृति और अन्तःप्रकृति के पूरे सामरस्य के उपासक हैं। बाह्य-प्रकृति जो अभिरामता प्रस्तुत करती है वही अभिरामता अन्तःप्रकृति में भी विद्यमान है। तभी तो हमारे कवि की दृष्टि में शकुन्तला कोमल लता के समान लावण्य-मयी प्रतीत होती है—

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सनद्धम्॥

शकुन्तला का अधर नये पल्लव की लालिमा लिए है; बाहू कोमल शाखाओं का अनुकरण करते हुए झुके हुए हैं। विकसित फूल के समान लुभावना यौवन अंगों में प्रस्फुटित हो रहा है। पार्वती के अधर पर मधुर मुस्कान की शोभा वनस्पति जगत से कवि को मिलती है। क्या ही अनूठा वर्णन है—

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यात् मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद् विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य॥

कुमार० १।४४

यदि उजला फूल ईषद् रक्त नये पल्लव पर रखा जाय, और यदि मोती लाल लाल मूँगों पर निहित हो, तभी ये दोनों पार्वती के लाल होठों पर फैली हुई मधुर मुसकराहट की समता पा सकते हैं।

कालिदास रससिद्धि कविराज हैं जिनके यशरूपी शरीर में जरा-मरण का तनिक भी भय नहीं है। जिस रस की ओर उनकी दृष्टि झुकती है उसे ही वे अनूठे तौर पर अभिव्यक्त कर देते हैं, पर शृंगार और करुण रसों की कुछ विलक्षण चारुता इनकी कविता में है। शाकुन्तल में प्रेम और करुण का अपूर्व सम्मेलन है।

शोक, अन्तःकरण की करुणदशा को व्यक्त करनेवाली प्रकृति की यह मूकवाणी, सच्चे सहृदय के अतिरिक्त किसे सुनाई पड़ती है? प्रकृति में मानव-वियोग का यह आन्दोलन बिना किसी मार्मिक कवि के अश्रुअश्रु के क्लिन नेत्रों से प्रत्यक्ष किया जा सकता है? मनुष्य तथा प्रकृति का यह दर्शनीय वियोग किस रसिक की हृदय तन्त्री को निनादित नहीं करता? धन्य हैं कालिदास और धन्य है उसकी सौन्दर्य-वर्णन-चातुरी!

(२) अश्वघोष आधुनिक अनुसंधान के बल पर नाट्यकार रूप में हमारे सामने आये हैं। मध्य एशिया के तुरफान नामक स्थान में पाश्चात्य विद्वानों ने बड़ी खुदाई की है जिसमें अश्वघोष का एक बड़ा प्रकरण उपलब्ध हुआ है। इसका नाम है 'शारिपुत्र प्रकरण'। यह अधूरा ही मिला है। परन्तु जितना अंश उपलब्ध है उसमें प्रकरण के सब लक्षण विद्यमान हैं। इसमें नव अंक हैं। नायक शारिपुत्र धीरप्रशान्त नायक है। नायिका के स्वरूप का ठीक ठीक परिचय नहीं मिलता क्योंकि अंश त्रुटित है। इसी के साथ एक अन्य नाटक के भी कतिपय अंश उपलब्ध हुए हैं जिनमें बुद्धि, कीर्त्ति, धृति रंगमंच पर आती हैं और परस्पर वार्तालाप करती हैं। यह प्रतीक नाटक का अंश प्रतीत होता है।

अश्वघोष

(३) भास

सुविभक्तमुखाद्यंगैः व्यक्त-लक्षणवृत्तिभिः।
परेतोऽपि स्थितो भासः शरीरैरिव नाटकैः॥ —दण्डी

संस्कृत नाटक-साहित्य में महाकवि भास की बड़ी प्रसिद्धि है। कालिदास के समय से ही वे नाटककारों में मूर्धन्य तथा अत्यन्त लोकप्रिय माने जाते थे। मालविकाग्निमित्र का सूत्रधार प्रख्यातकीर्त्ति वाले भास सौमिल्ल तथा कविपुत्र आदि कवियों के प्रबन्धों को छोड़कर वर्तमान कवि,

कालिदास की रचना के प्रति आदर दिखलाने के विषय में प्रश्न पूछता[1] है। यह प्रश्न ही भास की महत्ता, कीर्त्तिमत्ता का पर्याप्त द्योतक है। बाणभट्ट ने भास के नाटकों की विशद प्रशंसा की। उनका कहना है कि भास ने सूत्रधार (नाटक का मैनेजर तथा कारीगर) से आरम्भ किये गये बहुत से भूमिका (पार्ट तथा आँगन) वाले तथा पताका (नाटकीय अवान्तर घटना तथा ध्वजा) से सुशोभित अपने नाटकों से खूब ही यश कमाया[2]। राजशेखर ने भी भास के नाटकचक्र का उल्लेख किया है तथा उनके नाटकों की अग्निपरीक्षा और 'स्वप्नवासवदत्त' के न जलने की बात कही है[3]। इसके अतिरिक्त अलंकार ग्रन्थों में तथा सूक्ति-संग्रहों में भास के श्लाघनीय पद्य उद्धृत किये गये हैं। इतना तो निश्चित है कि कालिदास के पहले नाटकीय कला के कोविद 'भास' नामक कवि अवश्य हुए।

भास के नाटक काल की कराल प्रेरणा से सर्वदा के लिए अस्तंगत हो गये हैं! सौभाग्यवश १९१२ ई० में महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री ने भास के तेरह नाटकों की प्राप्ति की सूचना देकर संस्कृतज्ञों को आनन्द-पूर्ण विस्मय में डाल दिया[4]। इन नाटकों का सामान्य परिचय इस प्रकार है—

---

१ प्रथितयशसां भाससौमिल्ल कविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य कथं वर्तमानस्य कवेः कालिदासस्य कृतौ बहुमानः। मालविकाग्निमित्र

२ सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव॥

३ भासनाटकचक्रेऽपि च्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम्।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः॥

४ ट्रिवेन्ड्रम संस्कृत सीरीज़ में प्रकाशित।

(१) प्रतिमा नाटक—रामवनवास, सीताहरण के आरम्भ कर रावणवध तक की घटनाओं का समावेश इस नाटक में किय । गया है ।

(२) अभिषेक नाटक—इसमें राम के राज्याभिषेक का वर्णन किया गया है । इन दोनों नाटकों में बालकाण्ड को छोड़कर रामायण के शेष काण्डों की कथाएँ आ गई हैं ।

(३) पञ्चरात्र—महाभारत की एक घटना को लेकर यह नाटक रचित है । द्रोण ने दुर्योधन से पाण्डवों को आधा राज्य देने के लिये कहा । दुर्योधन ने प्रतिज्ञा की कि पाँच रातों में यदि पाण्डव मिल जायँगे तो मैं उन्हें राज्य दे दूँगा । द्रोण के प्रयत्न करने पर पाण्डव मिल गये और दुर्योधन ने उन्हें आधा राज्य दे दिया । यह घटना महाभारत में नहीं मिलती ।

(४) मध्यमव्यायोग (५) दूतघटोत्कच (६) कर्णभार (७) दूत-वाक्य (८, उरुभङ्ग—ये नाटक के महाभारत की विशिष्ट घटनाओं से सम्बद्ध है । (९) बालचरित—कृष्ण के बालचरित से सम्बद्ध है । (१०) दरिद्रचारुदत्त—धनहीन परन्तु चरित्रसम्पन्न ब्राह्मण चारुदत्त तथ गुणग्राहिणी वारवनिता वसन्तसेना का आदर्श प्रेम वर्णित है । (११) अविमारक-प्राचीन आख्यायिका का नाटकीय रूप है । (१२) प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण (१३) स्वप्नवासवदत्त—अन्तिम दो नाटकों का संबंध वत्सदेश के राजा उदयन तथा वासवदत्ता के विचित्र प्रेम की मनोरञ्जक घटना से है । इन नाटकों में स्वप्नवासवदत्त अधिक प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय है ।

ऊपर निर्दिष्ट नाटकों में घटना कला, कविता तथा पारिभाषिक शब्दों की इतनी समता है कि इनके एककर्तृत्व के विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता । इन नाटकों के आरम्भ में

'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' मिलता है। संस्कृत के दूसरे नाटकों में यह संकेतवाक्य आशीर्वाद सूचक पद्य या पद्यों के बाद आता है। प्रस्तावना के स्थान पर सर्वत्र 'आमुख' शब्द उपलब्ध होता है। इन सब में 'प्ररोचना' का अभाव है। अर्थात् उनमें न ग्रन्थ का ही नाम दिया हुआ है न ग्रन्थकार का ही। कम से कम चार नाटकों की नान्दी में मुद्रालंकार के द्वारा मुख्य मुख्य पात्रों के नाम की सूचना मिलती है। नाटकों में परस्पर सम्बन्ध भी कम नहीं हैं। कवि-कल्पनायें भी समान रूप से इन नाटकों में पाई जाती हैं। पाणिनि व्याकरण के नियमों की अवहेलना समभाव से सर्वत्र दीख पड़ती हैं यथा—'आपृच्छ' का परस्मैपद में प्रयोग और 'सर्वराज्ञः' 'काशिराज्ञे' जैसे पदों का निवेश। भरतवाक्य में इमामपि महीं कृत्स्नां राजसिंहप्रशास्तु नः'—यह वाक्य नाटकों में एक समान ही आता है। इन्हीं प्रमाणों के आधार पर इन नाटकों की रचना एक कवि की लेखनी से प्रसूत हुई है—यह मानना नितान्त उपयुक्त है।

विकट समस्या यह है कि इन नाट्यों का कर्ता कौन है? इन प्रश्न का उत्तर तीन रूप से दिया जा रहा है। (१) इनके खोज निकालने वाले गणपति शास्त्री का कहना है कि ये नाटक प्राचीन भास के ही हैं। बाणभट्ट ने भास के नाटकों को 'सूत्रधारकृतारम्भैः, बहुभूमिकैः तथा सपताकैः, इन विशेषणों से सम्पन्न बतलाया है। ये लक्षण इन तेरह नाटकों में ठीक-ठीक मिलते हैं। राजशेखर भास के नाटक चक्र का उल्लेख करते हैं और स्वप्नवासवदत्त को उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति बतलाते हैं। सचमुच इन उपलब्ध नाटकों में स्वप्नवासवदत्त नाटकीय कला की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है। अभिनवगुप्त ने 'अभिनव भारती' में स्वप्नवासवदत्त को भास की कृति माना है इसलिये गणपति शास्त्री इन तेरहों नाटकों को भास की असली रचनायें मानने के लिये प्रस्तुत हैं। इस मत को डाक्टर

कीथ, टामस, याकोबी आदि पश्चात्य विद्वानों ने भी प्रामाणिक माना है।

(२) इसके विपरीत पण्डित रामावतार शर्मा, डाक्टर बार्नेट आदि विद्वान् इन नाटकों को भास की असली रचना नहीं मानते। इसका मुख्य कारण यह है कि इनके ग्रन्थों में 'स्वप्नवासवदत्त' का वह श्लोक नहीं मिलता जिसका उद्धरण रामचन्द्र के नाट्यदर्पण में है[1]। इतना ही नहीं, शारदातनय ने अपने भावप्रकाश में स्वप्ननाटक के वस्तु का जो दिग्दर्शन कराया है वह इस स्वप्नवासवदत्त में नहीं मिलता (पृ० २३९)।

(३) तीसरा मत इन दोनों मतों के बीच का है। इस मत के विद्वानों की सम्मति में इन नाटकों का कुछ अंश भासकृत अवश्य है परन्तु कुछ ग्रन्थ ऐसा है जिसे केरल देश के किसी कवि ने अपनी साधारण बुद्धि से गढ़कर जोड़ लिया है। केरलदेश में जहाँ ये नाटक आजकल उपलब्ध हुए हैं 'चाक्यार' नामक एक नटों की जाति निवास करती है जो धार्मिक उत्सवों के अवसर पर प्राचीन कवियों के प्रसिद्ध नाटकों को काँट-छाँटकर अभिनय किया करती है। ये नाटक इन्हीं 'चाक्यारों' को कतर ब्योंत के प्रयास हैं। अतः इन्हें 'भासनाटकचक्र' न कहकर 'केरल-नाटक-चक्र' कहना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। आजकल इसी मत में विद्वानों की अधिक आस्था है।

गणपति शास्त्री के मत में इन नाटकों की रचना पाणिनि से भी पूर्व षष्ठ शतक विक्रमपूर्व में हुई। चाणक्य ने अर्थशास्त्र में प्रतिज्ञायौगन्धरायण' नाटक से एक पद्य उद्धृत किया है[2]। प्रतिमा नाटक में बार्हस्पत्य

---

१ पादाक्रान्तानि पुष्पाणि सोष्मं चेदं शिलातलम्।
नूनं काचिदिहासीना मां दृष्ट्वा सहसा गता॥

२ नवं शरावं सलिलैः सुपूर्णं सुसंस्कृतं दर्भकृतोत्तरीयम्।
तत्तस्य माऽभूत् नरकञ्च गच्छेत् यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युध्येत्॥
—प्रतिज्ञायौगन्धरायण

काल अर्थशास्त्र का नाम निर्दिष्ट है। अपाणिनीय प्रयोगों की बहुलता इन नाटकों में विद्यमान है ही। इन्हीं आधारों पर गणपति शास्त्री का मत अवलम्बित है। डाक्टर बार्नेट इस नाटक-चक्र के कल्पित भास को सप्तम शतक में रखते हैं। डाक्टर लेस्नी प्रिन्टज, सुखथणकर आदि विद्वानों ने इन नाटकों की प्राकृत भाषा की परीक्षा की है और इन्हें कालिदास (पञ्चम शतक) से प्राचीन, परन्तु अश्वघोष (द्वितीय शतक) से अर्वाचीन माना है। अतः इनका समय तृतीय शतक रखना अधिक न्याययुक्त है।

भास के ये नाटक कला की दृष्टि से नितान्त सुन्दर तथा मनोरम हैं। नाटकीय घटनाओं का सन्निवेश इतना सुसङ्गतरूप से दिखलाया गया है कि अस्वाभाविकता इनके पास फटकने तक नहीं पायी है। समीक्षा चरित्रचित्रण में भी भास ने खूब सफलता पायी है। भाषा में एक विचित्र अनूठापन है। वाक्य तो हैं बहुत ही छोटे परन्तु उनमें विचित्र भाव भरा है। भास मानवहृदय के सच्चे पारखी हैं। वाह्य प्रकृति की जानकारी इन्हें कम नहीं है। सच तो यह है कि भास नाटकीय कला के पारङ्गत आचार्य हैं, चरित्रचित्रण के अद्भुत चित्रकार का यह सुन्दर वर्णन कितना हृदयग्राही है—

विस्रब्धं हरिणाश्चरन्त्यचकिता देशागतप्रत्ययाद्
वृक्षाः पुष्पफलैः समृद्धविटपा सर्वे दयारक्षिताः।
भूयिष्ठं कपिलानि गोकुलधनान्यक्षेत्रवत्यो दिशो
निःसंदिग्धमिदं तपोवनमयं धूमो हि बह्वाश्रयः॥

(४) विशाखदत्त

विशाखदत्त का मुद्राराक्षस संस्कृत नाटकों में अपनी महत्ता तथा गौरव से अद्वितीय है। इसका विषय राजनीति या कूटनीति है। वह इतनी पेचीदी है जितनी मानवबुद्धि कल्पना नहीं कर सकती है। इसके रचयिता विशाखदत्त ने प्रस्तावना में अपना जो कुछ परिचय दिया है, उससे पता चलता है कि इनके पितामह वटेश्वरदत्त अथवा वत्सराज किसी देश के सामन्त थे। पिता भास्करदत्त या पृथु ने महाराज की पदवी प्राप्त की थी। राजनीति विशेषतः कौटिल्य अर्थशास्त्र तथा शुक्रनीति के प्रकाण्ड पण्डित होने के अतिरिक्त विशाखदत्त दर्शनशास्त्र विशेषतः न्याय तथा ज्यौतिष के भी पूरे पण्डित थे। वैदिक धर्मावलम्बी होने पर भी उनका मत इतना उदार था कि बुद्धधर्म को वह आदर की दृष्टि से देखते थे। जैनधर्म के प्रति अवश्य उनकी कुछ अनास्था प्रतीत होती है।

मुद्राराक्षस के रचनाकाल के निर्णय के लिये विद्वानों ने विशेष परिश्रम किया है। भरत-वाक्य में एक राजा का नाम आता है जिसे भिन्न-भिन्न हस्तलिखित प्रतियों में दन्तिवर्मा, चन्द्रगुप्त तथा अवन्तिवर्मा बतलाया गया है। इस भरत-वाक्य का आशय यह है कि जिस प्रकार भगवान्

रचनाकाल

विष्णु ने हिरण्याक्ष के उत्पीडनों से सन्तप्त भूतल का उद्धार वाराहरूप धारण किया उसी प्रकार इस समय म्लेच्छों के द्वारा उद्विग्न होनेवाली पृथ्वी की यह पार्थिव अपने भुजबल से रक्षा करे[1] भिन्न २ पाठों के कारण इस ग्रन्थ का समय भिन्न-भिन्न शताब्दियों में

---

१ वाराहीमात्मयोनेस्तनुमवनविधावास्थितस्यानुरूपां
यस्य प्राग्दन्त-कोटिं प्रलयपरिगता शिश्रिये भूतधात्री ॥
म्लेच्छैरुद्वेज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्त्तेः
स श्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवोऽवन्तिवर्मा ॥

रक्खा गया है। (१) दन्तिवर्मा दक्षिण के पल्लव-नरेश माने गये हैं जो ७२० ईस्वी के लगभग राज्य करते थे। यदि यह बात सत्य हो तो इस ग्रन्थ की रचना अष्टम शतक में हुई। परन्तु उस समय किसी भी आक्रमणकारी म्लेच्छ का पता नहीं चलता है जिसके उत्पीडन से रक्षा की प्रार्थना की जाय। (२) डाक्टर जायसवाल ने चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७५–४१३ ई०) विक्रमादित्य को ही इस भरत-वाक्य का विषय माना है। अतः उनके मत से इस ग्रन्थ की रचना ४०० ईस्वी के लगभग हुई। परन्तु यह भी मत ठीक प्रतीत नहीं होता क्योंकि म्लेच्छों (हूणों) का शासनकाल चन्द्रगुप्त के राज्य के लगभग ५० वर्ष पीछे आरम्भ होता है। अतः उनसे भरत-वाक्य की सङ्गति नहीं जमती। ३, टीकाकार ढुण्ढिराज के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य का ही इस भरत-वाक्य में उल्लेख है। परन्तु प्रायः प्रशस्तिवाक्य में नायक से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता। अतः चन्द्रगुप्त से चन्द्रगुप्तमौर्य की सूचना सर्वथा विरुद्ध हैं। (४) अवन्तिवर्मा दो थे। एक काश्मीर के राजा दूसरे कन्नौज के। कन्नौज-नरेश मौखरि वंश के थे और इन्हीं के पुत्र ग्रहवर्मा के साथ थानेश्वर के महाराज श्रीहर्ष की भगिनी राज्यश्री का विवाह हुआ था। इस भरत-वाक्य में इन्हीं का निर्देश ऐतिहासिक रीति से प्रमाणित होता है। इसी समय हूणों का उपद्रव पश्चिमोत्तर भारत (पंजाब) में विशेषरूप से हुआ था। इन हूणों को अवन्तिवर्मा ने थानेश्वर के राजा प्रभाकरवर्द्धन की सहायता से परास्त किया था। यह घटना ५८२ ईस्वी के आसपास की है। अतः इसकी रचना छठीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मानना सर्वथा युक्तियुक्त है।

समीक्षा इस नाटक का मुख्य उद्देश्य राजनीति है जो कुछ भी घटना घटती है वह इसी उद्देश्य को अग्रसर करती जाती है। चाणक्य राक्षस को बुद्धिबल से परास्त कर चन्द्रगुप्त का मन्त्री बनना चाहता है। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिये उसने अपने जिस बुद्धि-वैभव का प्रदर्शन किया है वह राजनीतिज्ञों को भी उलझन में डालने वाला

है। पाश्चात्य विद्वानों की संमति में इस नाटक में घटना की एकता का जितना सुन्दर प्रदर्शन हुआ उतना अन्यत्र नहीं। आदि से लेकर अन्त तक सभी घटनाएँ राक्षस के वशीकरण की ओर ही प्रवृत्त हो रही है। चरित्र-चित्रण में विशाखदत्त विशेष निपुण हैं। इन्होंने अपने पात्रों को युगलरूप में चित्रित किया है—चाणक्य और राक्षस, चन्द्रगुप्त और मलयकेतु, इसी प्रकार के युगल पात्र हैं। चाणक्य और राक्षस दोनों ही कुशल राजनीतिज्ञ हैं। परन्तु चाणक्य दीर्घदर्शी और धीर है; राक्षस अधीर तथा विस्मरणशील है। परन्तु राक्षस में जिस मैत्रीभावना का कवि ने चित्रण किया है वह भारतीय संस्कृति की अपूर्व देन है। चन्द्रगुप्त बड़ा ही योग्य तथा विचारशील शासक है; ठीक इसके विपरीत मलयकेतु बुद्धिहीन अयोग्य तथा अभिमानी, कच्ची बुद्धि का युवक है। वीररस इसका मुख्य रस है। उत्साह प्रत्येक पात्र के हृदय में घर किये हुए हैं। जान पड़ता है कि विशाखदत्त राजनीतिक नाटक लिखने में सिद्धहस्त थे। इनकी दूसरी कृति देवीचन्द्रगुप्त नामक नाटक है। इसके कुछ ही उद्धरण नाट्यग्रन्थों में मिलते हैं। और वे इतिहास की दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। इसी के आधार पर चन्द्रगुप्त के ज्येष्ठ भ्राता रामगुप्त की सत्ता ऐतिहासिकों ने मानी है।

विशाखदत्त की कविता राजनीति-प्रधान नाटक के सर्वथानुकूल है। श्लेष के द्वारा शास्त्रीय उपमाओं का विन्यास बड़ा ही सुन्दर हुआ है। नीचे के श्लोक में नाटककर्ता तथा राजनीति के प्रयोक्ता में बड़ा सुन्दर सादृश्य दिखलाया गया है :—

> कार्योपक्षेपमादौ तनुमपि रचयन् तस्य विस्तारमिच्छन्
> बीजानां गर्भितानां फलमतिगहनं गूढमुद्भेदयँश्च।
> कुर्वन् बुद्धया विमर्शं प्रसृतमपि पुनः संहरन् कार्यजातं
> कर्ता वा नाटकानामिममनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वा॥

—मुद्राराक्षस (४।३)

(५)—शूद्रक

शूद्रकेनासकृज्जित्वा स्वेच्छया खड्गधारया ।
जगद् भूयोऽप्यवष्टब्धं वाचा स्वचरितार्थया ॥ —दण्डी

भारतीय नाटक कर्ताओं में शूद्रक का नाम बड़े ही आदर और सम्मान का विषय है। उनकी मृच्छकटिक नामक कमनीय कृति संस्कृत साहित्य के इतिहास में इनका नाम अमर बनाने के लिये पर्याप्त है। प्रस्तावना की छानबीन करने पर भी शूद्रक का चरित प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। उसमें लिखा है कि शूद्रक ऋग्वेद, सामवेद, गणित, वैशिकी कला आदि शास्त्रों में परम प्रवीण थे। शिव के अनुग्रह से ज्ञान प्राप्त किया, अश्वमेध यज्ञ किया और अन्त में पुत्र को राज्यसिंहासन पर बैठाकर सौ वर्ष दस दिन की आयु पाकर अग्निप्रवेश किया[1]। यह वर्णन स्पष्ट ही प्रक्षिप्त मालूम पड़ता है क्योंकि ग्रन्थ का लेखक अपनी मृत्यु की सूचना स्वयं देगा, यह नितान्त असम्भव है। शूद्रक प्राचीन भारत के इतिहास में प्रसिद्ध कोई राजा भी अवश्य थे जिनकी कथा पीछे के कवियों ने काव्यबद्ध की है। कहा नहीं जा सकता कि ये नृप शूद्रक तथा कवि-शूद्रक एक ही थे या भिन्न व्यक्ति थे।

स्थिति-काल इनकी स्थिति के विषय में विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। इतना तो निश्चित है कि ये वामन तथा दण्डी से प्राचीन हैं। वामन ने शूद्रक के द्वारा रचित प्रबन्धों का ही उल्लेख[2] नहीं किया है प्रत्युत द्यूत की प्रशंसा में मृच्छकटिक का एक वाक्य भी उद्धृत किया है—"द्यूतं हि नाम पुरुषस्य असिंहासनं राज्यम्"। दण्डी ने (सप्तम

---

१ लब्ध्वा चायुः शताब्दं दिनदशसहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः। मृ० १।४

२ शूद्रकादिविरचितेषु प्रबन्धेषु।

शतक) मृच्छकटिक के "लिम्पतीव तमोऽङ्गानि" के अलङ्कार का निरूपण बड़ी छानबीन के साथ किया है। डाक्टर पिशेल तो इसी आधार पर दण्डी को ही मृच्छकटिक का रचयिता मानते थे। परन्तु क्या कोई भी ग्रन्थकार अपने ही पद्य के विषय में इस प्रकार विभिन्न मतों का उल्लेख कर सकता है ? अन्तरङ्ग प्रमाणों से प्रतीत होता है कि शूद्रक के समय में न्याय का प्रबन्ध मनु की व्यवस्था के अनुसार होता था[1]। मृच्छकटिक के नवम अङ्क में (९।३३) में बृहस्पति को अङ्गारक (मंगल) का विरोधी बतलाया गया है। परन्तु प्रसिद्ध ज्यौतिषी वराहमिहिर ने इन दोनों ग्रहों को मित्र माना है। बृहज्जातक के उल्लेख (२।१५) से स्पष्ट है कि वराहमिहिर के पहले ही ऐसी धारणा थी। 'मृच्छकटिक' और 'दरिद्र-चारुदत्त' की तुलना करने से प्रतीत होता है कि भास के सरल प्रेम कथानक को लेकर शूद्रक ने उसे राजविप्लव की घटना का सम्मिश्रण कर अधिक जटिल तथा रोचक बनाने का प्रयत्न किया है। इनसे यही प्रतीत होता है कि शूद्रक भास (तृतीय शतक) से परवर्ती तथा वराहमिहिर (षष्ठ शतक) से पूर्ववर्ती थे। अतः इन्हें पञ्चम शतक में मानना न्याययुक्त प्रतीत होता है।

ग्रन्थ

शूद्रक के लिखे हुए दो ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं। इनमें एक 'पद्म-प्राभृतक' नामक भाण है जिसकी भाषा, कथानक-संविधान तथा वर्ण्य विषयों की विवेचना उसे प्राचीन तथा मृच्छकटिक के रचयिता की कृति सिद्ध कर रही है। दूसरा ग्रन्थ इनका प्रसिद्ध मृच्छकटिक नामक प्रकरण है जिसके दश अङ्कों में शूद्रक ने उज्जयिनी के आदर्श नागरिक, धनाढ्य, परन्तु सम्प्रति दरिद्र चारुदत्त नामक ब्राह्मण तथा वसन्तसेना नाम्नी वारवनिता के आदर्श स्नेह का चित्रण किया है। साथ ही

---

१ अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत्। मृच्छ० ९।३९
न जातु ब्राह्मणं हन्यात्। मनु० ८।३८०

साथ राजा पालक के विरुद्ध आर्यक का षड्यन्त्र तथा उसकी सफलता दिखाकर कवि ने कथावृत्त को खूब ही पल्लवित करने का प्रयत्न किया है।

मृच्छकटिक संस्कृत में लिखे गये सामाजिक नाटकों में अग्रगण्य है। इस प्रकरण में भारतीय समाज का सर्वाङ्गीण चित्रण कवि की कल्पनामयी तूलिका के द्वारा प्रस्तुत किया गया मिलता है। समाज का केवल अभिराम

आलोचना

चित्र ही हमारे सामने नहीं आता, प्रत्युत जघन्य कर्म में लगे हुए लोग भी रङ्ग-मञ्च पर अपना वास्तव स्वरूप दिखलाते हैं। पात्रों की भिन्नता तथा सजीवता के कारण यह रूपक अद्वितीय कृति माना जाता है। इसका नायक चारुदत्त भारतीय नागरिकता तथा आत्मप्रतिष्ठा का जीता जागता नमूना है[1]। वह दीनों का कल्पवृक्ष है, उसमें आत्माभिमान की इतनी मात्रा है कि वह अपने घर से छूछे हाथ लौट जाने वाले चोर की दशा पर विचार कर स्वयं दुःखित होता है। वसन्तसेना के अलङ्कारों की चोरी का उसे पश्चात्ताप नहीं है, प्रत्युत उसके घर में सेंध मारनेवाला चोर विफल मनोरथ होकर नहीं गया, इससे उसे प्रसन्नता होती है। वसन्तसेना वेश्या होने पर भी पवित्र प्रेम का निकेतन है। वह पैसे के लिये अपने प्रेम को बेचना नहीं जानती। उसके कोमल हृदय के कोने में मानवता के लिये आदर है, सज्जनता के लिये स्थान है। इस आदर्शवाद के साथ उज्जयिनी के जुआ खेलनेवालों को रङ्गमञ्च पर लाकर शूद्रक ने इस रूपक में जान फूँक दी है। माथुरक द्यूतकर का चरित्र इतना सुन्दर है कि वह भुलाया नहीं जा सकता। ब्राह्मणवृत्ति

१ दीनानां कल्पवृक्षः स्वगुणफलनतः सज्जनानां कुटुम्बी।
आदर्शः शिक्षितानां सुचरितनिकषः शीलवेलासमुद्रः॥
सत्कर्ता नावमन्ता पुरुषगुणनिधिर्दक्षिणोदारसत्त्वो।
ह्येकः श्लाघ्यः स जीवत्यधिकगुणतया चोच्छ्वसन्तीव चान्ये॥

मृच्छकटिक १।४८

का ज्ञान इन्हें होना स्वाभाविक है। रत्नावली के आरम्भ में होलिकोत्सव का चटकीला वर्णन इनके राज्यवैभव का सूचक है। इनके पात्र भी जीवित पात्र हैं। रत्नावली का वत्सराज धीरललित है तो नागानन्द का नायक जीमूतवाहन धीरोदात्त का सुन्दर प्रतीक है। यदि पहले में विषयवासना की अभिरुचि और कला का प्रेम, दर्शकों को अपनी ओर खींचता है, तो दूसरे का आत्मसमर्पण—परोपकार की वेदी पर अपने प्रियस्वार्थ का बलिदान—स्वार्थियों के हृदय में भी निःस्वार्थ सेवा की भावना जाग्रत करता है।

समीक्षा

> किं पद्मस्य रुचिं न हन्ति नयनानन्दं विधत्ते न किं
> वृद्धिं वा झषकेतनस्य कुरुते नालोकमात्रेण किम्।
> वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरुज्जृम्भते
> दर्पः स्यादमृतेन चेदिह तवाप्यस्त्येव बिम्बाधरे। रत्ना० ३।१३

राजा उदयन सागरिका से कह रहा है कि तुम्हारे चन्द्रवदन के रहने पर वह दूसरा चन्द्रमा क्यों उदय ले रहा है? उदय से यह अपनी जड़ता क्या नहीं प्रदर्शित करता? इसके उदय होने की जरूरत ही क्या थी? तुम्हारा मुख क्या कमल की शोभा को नहीं नष्ट कर देता? क्या वह नेत्रों को आनन्द नहीं देता? देखे जाने से ही क्या वह कामवासना को प्रबल नहीं बनाता? चन्द्रमा के जो कार्य विदित हैं वे तो तेरे मुख में भी विद्यमान हैं। यदि अमृत धारण करने के कारण चन्द्रमा को गर्व है, तो क्या तेरे बिम्बाधर में सुधा नहीं है? तुम्हारे चन्द्रवदन के सामने फिर चन्द्रमा के उदय लेने की ज़रूरत! यह पद्य काव्यप्रकाश में उद्धृत किया गया है (१० उ०)। चन्द्रोदय के समय पूर्व दिशा का यह वर्णन कवि के सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय देता है:—

> उदयतटान्तरितमियं प्राची सूचयति दिङ्निशानाथम्।
> परिपाण्डुना मुखेन प्रियमिव हृदयस्थितं रमणी॥

रत्नावली १.२४

(७) भट्ट नारायण

ओजः-संसूचकैः शब्दैः युद्धोत्साहप्रकाशकैः ।
वेण्यामुज्जृम्भयन् गौडीं भट्टनारायणो बभौ ॥

भट्टनारायण का 'वेणीसंहार' पण्डितसमाज में विशेष प्रसिद्ध है। इस नाटक के द्वारा महाभारत-युद्ध की महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हमारे नेत्रों के सामने सजीव होकर सूझने लगती है। भट्टनारायण के जीवनचरित के विषय में हम नहीं जानते। कहा जाता है कि वे उन पाँच कनौजिया ब्राह्मणों में अन्यतम थे जिन्हें बङ्गाल के राजा 'आदिशूर' ने वैदिकधर्म के प्रचार तथा उद्धार के लिये कन्नौज से अपने देश में बुलाया था। इनके वंशज कुलीन ब्राह्मण आज भी बङ्गाल में विद्यमान हैं। इनके जीवनचरित के विषय में इससे अधिक पता नहीं चलता।

वामन ने अपने काव्यालङ्कार में वेणीसंहार के एक पद की युक्तिमत्ता प्रदर्शित की है। 'पतितं वेत्स्यसि क्षितौ' (वेणीसंहार नाटक) में वामन ने 'वेत्स्यति' को दो पदों में विभक्त करके सिद्ध करने का यत्न किया है।

समय इससे स्पष्ट है कि ८०० ई० के पूर्व ही इस नाटक की रचना हो चुकी थी। आदिशूर के समसामयिक होने से भी यही निष्कर्ष निकलता है। आदिशूर ७१५ ईस्वी में गौडदेश के राजा बने —ऐतिहासिकों का ऐसा कहना है। ये उस वंश के आदिपुरुष हैं जिसने पालवंश के पहले गौडदेश में राज्य किया था। डाक्टर स्टेनकोनो का कहना है कि आदिशूर मगधदेश के गुप्तवंशी नरेश आदित्यसेन से अभिन्न हैं, परन्तु यह कल्पनामात्र है। अतः भट्टनारायण को अष्टम शतक के प्रथमार्ध में मानना ठीक है।

इनकी एक ही कृति है। इसमें छः अङ्क हैं। महाभारत के युद्ध का प्रदर्शन इसका प्रधान विषय है और विषय के अनुरूप ही कवि ने गौडीरीति

तथा ओज गुण का आश्रय लिया है। युद्ध का रङ्गमञ्च पर प्रदर्शन सिद्धान्त विरुद्ध है इसलिये कवि ने वार्तालाप के द्वारा इसकी सूचना दी है। नाटक में जहाँ वर्णनात्मक अंश हैं वहाँ कार्य की गति अवश्य शिथिल होती है। हरएक प्रकार से ये अंश नाटक के सौन्दर्य को कुछ न्यून कर रहे हैं। पात्रों में सजीवता खूब है। धर्मराज की चिन्ता अपनी प्रजा के कल्याण के लिए जितनी अधिक है उतनी अपने शरीर के लिये नहीं। दुर्योधन का अभिमान सजीव होकर दर्शकों के सामने आता है। भीम शौर्य के प्रतिनिधि हैं परन्तु उनमें उतावलापन इतना अधिक है कि कभी-कभी जोश में आकर अपने न्यायी भ्राता युधिष्ठिर के शासन के उल्लङ्घन करने को भी उद्यत हो जाते हैं। अर्जुन में वीरता कूट-कूट कर भरी है। द्रौपदी भारतीय नारी की प्रतिष्ठा तथा आत्मगौरव की सजीव मूर्ति है। इस प्रकार चरित्रचित्रण नितान्त श्लाघनीय हुआ है। केवल द्वितीय अङ्क में युद्ध के अवसर पर दुर्योधन का भानुमती के साथ प्रेम-प्रदर्शन रसदृष्टि से अनुचित हुआ है। मम्मट ने इसे 'अकाण्डे प्रथनम्' (अनुचित स्थान में रस का विस्तार) के अन्तर्गत रक्खा है। नाटकीय सिद्धान्तों के प्रदर्शन के लिये तो यह नाटक तो एक अद्भुत भाण्डागार सा है। धनिक ने दशरूपकावलोक में पञ्चसन्धियों के चौसठ प्रभेदों के लक्षण दिखलाते समय इस नाटक से उदाहरण लिये हैं। यह घटना इस नाटक की लोकप्रियता तथा शास्त्रीयता का प्रमाण है।

समीक्षा

इनकी कविता ओजगुणविशिष्ट है और वीरप्रधान नाटक की प्रकृति के अनुकूल है। यहाँ इसका एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा—

> शाखारोधस्थगितवसुधामण्डले मण्डिताशे
> पीनस्कंधे सुसदृशमहामूलपर्यन्तबन्धे।
> दग्धे दैवात् सुमहति तरौ, तस्य सूक्ष्माङ्कुरेऽस्मिन्
> आशाबन्धं कमपि कुरुते छायार्थी जनोऽयम्॥
>
> —वेणीसंहार ६।२६

(८) भवभूति

जडानामपि चैतन्यं भवभूतेरभूद् गिरा।
ग्रावाप्यरोदीत् पार्वत्या हसतः स्म स्तनादपि ॥

—हरिहर

महाकवि कालिदास की स्पर्धा करने की योग्यता यदि किसी कवि में है तो वह भवभूति में ही है। तिलक-मञ्जरी के रचयिता धनपाल ने भवभूति की सरस्वती को नटी के साथ जो तुलना की है वह यथार्थ है। भवभूति के नाटकों में सचमुच भारती अपना ललित लास्य दिखलाकर सहृदयों का मनोरञ्जन करती है।

भवभूति विदर्भ देश (आधुनिक बरार) के पद्मपुर के निवासी थे। ये काश्यप गोत्री तथा कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के मानने वाले महाराष्ट्र ब्राह्मण थे। इनके पितामह का नाम था भट्ट गोपाल, पिता का नीलकण्ठ, माता का जतुकर्णी तथा इनका व्यक्तिगत नाम था श्रीकण्ठ। उदुम्बर इनकी उपाधि थी। आजकल की शैली का अनुगमन करते हुए इनका पूरा नाम 'श्रीकण्ठ नीलकण्ठ उदुम्बर' होगा। भवभूति तो इनको कवियों द्वारा दिया गया विशिष्ट नाम है। इनके पूर्वज सदाचार तथा वेदाध्ययन के लिये प्रसिद्ध थे। वे पंक्तिपावन तथा पाँच अग्नियों की स्थापना करने वाले सोमयाजी श्रोत्रिय ब्राह्मण थे। इन्होंने अपने गुरु का नाम 'ज्ञाननिधि' बतलाया है। परन्तु दार्शनिक ग्रन्थों में उल्लिखित परम्परा के अनुसार ये मीमांसा के प्रसिद्ध आचार्य कुमारिल के शिष्य थे और दार्शनिक जगत् में इनका नाम 'भट्ट उम्बेक' था।

दर्शन ग्रन्थों में उम्बेक नामक आचार्य के मत तथा वाक्यों का निर्देश बहुशः मिलता है। चित्सुखाचार्य की 'तत्त्वप्रदीपिका' की टीका में 'प्रत्यक्स्वरूप भगवान्' नामक टीकाकार ने उम्बेक की उस टीका का

भवभूति उम्वेक

उल्लेख किया है जिसे उम्वेक ने कुमारिल के 'श्लोकवार्तिक' की एक कारिका पर की है। 'चित्सुखी' में उम्वेक का नाम भी आता है, जिसकी व्याख्या लिखते समय टीकाकार ने उम्वेक और भवभूति को एक ही अभिन्न व्यक्ति बतलाया है। इसके अतिरिक्त 'खण्डनखण्डखाद्य' की विद्याधरी नामक टीका के रचयिता आनन्दपूर्ण ने श्लोकवार्तिक पर लिखी उम्वेक की टीका का उल्लेख किया है। षड्दर्शनसमुच्चय के टीकाकार गुणरत्न (१४०९) ने एक कारिका उद्धृत की है[1] जिसमें उम्वेक को कारिका का ज्ञाता बतलाया है। यह कारिकाग्रन्थ कुमारिल विरचित 'श्लोकवार्तिक' ही है। सौभाग्य से उम्वेक विरचित यह 'श्लोकवार्तिक' की टीका भी हाल ही में प्रकाशित हुई है। इनका दूसरा मीमांसा ग्रन्थ मण्डनमिश्र विरचित 'भावनाविवेक' की टीका है। ये उम्वेक और भवभूति एक ही व्यक्ति थे। 'मालती-माधव' की एक बहुत प्राचीन हस्तलिपि में भवभूति कुमारिल के शिष्य बतलाये गये हैं। प्राचीन परम्परा तथा नाटकों की अन्तरङ्ग परीक्षा करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कुमारिल के शिष्य भट्ट उम्वेक ही हमारे नाटककार भवभूति हैं। कुछ लोग याज्ञवल्क्यस्मृति पर 'बालक्रीडा' नामक टीका लिखने वाले विश्वरूप आचार्य को भी भवभूति से अभिन्न मानते हैं। इस विषय की अधिक छानबीन अपेक्षित है।

राजतरंगिणी से पता चलता है[2] कि भवभूति कान्यकुब्ज के विद्वान् राजा यशोवर्मा के सभापण्डितों में से थे :—

"कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिबन्दिताम् ॥"

---

१ उम्वेकः कारिकां वेत्ति तन्त्रं वेत्ति प्रभाकरः।
वामनस्तूभयं वेत्ति न किञ्चिदपि रेवणः ॥

२ राजतरङ्गिणी ४।१४४।

ये यशोवर्मा कान्यकुब्ज के राजा थे जिन्हें काश्मीर के राजा मुक्तापीड ललितादित्य ने परास्त कर अपने वश में किया था। यह घटना ७३६ ई० के आसपास बताई जाती है। यशोवर्मा की सभा के दूसरे कवि वाक्पति ने भवभूति की कविता को समुद्र कहा है जिसके कतिपय रसमय कण इस कवि की कविता में आज भी स्फुरित हो रहे हैं —

समय

भवभूइ जलहि निग्गय कव्वामयरसकणा इव फुरन्ति।
जस्स विसेसा अज्जवि वियडेषु कहाणिवेसेसु[1] ॥

छाया

भवभूति जलधिनिर्गत काव्यामृत रसकणा इव स्फुरन्ति।
यस्य विशेषा अद्यापि विकटेषु कथानिवेशेषु ॥

इन वाक्पतिराज ने 'गउडवहो' नामक महाकाव्य में यशोवर्मा के द्वारा परास्त किये गये किसी गौडदेशीय राजा का वर्णन किया है। ललितादित्य का समय ७२४ ई०से ७६० ई०माना जाता है। यशोवर्मा इन्हीं के समकालीन थे। 'गौडवध' के ८२९ वें श्लोक में सूर्यग्रहण का उल्लेख है। डाक्टर याकोबी के अनुसार यह सूर्यग्रहण १४ अगस्त ७३३ ई० को पड़ा था। 'गौडवध' की रचना इसी समय में हुई। उस समय तक भवभूति अपने नाटकों के द्वारा पर्याप्त रूप से प्रसिद्ध हो चुके थे। अतः भवभूति का समय ७०० ई० के लगभग मानना नितान्त उचित है। बाण ने इनका नाम निर्दिष्ट नहीं किया है। अतः ये बाणभट्ट के पीछे हुए। वामन पहले आलङ्कारिक हैं जिन्होंने भवभूति के श्लोकों को उद्धृत किया है। अतः इनका समय बाणभट्ट (६२५) तथा वामनभट्ट (८००) के बीच ७०० ई० के आसपास होना चाहिए।

भवभूति में विदग्धता और पाण्डित्य का अपूर्व मिलन है। उन्होंने वेद, उपनिषद्, सांख्य और योग के गाढ अध्ययन की ओर स्वयं संकेत

1 गउडवहो—गाथा ७९९

किया है[1]। वेद तथा दर्शनों का ज्ञान उनका अगाध था। उनके नाटकों में

पाण्डित्य

उनके वैदिक ज्ञान की सूचना अनेक स्थानों पर पायी जाती है। महावीरचरित में पुरोहित की प्रशंसा में 'राष्ट्रगोपाः पुरोहितः' वाला ऐतरेय ब्राह्मण का प्रसिद्ध श्लोक उद्धृत किया गया है। उपनिषद तत्त्व के तो वे परम ज्ञाता थे। उत्तर रामचरित में उन्होंने जनक के मुख से 'असूर्या नाम ते लोकाः' (ईशावास्योपनिषद्) की व्याख्या करायी है तथा 'विद्याकल्पेन मरुताम्' (उत्तर० ६।६) श्लोक के द्वारा औपनिषद अद्वैतवाद का तात्त्विक वर्णन किया है। मालती-माधव में योग तथा तन्त्र का विशिष्टज्ञान दिखलाया गया है। भवभूति की भाषा में दर्शन के पारिभाषिक शब्द इस सरलता से अनायास आते हैं कि जान पड़ता है कि नाटककार इन दर्शनों के चिन्तन में सदा संलग्न रहा है। सचमुच भवभूति संस्कृत भारती के बेजोड़ कवि हैं जिनमें पाण्डित्य और वैदग्ध्य का अनुपम मिलन सहृदयों के हृदय में चमत्कार तथा आनन्द का स्रोत बहाता है।

भवभूति की तीन रचनाएँ मिलती है और तीनों ही रूपक हैं।

रचनाएँ

इन नाटकों की रचना का क्रम निम्नलिखित प्रकार से प्रतीत होता हैं—

१—महावीरचरित—इसमें रामचरित का पूरा वर्णन नाटकीयरूप में किया गया है। इसमें छः अङ्क हैं। इस नाटक में कथानक के ऐक्य प्रदर्शन करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया गया है। राम के विरुद्ध जितने

---

१ यद्वेदाध्ययनं तथोपनिषदां सांख्यस्य योगस्य च
ज्ञानं तत्कथनेन किं न हि ततः कश्चिद् गुणो नाटके ॥
यत्प्रौढत्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवं
तच्चेदस्ति ततस्तदेव गमकं पाण्डित्य वैदग्ध्ययोः ॥
—मालती-माधव १।७

कार्य किये गये हैं वे सब रावण की प्रेरणा से ही। राम का चरित नितान्त उदात्त तथा वीरभावापन्न है। इस नाटक में वीररस की प्रधानता है। राम को आदर्श पुरुष के रूप में दिखलाने के उद्देश्य से भवभूति ने राम के कितने ही दोषों को भिन्न रूप से प्रदर्शित किया है। बाली रावण का सहायक बनकर राम से लड़ने आया था, इसीलिये राम ने उसका वध किया।

२—मालती-माधव—यह दश अङ्कों का एक विशाल प्रकरण है। वस्तु कविकल्पनाप्रसूत है। मालती तथा माधव का प्रेम-प्रसङ्ग बड़े सुन्दर ढंग से चित्रित किया गया है। इसमें यौवन के उन्मादक प्रेम का बड़ा ही रसीला चित्रण है। पूरे प्रकरण में प्रेम की बड़ी ही ऊँची उदात्त कल्पना दर्शकों के सामने रखी गयी है। धर्म से विरोध करने वाले प्रेम को भवभूति के समाज के लिये हानिकारक समझ उसकी उपेक्षा कर दी है।

३—उत्तर रामचरित—इसका विषय सीता वनवास से आरम्भ होकर राम-सीता का पुनर्मिलन है। इसमें सात अङ्क हैं। यह नाटक भवभूति की नाट्यप्रतिभा का सर्वोच्च उदाहरण माना जाता है। तीसरा अङ्क (छाया अङ्क) तो करुण रस के चित्रण के लिये सर्वत्र प्रसिद्ध है। सहृदयों की सम्मति है कि उत्तर रामचरित में भवभूति कालिदास से भी बढ़ गये हैं—

उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते।

भवभूति का संस्कृत भाषा के ऊपर अगाध प्रभुत्व है। वाग्देवी वश्या होकर उनकी आज्ञा के पालन करने में तत्पर हैं। उनकी कविता में भाव और भाषा का अनुपम सामञ्जस्य है। उनके युद्धवर्णन इतने सजीव और स्वाभाविक हैं कि जान पड़ता है कि दर्शकों के सामने वे भयावह दृश्य झूमने लगते हैं। विश्वास नहीं होता कि जो कवि लम्बे समासों से गुम्फित ओजगुणविशिष्ट पद्यों की रचना कर सकता है वही समास-विहीन लघुकाय अनुष्टुप् की भी सृष्टि कर सकता है। इनकी विशेषता है शब्दों

के द्वारा अर्थों को झंकृत करना। भवभूति ने उज्ज्वल उदात्त प्रेम का चित्रण किया है। अन्य कवियों का प्रेम सांसारिक वासना से भरा हुआ काममात्र है परन्तु भवभूति का प्रेम इन सब से निराला अपने ढंग का है। सच्चे प्रेम की परिभाषा वस्तुतः श्लाघा की पात्री है (उ० १।३९)—

> अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यत्
> विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः ॥
> कालेनावरणात्ययात्परिणते यत् स्नेहसारे स्थितम् ।
> भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते ॥

भवभूति मानव हृदय के सूक्ष्म भावों के सच्चे परीक्षक थे। किसी अवस्था विशेष में मनुष्यों के हृदय में जो नाना प्रकार की भावनाओं का खेल हुआ करता है उसका ठीक उचित भाषा में जैसा वर्णन भवभूति ने किया है वैसा अन्यत्र मिलना नितान्त दुर्लभ है। बारह वर्ष के वियोग के अनन्तर अपने प्रियतम राम के वचनों को सुनकर सीता के हृदय में जो निराशा, जो शोक, जो आश्चर्य एक साथ उत्पन्न होता है उसका चित्रण भवभूति ने बड़ी ही मार्मिकता से किया है (उत्तर० ३ १३)—

> तटस्थं नैराश्यादपि च कलुषं विप्रियवशात्
> वियोगे दीर्घेऽस्मिन् झटिति घटनोत्तम्भितमिव ।
> प्रसन्नं सौजन्याद्दयितकरुणैर्गाढकरुणं
> द्रवीभूतं प्रेम्णा तव हृदयमस्मिन् क्षण इव ॥

भवभूति मानवीय प्रकृति के जितने सच्चे चित्रकार हैं वैसे बाह्य-प्रकृति के भी। प्रकृति में जो उदात्त तथा भावोत्तेजक रूप दीख पड़ते हैं उनके साथ भवभूति के हृदय की एकरसता थी। घने जंगलों में, जल-प्रपातों में तथा गगनचुम्बी पर्वतों में प्रकृति का जो मनोहर तथा भयावह सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है उसकी परख तथा समुचित शब्दों के द्वारा उनका विन्यास भवभूति की कविता की विशेषता है। कालिदास प्रकृति

के उसी अंश के निरीक्षण करने सिद्धहस्त हैं जो कोमल तथा मृदुल है; परन्तु भवभूति की दृष्टि प्रकृति के भयोत्पादक तथा लोमहर्षण स्वरूप को परखने में सिद्धहस्त है। उत्तर रामचरित (२ अंक) में दण्डकारण्य का वर्णन इसका उत्कृष्ट उदाहरण है।

भवभूति रससिद्ध कवि हैं। वीर और करुण रस का वर्णन भवभूति की सिद्ध सरस्वती का विलास है। वीरों का गर्वीला गर्जन, अस्त्रों की झङ्कार, स्यन्दनों की झनझनाहट, बाणों की सनसनाहट—ये सब वस्तुएँ हमारे सामने सच्ची युद्धभूमि का चित्र हठात् उपस्थित कर देती है। मालती-माधव में श्रृंगार का सुन्दर चित्रण हैं। श्मशान दृश्य में बीभत्स और भयानक का अद्भुत मिश्रण है। परन्तु भवभूति सबसे अधिक करुण रस के चित्रण में सिद्धहस्त हैं। उनकी दृष्टि में सब रसों में मुख्यतम रस करुण ही है। रस सामग्री की विभिन्नता के कारण वह भिन्न होता हुआ भिन्न-भिन्न परिणामों को धारण करता है। एक ही जल कभी भँवर के, कभी बुद्बुद के और कभी तरङ्गों के रूप में आता है पर सब वास्तव में जल ही है[1]। करुण रस के चित्रण की इसी निपुणता के कारण गोवर्धनाचार्य ने भवभूति के बारे में ठीक ही कहा है—

> भवभूतेः सम्बन्धाद् भूधरभूरेव भारती भाति।
> एतत्कृत—कारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा॥

भवभूति की अपेक्षा कालिदास कला की दृष्टि से ऊँचे माने जाते हैं। जहाँ कालिदास व्यञ्जना के द्वारा चुने हुए शब्दों में रस की अभिव्यक्ति

---

१ एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
　भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
　आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारा-
　नम्भो यथा सलिलमेव हि तत् समग्रम्॥　　(उत्तर० ३।४७)

करते हैं, वहाँ भवभूति विशेष विस्तार दिखलाते हैं। कालिदास के पात्र जहाँ आँसू के एक-दो-बूँदें ही गिराकर रह जाते हैं, वहाँ भवभूति के पात्र भावावेश से बारम्बार मूर्छित होते रहते हैं। कुछ आलोचकों का कहना है कि भवभूति की प्रतिभा गीतिकाव्य के योग्य है, नाटक के उपयुक्त नहीं। उत्तर रामचरित में घटना की विचित्रता बहुत कम है। घटनाओं के लगातार प्रवाह—गतिशीलता—की कमी है। उत्तर रामचरित रङ्गमञ्च के लिये उतना उपयुक्त नहीं है जितना एकान्त पठन के लिये। कुछ अंश में यह आलोचना ठीक है, परन्तु अभिनयशीलता ही नाटक की उत्तमत्ता की कसौटी नहीं है। महान् नाटक वही है जिसमें किसी स्थायी विषय का निरूपण हो और इस दृष्टि से भवभूति के नाटक विश्वसाहित्य के अङ्ग हैं जिनमें धर्म और काम का, प्रेम और मोह का, ललित संघर्ष प्रदर्शित किया गया है।

(९) अनङ्गहर्ष

मायुराजसमो जज्ञे नान्यः कलचुरिः कविः।
उदन्वतः समुत्तस्थुः कति वा तुहिनांशवः॥

—राजशेखर

अनङ्गहर्ष का दूसरा नाम "मातृराज" था। ये किसी देश के महाराजा थे। प्रस्तावना से पता चलता है कि इनके पिता का नाम "नरेन्द्रवर्धन" था। राजशेखर के कथन से ये चेदिदेश के कलचुरिवंशीय राजा प्रतीत होते हैं। इनका असली नाम माउराज था जिसका संस्कृतरूप 'मातृराज' इस ग्रन्थ में निर्दिष्ट है। प्राचीनकाल में इनकी गणना संस्कृत के विशिष्ट नाटक-कर्ताओं में थी। इनके नाटक 'तापस वत्सराज' के उद्धरण अलंकारशास्त्र के प्राचीन सुप्रसिद्ध ग्रन्थों में बहुलता से उपलब्ध होते हैं। भोज ने इनके अनेक पद्य शृङ्गारप्रकाश तथा सरस्वतीकण्ठाभरण में उद्धृत किये हैं। वक्रोक्तिजीवित में कुन्तक

ने इनके बहुत से पद्यों को उद्धृत कर उनकी समीक्षा की है। लोचन में तथा ध्वन्यालोक में इनके पद्य उद्धृत हैं जिससे इनका समय आनन्दवर्धन (८५० ई०) से पूर्व सिद्ध होता है। तापस वत्सराज में 'सांकृत्यायनी' नामक बौद्ध भिक्षुणी अवतीर्ण हुई है। यह स्पष्ट ही भवभूति की कामन्दकी का अनुकरण है। अतः अनङ्गहर्ष का समय भवभूति तथा आनन्दवर्धन के बीच में है। अष्टमशतक के उत्तरार्ध में इनका आविर्भाव-काल मानना नितान्त युक्तसंगत है।

रचना

इनकी प्रधान रचना 'तापस वत्सराज' है जिसमें ६ अङ्क हैं। राजा उदयन वासवदत्ता के वियोग में तापस बन जाता है और प्रयाग में आत्महत्या करने के लिये तैयार होता है। अनेक युक्तियों से उसके प्राणों की रक्षा की जाती है और पद्मावती के साथ उसका विवाह सम्पन्न होता है। वत्सराज-विषयक नाटकों में इस नाटक का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ की एक ही प्रति बर्लिन लाइब्रेरी में संरक्षित है। उसी के आधार पर इसका संस्करण मैसूर से प्रकाशित हुआ है।

इस नाटक में सरल तथा सुबोध भाषा का प्रयोग किया गया है। कथानक को अलंकृत करने का प्रयत्न कवि ने अच्छे ढंग से किया है। शार्दूल-विक्रीडित वृत्तों का यहाँ बहुल तथा रुचिर प्रयोग पाया जाता है। भाषा के सुबोध होने के कारण से यह नाटक चित्त के ऊपर अपना प्रभाव जल्दी जमाता है। राजा अपने विरह का वर्णन बड़े सुन्दर शब्दों में कर रहा है (१।१४)—

> तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन दिवसो नीतः प्रदोषस्तथा
> तद्गोष्ठ्यैव निशापि मन्मथकृतोत्साहैस्तदङ्गार्पणैः।
> तां संप्रत्यपि मार्गदत्तनयनां द्रष्टुं प्रवृत्तस्य मे
> बद्धोत्कण्ठमिदं मनः किमथवा प्रेमा समाप्तोत्सवः।।

(१०) मुरारि

मुरारिपदभक्तिश्चेत्तदा माघे रतिं कुरु।
मुरारिपदभक्तिश्चेत्तदा माऽघे रतिं कुरु॥

मुरारि की केवल एकमात्र रचना मिलती है और उसका नाम है 'अनर्घराघव' नाटक। ये मौद्गल्य-गोत्री श्रीवर्धमानक तथा तन्तुमती देवी के पुत्र थे। कवि ने अपने लिये बड़ी भड़कीली उपाधि 'बाल'वाल्मीकि' की रखी है। इनकी कविता में वर्णनों के अतिरिक्त कोई विशेष चमत्कार नहीं दिखलाई पड़ता जिससे हम इस उपाधि को युक्तियुक्त समझें। सूक्तिग्रन्थों में उद्धृत इनके प्रशंसात्मक पद्यों से प्रतीत होता है कि ये माघ तथा भवभूति के अनन्तर आविर्भूत हुए[1]। एक आलोचक का कहना है कि वे भवभूति (शङ्कर और कवि) के पक्षपाती नहीं हैं; इसलिये वे मुरारि (कृष्ण तथा कवि) के पद (चरण और शब्द) की चिन्ता में अपने चित्त को लगा रहे हैं[2]। यह कथन मुरारि को भवभूति से पश्चाद्वर्ती नाटककार बतला रहा है। रत्नाकर ने अपने हरविजय में श्लेषरूप से कविवर मुरारि का उल्लेख किया है[3]। अतः मुरारि को रत्नाकर से (८२५ ई०) पूर्ववर्ती मानना उचित है। इस प्रकार भवभूति और रत्नाकर के बीच में—अष्टम शतक के उत्तरार्ध में—मुरारि की सत्ता निश्चित की जा सकती है।

समय

---

१ मुरारि-पदचिन्तायां भवभूतेस्तु का कथा।
भवभूतिं परित्यज्य मुरारिमुररीकुरु॥

२ भवभूतिमनादृत्य निर्वाणमतिना मया।
मुरारिपदचिन्तायामिदमाधीयते मनः॥

३ अङ्कोत्थ-नाटक इवोत्तमनायकस्य।
नाशं कविर्व्यधित यस्य मुरारिरित्थम्॥ —हरविजय ३८।६७

इनका अनर्घराघव सात अङ्कों में समाप्त हुआ है। प्रस्तावना में सूत्रधार का यह कहना है कि रौद्र, बीभत्स, भयानक तथा अद्भुत रस से युक्त नाटक के अभिनय को देखते-देखते दर्शक लोग उद्विग्न हो गये हैं। अतः वे 'अभिमत रस' से युक्त नाटक का अभिनय देखना चाहते हैं। इस कथन में भवभूति के नाटकों पर व्यङ्ग्य कसा गया है। भवभूति के होते हुए मुरारि का अपने समर्थन में यही कहना है कि उनका नाटक वीर और अद्भुत रस से युक्त तथा गम्भीर और उदात्त वस्तु से सम्पन्न है। अतएव समस्त काव्य रसिकों को आनन्द देने वाला है[1]। कवि की यह उक्ति मार्मिक अवश्य है। इन्होंने अपने नाटक द्वारा इस उक्ति को चरितार्थ करने का प्रयत्न अवश्य किया है पर आलोचकों की दृष्टि में यह प्रयत्न प्रयासमात्र रहा है, इन्हें सफलता नहीं मिली है। भवभूति के अनन्तर रामकथा पर नाटक लिखना कोई सरल काम नहीं था। सफलता उसी कवि की चेरी बनकर रहती है जिसमें काव्य प्रतिभा प्रचुरमात्रा में विद्यमान रहती है। मुरारि में इसका नितान्त अभाव था। अतः नाटक की दृष्टि से अनर्घराघव सफल प्रयास नहीं कहा जा सकता। कविता पर्याप्त रूप में अच्छी है। सप्तम अङ्क में राम के लङ्का से अयोध्या आते समय मुरारि ने रघुवंश के तेरहवें सर्ग का अनुसरण किया है। कविता में प्रौढ़ता है, ओज का प्रकर्ष है, वर्णन की बहुलता है; परन्तु हम उस सुकुमारता को नहीं पाते जो हमें कालिदास की कविता में मिलती है, और न वह मानवहृदय के भावों की परख पाते हैं जिसके कारण भवभूति के नाटक सहृदयों का मनोरञ्जन करते हैं।

---

१ तस्मै वीराद्भुतारम्भगम्भीरोदात्तवस्तवे ।
जगदानन्दकाव्याय सन्दर्भाय त्वरामहे ॥
—१।१६

११ राजशेखर

समाधिगुणशालिन्यः प्रसन्नपरिपक्त्रिमाः ।
यायावरकवेर्वाचो मुनीनामिव वृत्तयः ॥
—धनपाल ।

कविराज राजशेखर के जीवनवृत्त से हम विशेषतः परिचित हैं। उन्होंने अपनी जीवनी नाटकों की प्रस्तावना में विस्तार के साथ दी है। ये यायावर वंश में उत्पन्न हुए थे। यह वंश कवियों के प्रसव के लिए कल्पतरु था। इसी कुल को अकालजलद, सुरानन्द, तरल, कविराज आदि अनेक कवियों ने अलंकृत किया था। ये महाराष्ट्रचूडामणि कविवर अकालजलद के प्रपौत्र थे तथा दुर्दुक और शीलवती के पुत्र थे। इन्होंने अवन्तिसुन्दरी नामक चौहानवंशी क्षत्रियललना से विवाह किया था। अवन्तिसुन्दरी बड़ी भारी विदुषी थी संस्कृत भाषा की ही नहीं, बल्कि प्राकृत भाषा की भी। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में 'पाक' के विषय में इनके विशिष्ट मत का उल्लेख किया है। 'पाक' के विषय में आचार्य वामन का कथन है कि पदों विन्यास इतना मञ्जुल होना चाहिए कि वे अपने स्थान से हटाए ना जा सकें। इस पर अवन्तिसुन्दरी का कथन है कि यह तो अशक्ति है—कवि की कमजोरी है कि वह एक पद को हटाकर उसके स्थान पर दूसरे अनुरूप पद का प्रयोग नहीं कर सकता[1]। हेमचन्द्रने देशी-नाम-माला में अवन्तिसुन्दरी के 'देशी शब्द कोष' का उल्लेख किया है तथा उसके द्वारा कई शब्दों के जो नये अर्थ किये गये हैं उनका भी उल्लेख किया है। प्राकृत कविता की परख और उसमें रुचि होने का प्रबल प्रमाण इस घटना से भी हो सकता है कि इन्हीं के आदेश

---

१ आग्रहपरिग्रहादपि पदस्थैर्यपर्यवसायः तस्मात्पदानां परिवृत्तिवैमुख्यं 'पाकः' इति वामनीयाः। इयमशक्तिर्न पुनः पाकः इत्यवन्तिसुन्दरी ।
—काव्यमीमांसा, पृष्ठ २०१ ।

से 'कर्पूरमञ्जरी' का प्रथम अभिनय किया गया था। इस प्रकार राजशेखर ने अपने पूर्वजों से कविता की दिव्य प्रतिभा को पैतृक वित्त के रूप में प्राप्त किया था।

ये महाराष्ट्र, सम्भवतः विदर्भ के निवासी थे। परन्तु कान्यकुब्ज के राजा के ये उपाध्याय पद पर विराजते थे। इनके आश्रयदाता का नाम महेन्द्रपाल था जो कन्नौज के प्रतिहारवंशी राजाओं में विशेष गौरवशाली

समय माना जाता है[1]। इन्हीं के आदेश से राजशेखर ने बालरामायण का अभिनय प्रस्तुत किया था। कुछ दिनों के लिए ये दूसरे नरेश के यहाँ चले गये थे जिनकी अध्यक्षता में 'विद्धशालभञ्जिका' का अभिनय किया गया था। यहाँ से लौटकर ये फिर कान्यकुब्ज आये और महेन्द्रपाल के पुत्र महीपाल के सभासद् होकर रहे। इन्हीं के आदेश से 'बालभारत' या 'प्रचण्डपाण्डव' का अभिनय किया गया। इन राजाओं के समकालीन होने से इनका समय नवम का अन्त तथा दशम शताब्दी का पूर्वार्ध मानना उचित होगा।

राजशेखर का पाण्डित्य काव्यक्षेत्र में बहुत बढ़ा चढ़ा था। वे अपने को वाल्मीकि, भर्तृमेण्ठ और भवभूति का अवतार मानते हैं[2]। इससे स्पष्ट है कि राजशेखर ने भवभूति के नाटकों का ही अध्ययन नहीं किया

१—आपन्नार्तिहरः पराक्रमधनः सौजन्यवारां निधिः।
त्यागी सत्यसुधा प्रवाहशशभृत् कान्तः कवीनां गुरुः॥
वर्ण्यं वा गुणरत्न-रोहण-गिरेः किं तस्य साक्षादसौ,
देवो यस्य महेन्द्रपालनृपतिः शिष्यो रघुग्रामणीः॥

—बालरामायण १।१८

२ बभूव वल्मीकभवः कविः पुरा ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः॥

पाण्डित्य था अपि तु वाल्मीकि के रामायण तथा भर्तृमेण्ठ हयग्रीव-वध का भी गाढ़ अनुशीलन किया था। राजशेखर की प्रतिभा महाकाव्य की रचना के उपयुक्त थी, नाटकनिर्माण के लिए वह उतनी अनुरूप न थी। उक्त महाकाव्य रचयिताओं के प्रति समधिक आदर दिखलाने का भी यही रहस्य है। इन्होंने अपने को 'कविराज' कहा है। थे भूगोल के बड़े भारी ज्ञाता थे। भारत के प्राचीन भूगोल की अनुपम सामग्री काव्यमीमांसा में भरी पड़ी है। इन्होंने इस विषय पर 'भुवनकोष' नामक ग्रन्थ भी बनाया था जो आजकल उपलब्ध नहीं होता। बालरामायण का दशम अङ्क भौगोलिक वर्णन से भरा पड़ा है।

काव्यमीमांसा के अनुसार कवि की दश अवस्थाओं में 'महाकवि' के पद से बढ़कर 'कविराज' का पद स्वीकृत किया गया है। जो केवल एक प्रकार के प्रबन्ध में प्रवीण होता है वह 'महाकवि' कहलाता है परन्तु कविराज का दर्जा इससे एक सीढ़ी बढ़कर है। जो सब भाषाओं में, सब प्रबन्धों में और भिन्न-भिन्न रसों में, स्वतन्त्र होता है, वह 'कविराज' कहा जाता है। संसार में ऐसे रससिद्ध कविराज विरले होते हैं[1]। राजशेखर वस्तुतः कविराज थे। संस्कृत, प्राकृत, पैशाची तथा अपभ्रंश भाषाओं में इनकी अबाध गति थी, तथा इन भाषाओं में इनकी ललित लेखनी कमनीय कविता की सृष्टि करती थी। राजशेखर का यह बहुभाषाविज्ञान एक विलक्षण वस्तु है। उन्होंने स्वयं इस तथ्य को प्रकट किया है—

गिरः श्रव्या दिव्याः प्रकृतिमधुराः प्राकृतधुराः
सुभव्योऽपभ्रंशः सरसरचनं भूतवचनम्।
विभिन्नाः पन्थानः किमपि कमनीयाश्च त इमे
निबद्धा यस्त्वेषां स खलु निखिलेऽस्मिन् कविवृषा॥

१ योऽन्यतरप्रबन्धे प्रवीणः स महाकविः। यस्तु तत्र तत्र भाषा-विशेषे, तेषु प्रबन्धेषु, तस्मिन् तस्मिंश्च रसे स्वतन्त्रः स। कविराजः। ते यदि जगत्यपि कतिपये— काव्यमीमांसा, पृ० १९

इनके काव्य में लोकोक्तियों तथा मुहावरों का विशेष चमत्कार दीख पड़ता है। 'वरं तत्कालोपनता तित्तिरी न पुनः दिवसान्तरिता मयूरी' हिन्दी के 'नवं नगद न तेरह उधार' का ही पुराना प्रतिनिधि है। इनके नाटकों में गतिशीलता का अभाव भले ही हो, परन्तु पात्रों की सजीवता निश्चय ही चमत्कारिणी है।

क्षेमीश्वर—राजशेखर के समकालीन थे। ये राजा महीपाल (कन्नौज नरेश) के सभापण्डित थे। इनके लिखे हुए दो नाटक हैं—(१) चण्डकौशिक (२) नैषधानन्द जिनमें चण्डकौशिक विशेष प्रसिद्ध है। सत्य हरिश्चन्द्र का जीवनचरित्र नाटक रूप में दिखलाया गया है। इसमें पाँच अङ्क हैं। हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इसी नाटक के आधार पर अपना सत्यहरिश्चन्द्र नामक प्रख्यात नाटक लिखा है।

(१२) जयदेव

इनका "प्रसन्नराघव" नाटक संस्कृत साहित्य में अत्यन्त विख्यात है। इसमें सात अङ्क हैं जिनमें रामायण की कथा को बड़े ही सुन्दर ढंग से चित्रित किया है। इसमें भवभूति के नाटकों के समान हृदय के भावों का चित्रण नहीं है और न राजशेखर के बालरामायण की तरह वर्णन का विस्तार है। परन्तु इतनी मञ्जुल पदावली है कि पढ़ते ही पूरा चित्र आंख के सामने खिंच जाता है। प्रसादमयी कविता के कारण इसका 'प्रसन्नराघव' नाम यथार्थ है। हिन्दी के महाकवि तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस में इस नाटक के अनेक मार्मिक स्थलों तथा सरस सूक्तियों को अपनाया है।

जयदेव के देश और काल का साक्षात् परिचय तो नहीं मिलता परन्तु इनका अनुमान किया जा सकता है—विश्वनाथ कविराज (१३५० ई०)

समय ने साहित्यदर्पण में जयदेव का यह सुन्दर श्लोक ध्वनि के उदाहरण में उद्धृत किया है :—

कदली कदली करभः करभः करिराजकरः करिराजकरः ।
भुवनत्रितयेऽपि बिभर्ति तुलामिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः ॥

इससे इनका समय चतुर्दश शतक से पूर्व होना चाहिए। देश और काल की भिन्नता होने से ये गीतगोविन्दकार जयदेव से भिन्न हैं। प्रवाद है कि ये मिथिला के रहने वाले थे। कवि होते हुए भी ये उच्च-कोटि के तार्किक थे। इसे तो उन्होंने स्वयं शब्दतः स्वीकार किया है। इनकी सरस कविता के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

अपि मुदमुपयान्तो वाग्विलासैः स्वकीयैः
परभणितिषु तोषं यान्ति सन्तः कियन्तः।
निजघनमकरन्दस्यन्दपूर्णालवालः
कलशसलिलसेकं नेहते किं रसालः ॥

इतर नाटक और नाटककार

(१) कुलशेखर (९२५ ई०—९५५ ई०)—तपतीसंवरण और सुभद्राधनञ्जय के रचयिता। ट्रावनकोर रियासत के महोदय नामक राज्य के राजा थे। केरल में इनके नाटकों और काव्यग्रन्थों का बड़ा सम्मान है। ये वैष्णव मत के विशेष प्रचारक माने जाते हैं। तपती-संवरण—इसमें ६ अंक हैं जिनमें कुरु के पिता संवरण तथा माता 'तपती' का चरित्र वर्णित है। यह कथा महाभारत के आदिपर्व में आई है। सुभद्रा धनञ्जय—यह पाँच अङ्कों का नाटक है। इसमें महाभारत की प्रसिद्ध सुभद्राहरण कथा वर्णित है। इसमें वीररस प्रधान है।

(२) हनुमन्नाटक—इसके दो संस्करण उपलब्ध होते हैं। प्रथम ९ वा १० अंकों की पुस्तक मधुसूदन मिश्र कवि विरचित, दूसरा १४

अंकों की पुस्तक दामोदर मिश्र विरचित है। अङ्कों की अधिकता के कारण यह महानाटक कहलाता है। इसमें नाटकीय अंश बहुत ही कम है। वर्णन ही अधिक है। कहीं २ प्राचीन कवियों के प्रसिद्ध श्लोक भी उद्धृत किए गए हैं।

(३) रामचन्द्र (११००-७५) नलविलास तथा निर्भय भीम-व्यायोग के कर्ता। ये प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र के शिष्य थे तथा गुजरात के राजा सिद्धकुमारपाल तथा अजयपाल के समकालीन थे। इनकी विद्वत्ता बड़ी चढ़ी बढ़ी थी। इसीलिए हेमचन्द्र ने इन्हें अपना उत्तराधिकारी बनाया था। 'नल-विलास' में नल की कथा का वर्णन है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक का विषय स्पष्ट है। "कौमुदी मित्रानन्द" दश अंकों का एक लम्बा प्रकरण है।

(४) जयसिंह सूरि—(१२२५)—"हम्मीर-मद-मर्दन" ही इनका एकमात्र नाटक है जिसमें गुजरात के राजा हम्मीर पर यवनों के आक्रमण तथा राजा की दुर्दशा, वीरधवल और उनके प्रसिद्ध मंत्री वस्तुपाल की कीर्ति का वर्णन है।

(५) रविवर्मा—(१३ वीं का उत्तरार्ध)—'प्रद्युम्नाभ्युदय' में इन्होंने प्रद्युम्न की कथा लिखी है। यह नाटक पाँच अंकों का है। रवि-वर्मा केरल के अन्तर्गत 'कोलम्बपुर' का राजा था। वह परम वैष्णव अच्छा गायक, कवि तथा आलंकारिक था।

(६) वामनभट्ट बाण (१४२० के लगभग)—ये दक्षिण के बड़े भारी पण्डित थे। इन्होंने 'पार्वती परिणय' में शिव पार्वती के विवाह की कथा लिखी है। इसमें पाँच अङ्क हैं। नाम की समता से यह नाटक महाकवि बाणभट्ट का ही मान लिया जाता है। परन्तु यह बात ठीक नहीं। श्रृङ्गारभूषण भाण इनका प्रचलित भाण है। कवि सार्वभौम, साहित्य-चूडामणि आदि-उपाधियों से इनकी विद्वत्ता का परिचय मिलता है।

(७) महादेव (१६ श०)—ये रामभद्र दीक्षित के समकालीन

दाक्षिणात्य कवि हैं। समय १६ वीं का उत्तरार्ध है। इनका "अद्भुत दर्पण" राम कथा के विषय में है। अंगद के दौत्य से आरम्भ कर रामचन्द्र के राज्याभिषेक तक की कथा वर्णित है। राम-नाटक होने पर भी इसमें विदूषक भी विद्यमान है।

(८) शक्तिभद्र—'आश्चर्य चूडामणि' के कर्ता केरल देश निवासी कवि थे। केरल में इस नाटक की खूब प्रख्याति है। समय का ठीक ठीक तो पता नहीं चलता, परन्तु अनुमान है कि तपतीसंवरण के कर्ता कुलशेखर वर्मा से ये प्राचीन हैं। अतः इनका समय दशम शतक से बहुत पहले है। आश्चर्यचूडामणि के सात अङ्कों में रामचरित का ही नाटकीय रूप दर्शित किया गया है। परन्तु आश्चर्य रस को मुख्य मानकर इस नाटक का प्रणयन किया गया है। कालिदास की छाया इस ग्रन्थ पर पर्याप्त मात्रा में है। समानार्थक श्लोक बहुत मिलते हैं। नाटक की भाषा सरल, सुबोध तथा सरस है।

(९) धीरनाग—कुन्दमाला। यह नाटक हाल ही में प्रकाशित हुआ है। कथा रामायण से सम्बद्ध है। उत्तररामचरित का विशेष अनुकरण कवि ने किया है। अतः इनका समय अष्टम शतक के अनन्तर होना चाहिए। साहित्यदर्पण में उद्धृत किए जाने के कारण यह नाटक १४वीं शताब्दी से पुराना है। सम्भवतः ११ या १२वीं शताब्दी में इसकी रचना हुई। इस नाटक के कर्ता का नाम 'धीरनाग' है। कुछ लोग प्रसिद्ध बौद्धाचार्य दिङ्नाग को ही इसका लेखक मानते हैं। परन्तु यह कदापि मान्य नहीं है। बौद्ध कवि अपने धार्मिक विषय को छोड़कर रामचरित पर नाटक लिखेगा; यह सहसा विश्वास नहीं होता। भवभूति के पर्याप्त अनुकरण होने के कारण यह नाटक अष्टम शतक से कथमपि प्राचीन नहीं हो सकता।

(१०) कौमुदीमहोत्सव—इस नाटक के रचयिता के नाम का पता नहीं चलता। सुनते हैं कि प्रसिद्ध स्त्रीकवि विज्जका की यह रचना

है। इसमें पाँच अङ्क हैं। यह नाटक पाटलिपुत्र के राजा देवकल्याणवर्मा के नये राज्य की प्राप्ति के उपलक्ष्य में किया था। यह नाटक ऐतिहासिक महत्त्व का माना जाता है। कुछ विद्वानों का कहना है कि इसका कथानक गुप्त साम्राज्य के उदय से सम्बन्ध रखता है। नाटक साधारणतया अच्छा है। दक्षिण भारत सीरिज मद्रास से प्रकाशित हुआ है।

रूपक के अन्य भेद

नाटिका

दशरूपक के अनुसार प्रकरण और नाटक के मिश्रण को 'नाटिका' कहते हैं। नायक नाटकसे लिया जाता है और वृत्त प्रकरण से। इसीलिए नाटिका के नायक इतिहासप्रसिद्ध व्यक्ति ही होते हैं। परन्तु इनका वृत्त कविकल्पनाप्रसूत होता है। संस्कृत साहित्य में सबसे पहली नाटिका महाराज हर्षवर्धन की रत्नावली तथा प्रियदर्शिका हैं। इन्होंने जिस परम्परा को अग्रसर किया उसी का अनुसरण पिछली नाटिका के लेखकों ने किया। बिल्हण की 'कर्णसुन्दरी' नाटिका १०८० और १०९० के आसपास की रचना है। बिल्हण अपने महाकाव्य के लिए प्रसिद्ध हैं। इस नाटिका में चार अङ्क हैं। इसमें 'अणहिलवार' के राजा कर्णदेव त्रैलोक्यमल्ल (ई० १०६४–१०९४) का वृद्धावस्था में कर्णाटक के राजा जयकेशी की कन्या के साथ विवाह सम्पन्न होने का वर्णन है। कथानक का प्रदर्शन 'विद्धशालभञ्जिका' से मिलता है।

धारा के परमारनरेश अर्जुनवर्मा के गुरु मदनपाल सरस्वती ने 'विजयश्री' या 'पारिजातमञ्जरी' नामक नाटिका लिखी है। इस नाटिका में भी चार अङ्क हैं जिसके केवल दो अङ्क धारा में शिला पर उल्लिखित होने से सुरक्षित हैं। इस नाटिका का समय १२वीं शताब्दी का प्रारम्भ

है। अर्जुनवर्मा ही इसके नायक हैं। कवि ने दिखलाया है कि जब अर्जुनवर्मा ने चालुक्य नरेश भीमदेव द्वितीय को परास्त किया था तब उनकी छाती पर एक माला गिरी और गिरते ही वह एक सुन्दरी के रूप में परिणत हो गयी। वह सुन्दरी चालुक्य नरेश की कन्या थी और इसी से राजा का विवाह हुआ। नाटिका का यही कथानक है जिसमें कुछ ऐतिहासिक तथ्य भी प्रतीत होता है।

मथुरादास ने राधाकृष्ण के प्रेम को 'वृषभानुजा नाटिका' में बड़ी सुन्दरता से दिखलाया है। इस नाटिका के रचयिता गङ्गा के तीरस्थ सुवर्णशेखर नामक स्थान के कायस्थ थे। राधा कृष्ण के हाथ में किसी सुन्दरी का चित्र देखकर उनसे मान कर बैठती है। पीछे देखने पर वह राधा का ही चित्र निकलता है। यही वृत्तान्त इस नाटिका में दिखलाया गया है।[१]

प्राकृत में लिखी गयी नाटिका को 'सट्टक' कहते हैं। सर्वश्रेष्ठ सट्टक कर्पूरमञ्जरी है। परन्तु इसमें प्राकृत भाषा के ज्ञान की इतनी अधिक आवश्यकता होती है कि पीछे के कवियों ने इस रूपक की सृष्टि नहीं की है। तंजौर के राजा तुकोजी के मन्त्री घनश्याम कवि ने 'आनन्दसुन्दरी' तथा विश्वेश्वर पण्डित ने 'शृङ्गारमञ्जरी' नामक सट्टक लिखे हैं जिनमें केवल दूसरा ही काव्यमाला गुच्छक आठ में प्रकाशित है।

बिल्हण की 'कर्णसुन्दरी' कवि की प्रसिद्ध उदात्त शैली में लिखी गयी है जिसका निदर्शन हमें 'विक्रमांकदेव चरित' में मिलता है। 'वृषभानुजा' नाटिका की भाषा कर्णसुन्दरी से अपेक्षाकृत सरल है। मथुरादास की पदावली अत्यन्त कोमल है जो राधा-कृष्ण की लीलाओं के वर्णन के लिए

---

१ कर्णसुन्दरी काव्यमाला (नं० ७) में तथा वृषभानुजा भी वहीं (नं० ४६) प्रकाशित हुई है।

नितान्त उचित है। नीचे के पद्यों से दोनों की रीति का पार्थक्य स्पष्ट हो जायगा—

> विधत्ते निःशेकं सहजरमणीयस्तरुणिमा
> वपुर्वल्लीं चित्रैः कवचयति लीला-किसलयैः।
> विलासव्यापारः किमपि कमलस्थो नयनयो-
> रनङ्गस्तन्व्यङ्ग्यास्त्रिभुवनजिगीषुं रचयति॥—कर्णसुन्दरी १.२६

> इदं मधुरगीतिभिर्मधुकराङ्गनानां सखे
> कलापिकुलनर्तितैः पिककदम्बकोलाहलैः।
> लतानववधूलसत्किसलयानुकारोद्गमै-
> र्मसागमनमङ्गलं परितनोति मन्ये वनम्॥
> —वृषभानुजा १।१६

प्रकरण—प्रकरण नाटक से ही मिलता-जुलता है। केवल इसका नायक धीर-प्रशान्त, ब्राह्मण, मन्त्री या कोई बनिया होता है। मालतीमाधव तथा शूद्रक का 'मृच्छकटिक' महनीय प्रकरण हैं जिनका वर्णन नाटक के प्रसंग में किया गया है। अन्य प्रकरणों की रचना कालान्तर में की गई। प्रधान प्रकरण निम्नलिखित हैं—

(१) मल्लिकामारुत[1]—इस प्रकरण में १० अङ्क हैं। रचयिता का असली नाम उद्दण्ड कवि है जो वस्तुतः कालिकट के राजा की सभा के पण्डित थे तथा १७ वीं शताब्दी के मध्यभाग में विद्यमान थे। कथानक बिलकुल मालतीमाधव के समान है। नामसाम्य से कभी-कभी यही प्रकरण दण्डी के मत्थे भी मढ़ा जाता है।

(२) कौमुदीमित्रानन्द[2]—यह हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र की कृति है जिसकी रचना ११७३-७६ ई० के बीच में हुई। यह प्रकरण

---

१ जीवानन्द विद्यासागर के द्वारा प्रकाशित।

२ भावनगर से १९१७ में प्रकाशित।

अभिनय के लिए उपादेय नहीं है। इधर-उधर विकीर्ण कथनोपकथन का संग्रहमात्र प्रतीत होता है।

(३) प्रबुद्धरौहिणेय—जयप्रभसूरि के शिष्य रामभद्रमुनि (१३ शतक) के द्वारा रचित। जैनधर्म में प्रसिद्ध एक आख्यान का प्रकरणरूप से निर्माण हुआ है।

(४) मुद्रितकुमुदचन्द्र[1]—धनदेव के पौत्र तथा पद्मचन्द्र के पुत्र यशश्चन्द्र की रचना है। यह प्रकरण एक विख्यात धार्मिक शास्त्रार्थ का अवलम्बन कर लिखा गया है जो ११२४ ई० में श्वेताम्बर मुनि देवसूरि और दिगम्बरमुनि कुमुदचन्द्र के बीच हुआ था। इसमें कुमुदचन्द्र का मुखमुद्रण हो गया। इसीलिए इस रूपक का सार्थक नाम है।

भाण—एक अङ्क में समाप्त होने वाले, धूर्त तथा विट के चरित्र को वर्णन करने वाले रूपक को 'भाण' कहते हैं। संस्कृत साहित्य में प्राचीनता की दृष्टि में भाण का स्थान नाटक से किसी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अभी हाल में बहुत प्राचीन काल में लिखित 'भाण' उपलब्ध हुए हैं जिनका प्रकाशन 'चतुर्भाणी' के नाम से मद्रास से हुआ है। इन भाणों की भाषा भाव, सरणि प्राचीनता की प्रधान प्रतीक है। इन भाणों के रचयिता वररुचि, ईश्वरदत्त, श्यामलिक, तथा शूद्रक हैं। इनके विषय में किसी प्राचीन आलोचक का यह श्लोक मिलता है—

वररुचिरीश्वरदत्तः श्मामलिकः शूद्रकश्च चत्वारः।
एते भाणान् बभणुः का शक्तिः कालिदासस्य॥

कालक्रम से इन भाणों का संक्षिप्त वर्णन यों है—

(१) उभयाभिसारिका—इसके रचयिता वररुचि हैं। वररुचि के 'कण्ठाभरण' काव्य का उल्लेख महाभाष्य में मिलता है। अतः यह ईस्वी पूर्व तृतीय शतक से अर्वाचीन नहीं है। इस भाण की भाषा तथा

---

१ काशी से प्रकाशित। वीर सं० २४३२।

शैली बड़ी प्रौढ़ है। पाटलिपुत्र में इस भाण का अभिनय हुआ था।

(२) पद्मप्राभृतक—इसके रचयिता 'शूद्रक' कवि हैं जिनका वर्णन नाटक प्रकरण में विस्तार के साथ किया गया है। शूद्रक राजा होने के अतिरिक्त रूपककार भी थे। प्राचीन काल में विक्रमादित्य के समान ही सरस्वती के उपासक तथा कवियों के आश्रयदाता होने से इनकी पर्याप्त ख्याति थी। इनके विषय में रामिल और सोमिल ने 'शूद्रक-कथा' लिखी थी। किसी अज्ञात कवि का 'विक्रान्त शूद्रक' नामक नाटक तथा पञ्चशिख का 'शूद्रक-चरित-नाटक' का उल्लेख मिलता है। इस भाण में प्राचीन काल के प्रसिद्ध कला-वेत्ता 'मूलदेव' का चरित्र चित्रण किया गया है। इसके पढ़ने से प्राचीन काल के पण्डितों के नोक झोक की बातें जानी जा सकती हैं। इस भाण का एक पद्य हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन (पृ० १८८) में उद्धृत किया है। अन्य ग्रन्थों में भी इनके उद्धरण मिलते हैं।

(३) धूर्तविट-संवाद—इसके रचयिता का नाम है 'ईश्वरदत्त'। भोजदेव ने शृंगारप्रकाश में इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है। हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ के एक पद्य का उल्लेख अपने काव्यानुशासन में किया है। इससे स्पष्ट है कि इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी से पूर्व का है। इस रूपक में विट और धूर्त का परस्पर संवाद कामिनियों तथा वेश्याओं के विषय में दिया गया है। भाषा में बड़ी प्रौढ़ता है।

(४) पादताडितक—इसके रचयिता का नाम है श्यामलिक। इन्होंने अपने को उदीच्य लिखा है जिससे यह ज्ञात हो सकता है कि कि वे काश्मीर के निवासी थे। क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य-विचारचर्चा' में श्यामलिक का जो पद्य उद्धृत किया है वह इस भाण में मिलता है। अभिनव गुप्त ने श्यामलिक का नाम निर्देश किया है तथा 'पादताडितक' से उद्धरण भी दिए हैं। अतः इनका समय ८००-९०० ई० के बीच का

होना चाहिए। बहुत सम्भव है कि ये महिमभट्ट के गुरु 'श्यामलिक' ही हो।

१६ वीं शताब्दी के बाद भी अनेक भाणों की रचना होती रही जिनमें 'बामनभट्ट बाण' का 'शृङ्गारभूषण,' 'रामभद्रदीक्षित' का 'शृङ्गारतिलक,' (या अय्या भाण), 'वरदाचार्य' का 'वसन्ततिलक' (अम्मा भाण), 'शंकर कवि' का 'शारदा-तिलक', 'नल्ला कवि' (१७ वीं लगभग) का 'शृङ्गार-सर्वस्व', 'युवराज' कृत 'रससदन-भाण' मुख्य हैं। इन भाणों का कथानक, लेखनशैली, वर्णन प्रकार, बिलकुल मिलते जुलते हैं। जिस चतुर्भाणी का उल्लेख विस्तार से ऊपर किया गया है उसी की शैली से इनकी शैली भिन्न है।

प्रहसन—संस्कृत नाटक साहित्य में प्रहसन का एक विशिष्ट स्थान है। मध्यकालीन प्रहसनों में कुछ अश्लीलता का अंश भले आ गया हो, परन्तु प्राचीन प्रहसन काव्य-दृष्टि से विशुद्ध हास्य के पोषक हैं और अश्लीलता की छाया से कोसों दूर हैं। इन प्राचीन प्रहसनों में वैदिक धर्म के न मानने वाले चार्वाक, जैन, बौद्ध, शैव, कापालिक के मतों की खासी दिल्लगी उड़ाई गई है। उनके आक्षेप-जनक सिद्धान्तों की, जिनसे जनता में अनाचार फैलने की आशंका है, बुराइयों की ओर बड़े मार्मिक रूप से संकेत किया गया है। इन प्रहसनों का उपयोग तत्कालीन समाज तथा धर्म की स्थिति जानने में भी है। ऐसे उच्च कोटि के प्रहसनों में 'मत्तविलास प्रहसन' मुख्य है। इसके लेखक पल्लववंशीय सिंहविष्णु वर्मा के पुत्र 'महेन्द्र विक्रम वर्मा' हैं। इनका समय सप्तम शतक का प्रथमार्ध है। इस प्रकार ये महाराज हर्षवर्धन तथा पुलकेशी द्वितीय के समकालीन हैं। इनके प्रहसन से कापालिक, शाक्यभिक्षु तथा पाशुपत का परस्पर संघर्ष बड़ी ही संयतभाषा में दिखलाया गया है। कापालिक की यह शंकर-स्तुति बड़ी ही रोचक तथा मार्मिक है:—

पेया सुरा प्रियतमामुखमीक्षितव्यं
ग्राह्यः स्वभावललितो विकृतश्च वेषः ।
येनेदमीदृशमदृश्यत मोक्षवर्त्म
दीर्घायुरस्तु भगवान् स पिनाकपाणिः ॥

'शंखधर कविराज' का 'लटकमेलक', जिसकी रचना कान्यकुब्ज के महाराज गोविन्दचन्द (१२ वीं शताब्दी) के राज्यकाल में की गई थी, बड़ा ही लोकप्रिय प्रहसन माना जाता है। 'ज्योतिरीश्वर कविशेखर' का 'धूर्त-समागम' १५वीं शताब्दी में रचित प्रहसन है । 'जगदीश्वर' का 'हास्यार्णव' विषय की दृष्टि से बड़ा ही सुन्दर तथा रोचक है । 'गोपीनाथ चक्रवर्ती' का 'कौतुक-सर्वस्व' तथा 'सामराजदीक्षित' (१७००) का 'धूर्त-नर्तक' पिछले कोटि के प्रहसन हैं जिनमें दुराचार-निरत तथा कामिनी-लोलुप धर्मध्वजियों का भण्डाफोर किया गया है ।

रूपक के दश भेदों में नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन और व्यायोग की रचना पर्याप्त रूप से लोकप्रिय रही है । इसीलिए इनके नमूने भी अधिक मात्रा में मिलते हैं । डिम, समवकार, वीथि, अङ्क, तथा ईहा-मृग—इन रूपकों का प्रचलन बहुत ही कम रहा है । नाट्य-ग्रन्थों में इनके लक्षण अवश्य मिलते हैं परन्तु लक्ष्य-ग्रन्थों का विशेष अभाव है । इस समय एक कवि की कृपा से हमें इन प्रकारों के रूपकों के भी उदाहरण मिलते हैं ।

इस कविका नाम वत्सराज है । ये कालिंजर के राजा 'परमर्दिदेव' के अमात्य से तथा उनके पुत्र 'त्रैलोक्यवर्मदेव' के समय में भी इसी पद पर प्रतिष्ठित रहे । परमर्दिदेव का समय ११६३ ई०—१२०३ ई० तक था तथा उनके पुत्र का समय १३ वीं शताब्दी के मध्य भाग तक था । इस प्रकार वत्सराज का समय १२ वें शतक का उत्तरार्ध तथा १३ वें शतक का पूर्वार्ध है । ये परमर्दिदेव ही 'परमाल' के नाम से प्रसिद्ध थे जिनके पृथ्वीराज के द्वारा पराजय होने की घटना का वर्णन चन्दवरदाई

के 'रासो' (महोबा समय) में मिलता है। वत्सराज के ये रूपक बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। इन अप्रचलित रूपकों के स्वरूप का ज्ञान हमें इन्हीं ग्रन्थों से मिलता है। भाषा में प्रवाह है। वह लम्बे समासों से न तो दबी है और न अप्रचलित शब्दों प्रयोगों से भरी है।

(१) कर्पूरचरित भाषा—नीलकण्ठ के यात्रा-महोत्सव में यह भाण 'परमाल' की आज्ञा से खेला गया था। इसमें एक द्यूतकर की द्यूतक्रीडा तथा वेश्या के साथ उसकी प्रणयलीला का मनोहर वर्णन किया गया है।

(२) हास्यचूड़ामणि—प्रहसन। यह प्रहसन एक अङ्क का है। इसमें भारतधर्म के एक आचार्य 'ज्ञानराशि' की खूब दिल्लगी उड़ाई गयी है। इस आचार्य को केवली विद्या आती थी जिसके सहारे वह गड़े हुए धन का तथा भूली हुई वस्तुओं का पता लगाया करता था। धार्मिक कृत्य को छोड़ कर लौकिक कार्यों की अनुरक्ति को लक्ष्य कर इस प्रहसन की रचना की गयी है।

(३) त्रिपुरदाह—डिम। इस डिम में चार अङ्क हैं। कथा पुराण से ली गयी है। भगवान् शंकर ने त्रिपुर असुर का नाश किस प्रकार किया था? इसी का साङ्गोपाङ्ग वर्णन इस डिम में है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में 'त्रिपुरदाह' नामक डिम के प्रथम प्रयोग का उल्लेख किया है। इसी संकेत को ग्रहण कर वत्सराज ने इस रूपक की रचना की है। रौद्र रस का परिपाक पूर्णरूप से विद्यमान है। अन्य डिम बहुत पीछे के हैं। 'घनश्याम' रचित डिम, 'वेङ्कटवर्य' का 'कृष्णविजय', 'रामकवि' कृत 'मन्मथोन्मथन' डिम के अन्य उदाहरण हैं।

(४) किरातार्जुनीय—व्यायोग। व्यायोग एक अङ्क का होता है। इस एकाङ्की रूपक में अर्जुन और शिव का युद्ध दिखलाया गया है। कथानक वही है जो भारवि के सुप्रसिद्ध महाकाव्य का है। 'प्रह्लादनदेव'

रचित 'पार्थ-पराक्रम' इस से कुछ प्राचीन है। इसके रचयिता चन्द्रावती (जोधपुर) के परमार राजा धारावर्ष के भाई थे। धारावर्ष आबू के परमार राजाओं में नितान्त प्रसिद्ध हैं। प्रह्लादन देव का समय ११६३—१२०९ ई० है। 'पार्थ-पराक्रम' लोकप्रिय व्यायोग जिसमें महाभारत के विराट पर्व में उल्लिखित अर्जुन के द्वारा विराट राजा की गायों का कौरवों के पक्ष से छुड़ा लेने का (गोग्रहण) वर्णन है। 'काञ्चनाचार्य' का 'धनंजय-विजय', 'रामचन्द्र' का 'निर्भयभीम' (१२ वीं शतक), 'विश्वनाथ' (१३५०) का 'सौगन्धिकाहरण' व्यायोग के अन्य उदाहरण हैं। भास का 'मध्यम व्यायोग' इन सबों से प्राचीन है।

(५) समुद्रमथन—समवकार। तीन अङ्क के इस समवकार में समुद्रमथन का वृत्तान्त बड़े विस्तार के साथ दिया गया है। भरत ने समुद्रमथन को समवकार का आदर्श बतलाया है। इसी सूचना के अनुसार वत्सराज ने इस रूपक का प्रणयन किया है। समवकार के अन्य उदाहरण उपलब्ध नहीं होते।

(६) वीथी—इस रूपक में भाण के समान ही कथानक होता है जिसमें शृङ्गाररस तथा कौशिकी वृत्ति की प्रधानता रहती है। परन्तु शृङ्गार की भी सूचनामात्र रहती है। एक दो पात्र रहते हैं। 'माधवी' वीथी का नाम मिलता है। पर ग्रन्थ अप्रकाशित है।

(७) अङ्क—इसमें कथानक पुराण तथा इतिहास से लिया जाता है। करुण रस की प्रधानता रहती है। वास्तव युद्ध का वर्णन नहीं रहता; केवल वाक् युद्ध ही दिखलाई पड़ता है। 'शर्मिष्ठाययाति' इस रूपक का उदाहरण है परन्तु यह अप्राप्य है। भास्कर कवि का 'उन्मत्त-राघव' अङ्क मिलता है पर इसके रचनाकाल का पता नहीं चलता। इसमें वर्णन विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अङ्क के समान है।

(८) ईहामृग—इसका वृत्त मिश्र होता है। इसमें चार अङ्क और तीन सन्धियाँ रहती हैं। कथानक में संघर्ष इतना होता है कि प्रतीत होता है कि तुमुल संग्राम हुए बिना न रहेगा। परन्तु फिर भी वह युद्ध व्याज से रोक दिया जाता है। मृग के समान अलभ्य नायिका की अभिलाषा के कारण इसका नाम सार्थक दीख पड़ता है। 'वीरविजय' तथा 'रुक्मिणी-हरण' का पता नहीं चलता। वत्सराज का 'रुक्मिणीपरिणय' इसका एकमात्र उपलब्ध उदाहरण है। तीन अंक के इस रूपक में कृष्ण के साथ शिशुपाल तथा रुक्मी के विशेष संघर्ष का तथा छलपूर्वक युद्ध रोकने का वर्णन है।

वत्सराज के ये रूपक काव्य-दृष्टि से नितान्त सुन्दर हैं। भाषा साफ-सुथरी है। श्लोक प्रसाद गुण से युक्त है। इसका निवेश रूपक के स्वरूप के अनुकूल ही है। 'रुक्मिणी-हरण' ईहामृग की यह नान्दी बड़ी ही सुन्दर है :—

> दरमुकुललितनेत्रा स्मेरवक्त्राम्बुजश्री—
> रुपगिरिपतिपुत्रि प्राप्तसान्द्रप्रमोदा।
> मनसिजमयभावैर्भावितध्यानमुद्रा
> वितरतु रुचितं वः शाम्भवी दम्भभङ्गिः॥

छाया नाटक

नाट्यग्रन्थों में रूपक के भेदों में 'छाया नाटक' का निर्देश नहीं किया गया है, परन्तु वस्तुतः छाया नाटक की रचना होती रही है। छाया नाटक से अभिप्राय उन नाटकों से है जिनके पात्र वस्तुतः रंगमंच पर नहीं आते, बल्कि उनकी छाया ही पुतलियों के द्वारा परदे के ऊपर चलती-फिरती दिखायी पड़ती है। डा० पिशल के अनुसार छाया नाटक ही नाटक का सबसे प्राचीन तथा आदिम रूप है। सुभट कवि का

'दूताङ्गद' ही इसका सर्वप्रसिद्ध प्रतिनिधि है। यह नाटक अणहिल पट्टन के चालुक्य राजा त्रिभुवनपाल की सभा में कुमारपाल की यात्रा के अवसर पर १२४३ ई० में खेला गया था। इस प्रकार कवि का समय १३वीं शतक है। सोमेश्वर ने कीर्तिकौमुदी में सुभट की पर्याप्त प्रशंसा की है—

सुभटेन पदन्यासः स कोऽपि समितौ कृतः।
येनाऽधुनाऽपि धीराणां रोमाञ्चो नापचीयते॥

दूताङ्गद में रावण की सभा में अङ्गद के दौत्य का वर्णन है। कवि ने भवभूति तथा राजशेखर के प्रसिद्ध श्लोकों को भी इसमें स्थान-स्थान पर दिया है। सुभट की शैली का पता इस नान्दी श्लोक से लग सकता है:—

शंभोः कोदण्डभङ्गादविदितविभवः शक्रसूनोर्विनाशा-
दज्ञातः सेतुबन्धादपि न परिचितः कैकसीनन्दनेन।
संवादादङ्गदस्याप्यनधिगतगतिः कारणान्मार्त्यमूर्ते-
र्भूयाद्भूत्यैजनानां जगति रघुपतेर्वैष्णवः कोऽपि भावः॥

प्रतीक-नाटक

संस्कृत साहित्य में एक नये प्रकार के रूपक उपलब्ध होते हैं जिनमें श्रद्धा भक्ति आदि अमूर्त पदार्थों को नाटकीय पदार्थ बनाया गया है। कहीं तो केवल अमूर्त पदार्थों की ही मूर्त-कल्पना उपलब्ध होती है और कहीं पर मूर्त अमूर्त का मिश्रण है। साधारण नाटक के लक्षण से इनमें किसी प्रकार पार्थक्य नहीं मिलता। इसीलिए नाट्य के लक्षण-कर्ताओं ने इसका पृथक् वर्गीकरण नहीं किया है। यहाँ इस प्रकार के नाटकों को हमने 'प्रतीक-नाटक[1] कहा है, क्योंकि इनके पात्र अमूर्त पदार्थों के प्रतीकमात्र हैं।'

१ Allegorical drama.

इन नाटकों की उत्पत्ति कब हुई ? इसका ठीक-ठीक उत्तर देना कठिन है। मध्य-एशिया से बौद्ध नाटकों के जो त्रुटित अंश मिले हैं उनमें एक प्रतीक नाटक के भी अंश हैं। जिस हस्तलिखित प्रति में अश्वघोष का 'शारी-पुत्र प्रकरण' उपलब्ध होता है उसीमें इस नाटक के भी अंश उपलब्ध हुए हैं। अतः निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि ये प्रसिद्ध अश्वघोष की रचना है या नहीं। इस नाटक में बुद्धि, कीर्ति, धृति रङ्गमञ्च पर आती हैं और वार्तालाप करती हैं। इसके अनन्तर बुद्ध स्वयं मञ्च पर आते हैं। ग्रन्थ के त्रुटित होने से नहीं कहा जा सकता कि बुद्ध और इन प्रतीक पात्रों का सचमुच परस्पर वार्तालाप हुआ है या नहीं। जो कुछ भी हो, जान पड़ता है कि प्रतीक-नाटकों की एक परम्परा थी। यह परम्परा किसी कारण से विच्छिन्न हो गयी थी। ११ वीं शताब्दी के मध्यभाग में कृष्णमिश्र ने 'प्रबोध चन्द्रोदय' नामक सुप्रसिद्ध नाटक लिखकर इस परम्परा को पुनरुज्जीवित किया।

अश्वघोष

कृष्ण मिश्र की यह कृति संस्कृत-साहित्य में एक नवीन नाट्य-धारा की प्रवर्तिका है। पिछले नाटककारों ने इस शैली का अनुकरण कर अनेक सुन्दर प्रतीक नाटकों की रचना की है। वह नाटक जेजकभुक्ति के चन्देलवंशीय राजा कीर्तिवर्मा के समक्ष गोपाल की प्रेरणा से अभिनीत हुआ था। चेदि के राजा कर्ण ने (जो १०४२ ई० में जीवित थे) कीर्तिवर्मा को परास्त किया था। परन्तु सेनानी गोपाल ने अपने बाहुबल से उन्हें परास्त कर कीर्तिवर्मा को पुनः राज्यासन पर स्थापित किया[1]। इनसे प्रतीत होता है कि गोपाल कीर्तिवर्मा के सेनापति थे। नाटक का रचना-काल ग्यारहवीं सदी का मध्यभाग है। प्रबोध-

कृष्ण मिश्र

---

१ गोपालो भूमिपालान् प्रसभमसिलतामात्रमित्रेण जित्वा।
साम्राज्ये कीर्तिवर्मा नरपतिलको येन भूयोऽभ्यषेचि॥
—प्रबोधचन्द्रोदय १।४

चन्द्रोदय में अद्वैत वेदान्त तथा विष्णुभक्ति का सम्मिलन बड़ी सुन्दरता से दिखलाया गया है। राजा मोह के पञ्जे में फँस जाने के कारण पुरुष अपने सच्चे स्वरूप के ज्ञान से भी वञ्चित हो जाता है। विवेक के द्वारा जब मोह का पराजय होता है तभी पुरुष को शाश्वत ज्ञान उत्पन्न होता है। विवेक-पूर्वक उपनिषद् के अध्ययन करने तथा विष्णु भक्ति के आश्रय लेने से ही ज्ञानरूपी चन्द्रमा का उदय होता है। इस विषय का प्रतिपादन बड़ी ही युक्ति तथा सुन्दरता के साथ किया गया है। पात्रों में सजीवता है। द्वितीय अङ्क में दम्भ और अहङ्कार का वार्तालाप अतीव हास्योत्पादक है। इसी प्रकार का हास्यमिश्रित कौतूहल जैन, बौद्ध तथा सोम सिद्धान्त के परस्पर वार्तालाप के अवसर पर दर्शकों को होता है। कृष्णमिश्र उपनिषदों के रहस्यवेत्ता थे, यह कहना अनावश्यक है। कवित्व का चमत्कार इस नाटक में कम नहीं है। अद्वैत वेदान्त तथा वैष्णवधर्म का समन्वय इस नाटक की महती विशेषता है। आत्मकल्याण का मार्ग बताते समय सरस्वती का उपदेश कितना रमणीय है—

> नित्यं स्मरञ्जलदनीलमुदारहार-
> केयूरकुण्डलकिरीटधरं हरिं वा।
> ग्रीष्मे सुशीतमिव वा ह्रदमस्तशोकं
> ब्रह्म प्रविश्य भज निर्वृतिमात्मनीनाम् ॥

प्रबोध चन्द्रोदय की प्रसिद्धि हिन्दी के प्राचीन कवियों में खूब थी। तुलसीदास ने अयोध्याकाण्ड में पञ्चवटी के वर्णन-प्रसङ्ग में जिस आध्यात्मिक रूपक की योजना की है उसमें इस नाटक के प्रसिद्ध पात्रों को भी अपनाया है। प्रसिद्ध कवि केशवदास ने (१६वीं शतक) इसका छन्दोबद्ध अनुवाद 'विज्ञानगीता' में किया है।

जैन कवियों ने पहले-पहल कृष्णमित्र के इस प्रतीक नाटक का अनुसरण अपने धर्म के प्रचार के लिए उपयोगी साधन समझ कर किया

ऐसे एक नाटक का नाम 'मोहराजपराजय' है। इसके रचयिता यशःपाल कवि हैं जो मन्त्री धनदेव और रुक्मिणी देवी के पुत्र थे, जाति में मोढ़ बनिया थे तथा राजा अजयदेव चक्रवर्ती अभयदेव के कृपापात्र थे। ये अभयदेव प्रसिद्ध चालुक्यवंशी गुजरात नरेश कुमारपाल के अनन्तर गुजरात के राजा थे जिन्होंने १२२९—१२३२ ई० तक राज्य किया। यह नाटक पहले-पहल कुमारविहार में महावीर के उत्सव के समय अभिनीत हुआ।

यशःपाल

मोहराज पराजय में पाँच अङ्क हैं। गुजरात के चालुक्यवंशी नरेश कुमारपाल का हेमचन्द्र के द्वारा जैनधर्म का ग्रहण करना, पशुओं की हिंसा का निषेध करना तथा हेमचन्द्र के उपदेशानुसार निःसन्तान मरने वालों की सम्पत्ति को राज्याधीन न करना आदि विषयों का वर्णन किया गया है। इसमें कुमारपाल, हेमचन्द्र तथा विदूषक तो मनुष्यपात्र हैं, शेष—पुण्यकेतु, विवेक, कृपासुन्दरी, व्यवसायसागर, आदि—पात्र शोभन या अशोभन गुणों के प्रतीक हैं। इस प्रकार इस नाटक में कल्पित और वास्तव पात्रों का परस्पर सम्मिलन तथा वार्तालाप दिखलाया गया है। गुणों की दृष्टि से नाटक कम महत्त्व का नहीं है। यह सरल सुबोध संस्कृत में लिखा गया है जिसमें लम्बे समासों तथा भड़कीले गद्य का प्रयोग जान-बूझकर नहीं किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह उपादेय है। कुमारपाल के समय में जैनधर्म के प्रचार के लिए जो व्यवस्था की गयी थी उसका प्रकृष्ट वर्णन इस नाटक में उपलब्ध होता है।

वेदान्तदेशिक का 'संकल्प सूर्योदय' नामक नाटक एक प्रसिद्ध प्रतीक नाटक है। ये अपने समय के विशिष्टाद्वैत मत के बड़े भारी प्रतिष्ठापक थे। इनका समय तेरहवीं शताब्दी है। संकल्प सूर्योदय का विषय वही है—मोह का पराजय तथा विवेक का उदय। इनका कथन है कि शान्त रस ही चित्त के खेद को दूर

वेङ्कटनाथ

करने वाला, वास्तव आनन्द देने वाला, एकमात्र रस है। शृङ्गार रस तो असभ्य कोटि में आता है। वीर रस भी एक दूसरे के तिरस्कार और अवहेलना को अग्रसर बनाता है। अद्भुत रस की गति स्वभावतः विरुद्ध है। अतः शान्तरस ही निःसन्दिग्ध वास्तव रस है :—

असभ्यपरिपाटिकामधिकरोति शृङ्गारिता
परस्परतिरस्कृतिं परिचिनोति वीरायितम्।
विरुद्धगतिरद्भुतस्तदलमल्पसारैः परैः
शमस्तु परिशिष्यते शमितचित्तखेदो रसः॥

वेदान्तदेशिक प्रथम कोटि के पण्डित थे। अतः उनकी कविता में पाण्डित्य का महान् उत्कर्ष दिखलाई पड़ता है।

कवि कर्णपूर

चैतन्यदेव के पार्षद शिवानन्दसेन के पुत्र परमानन्ददास का जन्म १५२४ में हुआ। चैतन्यदेव ने इन्हें 'कर्णपूर' की उपाधि प्रदान की। इनके लिखे हुए नव ग्रन्थों का पता चलता है जिसमें 'चैतन्य-चन्द्रोदय' मुख्य है। इसकी रचना जगन्नाथ क्षेत्र के अधि-पति गजपति प्रतापरुद्र की आज्ञा से १५७९ ई० में की गई। उस समय कवि की अवस्था ५५ वर्ष की थी। अतः यह कवि की प्रौढ़ अवस्था की रचना है। इसमें दस अंक है। महाप्रभु चैतन्यदेव के जीवनवृत्त को जानने के लिए यह नाटक बड़ा ही प्रामाणिक तथा उपादेय है। इसके पात्रों में मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के पात्रों का सम्मिश्रण है। अमूर्त पात्रों में भक्ति, विराग, कलि, अधर्म आदि हैं। मूर्त पात्रों में चैतन्य तथा उनके प्रसिद्ध शिष्य हैं। चैतन्य के सिद्धान्तों के ज्ञान के लिए भी इस नाटक का अध्ययन आवश्यक है। भाषा सरल तथा सुबोध है। नाटक आदि से अन्त तक प्रसाद गुण से युक्त है (७।७)—

मनो यदि न निर्जितं किममुना तपस्यादिना
कथं स मनसो जयो यदि न चिन्त्यते माधवः।

किमस्य च विचिन्तनं यदि न हन्त चेतोद्रवः
स वा कथमहो भवेद्यदि न वासनाक्षालनम् ॥

आनन्दराय मखी तञ्जोर के राजा शाहीराय शरभाजी के प्रधान मंत्री थे। इनका समय १८ वीं सदी का प्रथमार्ध है। ये बड़े भारी शैव तथा सरस्वती के उपासक थे। इनकी प्रसिद्धि 'वेद कवि' नाम से थी। पाण्डित्य के कारण राजदरबार में इनका बड़ा सम्मान था तथा अपने समय के दाक्षिणात्य कवियों के ये अग्रगण्य थे। इनके दो प्रतीक नाटक मिलते हैं:—(१) विद्यापरिणयन और (२) जीवानन्दन। विद्यापरिणयन में सात अंक है जिसमें अद्वैत वेदान्त के साथ शृङ्गाररस का मंजुल सामञ्जस्य दिखलाया गया है। शिवभक्ति के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है। यही दिखलाना नाटक का प्रधान उद्देश्य है। जैनमत, सोम सिद्धान्त, चार्वाक, सौगत आदि पात्रों का सन्निवेश ठीक प्रबोधचन्द्रोदय की शैली पर किया गया है। नाटक की भाषा सरल और सुबोध है। अभिनय के लिए नितान्त उपयुक्त है।

आनन्दराय मखी

शङ्कर ही इस जगत्-नाटक के कर्ता-धर्ता हैं, नटराज हैं (७।३८):—

विलीय स्वाविद्याघनजवनिकायामथ वहन्
विचित्रं नैपथ्यं नटसि शिव नानात्मकतया।
स्वयं जाग्रत्पश्यस्यपि च परमानन्दभरितो
जयत्यत्याश्चर्यं जगदिति भवन्नाटकमिदम् ॥

'जीवानन्दन' में भी सात अङ्क हैं। प्रायः गलगण्ड, पाण्डु, उन्माद, कुष्ठ, गुल्म, कर्णमूल आदि रोगों का चित्रण पात्ररूप से एक विचित्र वस्तु है। शारीरिक व्याधियों में राजयक्ष्मा ही सबसे बढ़कर है। इसके पाश में पड़े हुए जीव का छुटकारा पारद रस के ही प्रयोग से होता है। स्वस्थ शरीर होने पर ही चित्त स्वस्थ रहता है तथा स्वात्म-कल्याण के मार्ग में संलग्न रह सकता है। इस तत्त्व का प्रतिपादन इस नाटक में किया गया है। कवि ने स्वयं इस पद्य में सूचना दी है (६।३२)—

मन्त्रिन् जन्मैव दोषः प्रथममथ तदप्याधिभिः व्याधिभिश्चे-
ज्जुष्टं कष्टं बतातः किमधिकमपि तु त्वन्मतेर्वैभवेन।
देव्या भक्त्याः प्रसादात्परमशिवमहं वीक्ष्य कृच्छ्राणि तीर्णः
सर्वाणि द्राक्कदत्यद्भुतमिह शुभदं संविधानं तवेदम्॥

प्रतीक रूप से लिखे गये नाटकों का यही संक्षिप्त परिचय है। इसी प्रकार के नाटक यूरोप के मध्यभाग में भी विद्यमान थे जिन्हें 'मारेलेटी' के नाम से पुकारते हैं। रंग मञ्च के ऊपर इन कल्पित पात्रों को लाना तथा उनके द्वारा दार्शनिक तथा धार्मिक तत्त्व दिखलाना इन नाटकों का प्रधान उद्देश्य है। यूरोप में विज्ञान-युग के प्रारम्भ होते ही ये धार्मिक नाटक नष्ट हो गये। परन्तु भारतवर्ष में ऐसे प्रतीक नाटकों की धारा अनेक शताब्दियों तक जनता का मनोरञ्जन तथा शिक्षण करती आई है।

षष्ठ परिच्छेद

गीति-काव्य

सत्कविरसनाशूर्पीनिस्तुषतरशब्दशालिपाकेन ।
तृप्तो दयिताधरमपि नाद्रियते का सुधा दासी ॥

गीति काव्य संस्कृत भारती का परम रमणीय अङ्ग है। संस्कृत में गीति काव्य मुक्तक तथा प्रबन्ध दोनों प्रकारों से उपलब्ध होता है। 'मुक्तक' से अभिप्राय उस काव्य से है जो सन्दर्भ आदि बाह्य उपकरणों से मुक्त होकर स्वयं रसपेशल होता है। इसके समझने के लिए बाहरी सामग्री की अपेक्षा नहीं होती। संस्कृत के मुक्तक उन रसनारी मोदकों के समान हैं जिनके आस्वादमात्र से सहृदयों का हृदय सद्यः परितृप्त हो जाता है। जो आलोचक रस की पुष्टि के लिए प्रबन्ध काव्य को ही उत्तम साधन समझते हैं, उन्हें आनन्दवर्धन की यह उक्ति भुलानी न चाहिए—मुक्तकेषु हि प्रबन्धेपु इव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। मुक्तक काव्य के सुन्दर उदाहरण भर्तृहरि तथा अमरुक के शतक हैं। प्रबन्धात्मक गीति काव्य के दृष्टान्त कालिदास का मेघदूत तथा उसी के अनुकरण पर लिखे गये 'सन्देश काव्य' हैं। गीति काव्यों में मधुर पदावली के साथ संगीतमय छन्दों का भी प्रयोग किया गया है। वर्णन विशेषकर शृङ्गार, नीति, वैराग्य तथा प्राकृतिक दृश्यों के हैं। यहाँ कोमल भावों की मधुरिमा प्रत्येक रसिक के हृदय को हठात् अपनी ओर आकृष्ट करती है। इसका कारण यह है कि इन गीति काव्यों का बाह्यरूप जितना अभिराम तथा सुन्दर है उतना ही सुन्दर तथा पेशल उनका आभ्यन्तर रूप भी है।

रमणी का सौन्दर्य इन काव्यों में जितनी सुन्दरता तथा स्वाभाविकता

के साथ परिस्फुटित हो पाया है उतना अन्यत्र मिलना दुर्लभ सा प्रतीत हो रहा है। नारी के हृदय तथा रूपछटा के रंगीन चित्र किस रसिक के हृदय में प्रमोद की सरिता नहीं बहाते ? शृङ्गार की भिन्न भिन्न अवस्थाओं का मार्मिक चित्रण इस काव्य की महती विशेषता है। आलोचकों की यह धारणा नितान्त भ्रान्त है कि इन शृङ्गारिक काव्यों में इन्द्रिय के उत्तेजक काम का ही अभिराम चित्रण है। यह आक्षेप संस्कृत साहित्य के शृङ्गार-प्रधान काव्यों के विषय में आज भी किया जाता है। परन्तु ऐसे आक्षेपकों को संस्कृत साहित्य के प्रमुख आलोचक रुद्रट की ये उक्तियाँ कभी न भूलनी चाहिए—

गीतियों की विशेषता

न हि कविना परदारा एष्टव्या नापि चोपदेष्टव्याः।
कर्तव्यतयान्येषां न च तदुपायोऽभिधातव्यः॥
किन्तु तदीयं वृत्तं काव्याङ्गतया स केवलं वक्ति।
आराधयितुं विदुषस्तेन न दोषः कवेरत्र॥

इन गीति काव्यों के अध्ययन से तो नारी-प्रेम की उदात्तता तथा विशुद्धता का ही परिचय हमें प्राप्त होता है। प्रकृति चित्रण का भी इनमें प्रमुख स्थान है। बाह्य प्रकृति तथा अन्तःप्रकृति इन दोनों का परस्पर प्रभाव बड़ी सजीवता के साथ यहाँ दर्शाया गया है। संयोग तथा वियोग उभय अवस्थाओं में प्रकृति मानव हृदय पर अपना प्रभाव डालने में विरत नहीं होती। उल्लसित हृदय को प्राकृतिक सौन्दर्य द्विगुणित कर देता है। परन्तु वही दृश्य विपण्ण हृदय के विषाद की रेखा और भी गाढ़ी बना देता है। इस प्रकार ये गीति-काव्य प्राकृतिक दृश्यों के चल चित्रों के समान रसिकों के सामने उपस्थित होकर अपना सौन्दर्य दिखलाते हैं।

मुक्तकों के दो प्रधान भेद किये जा सकते हैं—लौकिक तथा धार्मिक। लौकिक मुक्तक लोक के नाना विषयों के विधान से सम्बन्ध रखता है। धार्मिक मुक्तक (स्तोत्र) विशिष्ट देवता की स्तुति से सम्बद्ध रहते हैं। दोनों प्रकार के काव्यों की प्राचीनता संस्कृत में पर्याप्त रूप से है। समग्र वैदिक

संहिताएँ देवताओं की विशिष्ट स्तुतियाँ है। ऐसा विशाल स्तोत्र-साहित्य अन्य किसी साहित्य में प्रस्तुत नहीं है। लौकिक मुक्तक भी पर्याप्त रूप से प्राचीन है। महाभाष्य में लौकिक विषयों से सम्बद्ध अनेक स्फुट श्लोक उद्धृत किये गये हैं। यहाँ लौकिक मुक्तक तथा स्तोत्रों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

लौकिक मुक्तक

संस्कृत के गीति काव्यों का आदिम ग्रन्थ महाकवि कालिदास का मेघदूत है जिसमें धनपति कुबेर के शाप से निर्वासित एक विरही यक्ष की मनोव्यथा का मार्मिक चित्रण है। मेघदूत कालिदास के नर-प्रकृति

मेघदूत

तथा बाह्य प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण का भव्य भण्डार है। यहाँ बाह्य प्रकृति को जो प्रधानता मिली है वह संस्कृत के अन्य किसी काव्य में नहीं। पूर्वमेघ तो यहाँ से वहाँ तक प्रकृति की ही एक मनोहर झाँकी या भारत भूमि के स्वरूप का ही मधुर ध्यान है। कवि की पैनी दृष्टि में ग्रीष्मऋतु की मन्द प्रवाहिनी नदी उस प्रोषित-पतिका के समान प्रतीत होती है जो अपने पति के वियोग में मलिन-वसना बन बड़े क्लेशों में अपना जीवन बिताती है। प्राकृतिक दृश्यों में विज्ञान सम्मत बातों का पर्याप्त सन्निवेश है। यक्ष तथा उनकी प्रेयसी की विरहा अवस्था का वर्णन कर कवि ने मानव हृदय का मार्मिक मनोहर चित्र उपस्थित किया है। मेघदूत वस्तुतः विरह-पीड़ित उत्कण्ठित हृदय की मर्मभरी वेदना है, जिसके प्रत्येक पद्य में प्रेम की विह्वलता, विवशता तथा विकलता अपने को अभिव्यक्त कर रही है। पूर्वमेघ बाह्यप्रकृति का मनोरम चित्र है, तो उत्तरमेघ अन्तःप्रकृति का अनुभव पर प्रतिष्ठित अभिराम वर्णन है। वियोगिनी यक्षपत्नी का यह अभिराम रूप किस सहृदय के हृदय में सहानुभूति उत्पन्न नहीं करता—

आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा
मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।
पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां
कच्चिद् भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति॥

कालिदास ने मेघदूत में जिस शैली को जन्म दिया वह हमारे कवियों को बहुत ही प्रिय प्रतीत हुई और उन्होंने पचीसों काव्य इसके अनुकरण में बनाये। इस प्रकार संस्कृत में 'सन्देश-काव्यों' की एक अलग धारा ही है। कुछ जैन कवियों ने मेघदूत के प्रत्येक श्लोक के चरणों को लेकर समस्यापूर्ति के ढंग पर नये दूत काव्यों की रचना की। जैन कवि 'जिनसेन' ने 'पार्श्वाभ्युदय' में मेघदूत के समस्त पद्यों के चरणों की एक प्रकार से समस्यापूर्ति कर दी है। विक्रम कवि ने नेमिदूत में केवल चतुर्थ चरणों की ही पूर्ति की है। सन्देश काव्यों में धोयी का पवनदूत मुख्य है। ये कवि जयदेव के समकालीन थे और राजा लक्ष्मणसेन (१२ शताब्दी) के सभा पण्डितों में अन्यतम थे। हंसदूत अनेक कवियों की लेखनी से प्रस्तुत हुआ है जिनमें वेदान्तदेशिक, वामन भट्ट बाण (१५ शतक) तथा रूपगोस्वामी (१६ शतक) के हंसदूत नितान्त प्रसिद्ध हैं। वेदान्त देशिक ने अपने दूतकाव्य में भगवती जनक नन्दिनी के पास राम का सन्देश भेजा है। रूपगोस्वामी ने पूरे एक सौ शिखरिणी पद्यों में राधा की ओर से कृष्ण को प्रेम सन्देश भेजवाया है। केरल तथा बङ्गाल के कवियों ने अपनी रचनाओं से साहित्य के इस अङ्ग को खूब पुष्ट किया है। चातकदूत, कोकिलदूत आदि अनेक दूतकाव्य हमारे साहित्य में विद्यमान हैं। दूतकाव्य का रूप मुख्यतया शृङ्गार-प्रधान है परन्तु पिछले काल के कवियों ने शान्तरस को पुष्ट करने के लिये भी इनका उपयोग किया है। 'मनोदूत' इसी पिछली मनोवृत्ति का सूचक है।

सन्देश काव्य

प्राकृत भाषा में गीति काव्य का उदय अत्यन्त प्राचीन काल में हुआ। 'गाथा सप्तशती' में सरस श्रृंगारिक गाथाओं का नितान्त अभिराम संग्रह सातवाहन-वंशी राजा हाल ने किया है। इस ग्रंथ की रचना महाराष्ट्रीय प्राकृत में प्रथम शताब्दी में की गई। 'हाल' ने स्वयं लिखा है कि उन्होंने एक करोड़ गाथाओं में से चुनकर सात सौ गाथाएँ एकत्र संग्रहीत की हैं। ये गीतियाँ श्रृङ्गार रस से लबालब भरी हैं। इन गाथाओं में प्राकृत कवियों की ऊँची कल्पना तथा नई सूझ के मंजुल दृष्टान्त प्रचुरमात्रा में उपलब्ध होते हैं। सप्तशती में लोक-जीवन के विविध पटलों का सजीव चित्रण किया गया है। ग्राम्य जीवन अपनी सरलता तथा स्वाभाविकता के साथ इन सुन्दर गाथाओं में झाँक रहा है।

हाल कवि

रन्धनकर्मनिपुणिके मा कुध्यस्व रक्तपाटलसुगन्धम्।
मुखमारुतं पिबन् धूमायते शिखी न प्रज्वलति॥

हे! भोजन-कर्म में निपुण सुन्दरी, आग के न जलने पर क्रोध मत करो। तुम्हारे लाल सुन्दर मुँह से जो हवा निकलती है उसे पीकर आग धुँआ दे रहा है, जलता नहीं। यदि वह जल उठेगा तो तुम्हारे मुँह की सुगन्धित हवा उसे कहाँ मिलेगी?

भर्तृहरि

महाकवि भर्तृहरि की कविता जितनी प्रसिद्ध है, उनका व्यक्तित्व उतना ही अज्ञात है। हम उनकी स्थिति तथा जीवन-चरित से एकदम अपरिचित हैं। दन्तकथा के आधार पर कुछ लोग उन्हें राजा मानते हैं और वह भी विक्रमादित्य का जेठा भाई। परन्तु उनके ग्रन्थ से राजसी भाव तो नहीं टपकता। अतः यह भी घटना निरी दन्तकथा के सिवाय विशेष महत्त्व नहीं रखती। अधिकांश विद्वान उन्हें महावैयाकरण भर्तृहरि से अभिन्न मानते हैं। परन्तु इसके लिये भी पोषक प्रमाण प्रस्तुत नहीं हैं। पश्चिमी शोधक लोग चीनी यात्री इत्सिंग के कथन में आस्था रखते

हुये भर्तृहरि को बौद्ध मानते हैं जो गृहस्थी और संन्यासी जीवन के बीच सात बार इधर से उधर डोलते रहे। पर उनके शतकों के अनुशीलन डंके की चोट बतलाता है कि इनका लेखक वैदिक धर्मावलम्बी ही नहीं बल्कि पूरा अद्वैतवादी था। वैदिक धर्म के आचार, विचार, पद्धति तथा प्रक्रिया पर उन्हें पूरा विश्वास तथा आग्रह था। उनका समय लगभग सप्तम शताब्दी में पड़ता है।

भर्तृहरि के तीन शतक हैं—(१) नीतिशतक (२) शृङ्गारशतक (३) वैराग्यशतक। भर्तृहरि ने संसार का खूब ही अनुभव किया था और उस अनुभव के मार्मिक पक्ष के ग्रहण करने में वे सर्वथा कृतकार्य हुये हैं। जो कवि संसार के बीच रहता हुआ अपने अनुभव के बलपर उसके हृदय को समझने तथा कविता में सुचारु रूप देने में समर्थ होता है वही सच्चा लोकप्रिय कवि है। इस दृष्टि से भर्तृहरि सचमुच जनता के कवि हैं जिनकी सूक्ष्म दृष्टि संसार की छोटी से छोटी वस्तु को निरख उससे उदात्त शिक्षा ग्रहण करने में समर्थ होती है। नीतिशतक में वे उन उदात्त गुणों के ग्रहण करने के लिये आग्रह दिखलाते हैं जिनका अनुशीलन समग्र मानव समाज का परम मंगल साधक है। वे मनुष्य जीवन को सद्गुणों के उपार्जन से सफल बनाने के पक्ष में हैं। जो व्यक्ति सुन्दर नर-देह पाकर भी सद्गुणों का उपार्जन नहीं करता वह उस व्यक्ति के समान उपहास्यास्पद है जो वैदूर्यमणि के बने हुए पात्र में चन्दन की लकड़ी से लहसुन पकाता है अथवा जो सोने के हल से अर्क की जड़ पाने के लिए जमीन जोतता है।

भर्तृहरि की दृष्टि में वही वास्तव में सज्जन है जो दूसरों के परमाणु के समान छोटे गुण को पर्वत के समान बनाकर अपने चित्त में परम संतोष का अनुभव करता है।

परगुण परमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यम्।
निज हृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः॥

शृङ्गार शतक में हमारा कवि शृङ्गार के चटकीला चित्रण करने में नहीं चूकता। वह नारी-हृदय की सच्ची परख रखता हैं। प्रेम से प्रभावित कामी और कामकों के चित्त में जो प्रवृत्तियाँ अपना ललित खेल दिखलाया करती हैं उसे यह कवि सूक्ष्म दृष्टि से देखता है। परन्तु वह इन रंगीली लीलाओं के विषम परिणाम से भी भलीभाँति परिचित है।

वैराग्य शतक भर्तृहरि का सर्वस्व प्रतीत होता है। वे सन्तोष को परम सुख तथा वैराग्य को इसका एकमात्र साधन मानते हैं। सांसारिक विषयों में आसक्त व्यक्ति की यह उक्ति कितनी सजीव और चमत्कार-जनक है :—

धन्यानां गिरि कन्दरेषु वसतां ज्योतिः परं ध्यायता-
मानन्दाश्रुकणान् पिबन्ति शकुना निःशङ्कमङ्केशयाः।
अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतट-
क्रीडाकाननकेलिकौतुकजुषामायुः परं क्षीयते॥

वे लोग सचमुच धन्य हैं जो पर्वत की कन्दराओं में निवास करते हुए परम ज्योति का ध्यान करते हैं। और जिनकी गोदी में बैठे हुए पक्षी नेत्रों से बहनेवाले आनन्द के आँसुओं के कणों को पिया करते हैं। परन्तु मनोरथ से बनाये गये महल, बावली और उपवन में विहार करने से हमारी आयु दिन प्रति दिन क्षीण होती जाती है। सांसारिक पुरुष रात-दिन गृहस्थी की चिन्ता में डूबा रहता है।

भर्तृहरि की दृष्टि में तपस्वी जीवन ही नितान्त श्रेयस्कर हैं। मुनि के लिये पृथ्वी ही रमणीय शय्या है। भुजायें ही तकिया हैं। आकाश ही चँदवा है। अनुकूल वायु ही पंखा है। शरत् का चन्द्रमा दीपक है। विरति उसकी प्रिया है। शान्तमुनि नितान्त सुख का अनुभव ऐश्वर्यशाली सम्राट् के समान करता हुआ आनन्द पाता है :—

मही रम्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता
वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः।

शरच्चन्द्रो दीपो विरतिवनितासङ्गमुदितः
सुखी शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव ॥

अमरुक कवि की कविता जितनी विख्यात है उतना ही उनका व्यक्तित्व अप्रसिद्ध है। उनके देश और काल का ठीक ठीक निर्णय अभीतक न हो पाया है। उनके समय के विषय में हम इतना ही जानते हैं कि

अमरुक

वे नवम शताब्दी से पूर्व विद्यमान थे, क्योंकि आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में उनके मुक्तकों की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है :—

मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। तथा ह्यमरुकस्य कवेः मुक्तकाः शृङ्गाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमाणाः प्रसिद्धा एव।

यह प्रशंसा किसी साधारणकोटि के आलोचकों की न होकर एक आलङ्कारिक शिरोमणि की है। उनकी सम्मति में अमरुक के मुक्तक इतने रस और भाव से भरे हुए हैं कि अल्पकाय होने पर भी प्रबन्ध से समता रखते हैं। यह प्रशंसा तो बहुत बड़ी है परन्तु है सच्ची। हजार वर्ष से अधिक होते आये इन पद्यों की साहित्य-सुषमा पर विदग्ध समाज आज भी उसी प्रकार रीझता है जिस प्रकार वह पहले रीझता था।

अमरुक की कविता बड़ी मनोहारिणी है। शार्दूलविक्रीडित जैसे बड़े छन्दों का उपयोग करने पर भी इनकी कविता में लम्बे-लम्बे समास नहीं आये हैं। अमरुक शब्द-कवि नहीं हैं; रस कवि हैं। इनकी कविताएँ

कविता

मनोरमशृंगार से लबालब भरी हैं। अर्जुनवर्मदेव ने बड़ी मार्मिकता से इस काव्य की आलोचना करते समय दिखलाया है कि कहीं-कहीं पददोष होने पर भी इनमें कोई क्षति नहीं है। भला रसकवि कभी पदविन्यास के झमेले में पड़ा रहता है? उसके लिए पदविह्वलता तो वाञ्छनीय होती है।

अमरुक के शृङ्गार वचनों के सामने अन्य कवियों के सरस वचन नहीं टिक सकते। आनन्दवर्धन का कथन यथार्थ है कि इनके एक-एक

पद्य पूरे प्रबन्ध के समान हैं। जितने भाव एक छोटे प्रबन्ध में दिखाए जा सकते हैं अमरुक ने उतने भाव एक छोटे से पद्य में दिखलाया है। वास्तव में इन्होंने गागर में सागर भरने की लोकोक्ति चरितार्थ की है। इन्होंने प्रेम का जीता जागता चित्र खींचा है। कामी तथा कामिनियों की विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न मनोवृत्तियों का सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत किया है। कहीं पर पति को परदेश जाने के लिए तैयार देखकर कामिनी की हृदय-विह्वलता का चित्र है, तो कहीं पति के शुभागमन के समाचार सुनकर अंग प्रत्यंग से हर्ष की अभिव्यक्ति करने वाली सुन्दरी का कमनीय वर्णन है। ये पद्य क्या हैं? संस्कृत-साहित्य के चमकते हीरे हैं। इसलिए अर्जुनवर्मदेव की यह प्रशस्त प्रशंसा तनिक भी अत्युक्ति नहीं प्रतीत होती—

अमरुककवित्वडमरुकनादेन विनिह्नुता न संचरन्ति।
श्रृङ्गारभणितिरन्या धन्यानां श्रवणयुगलेषु॥

आलोचकों ने इन पद्यों को साहित्य की कसौटी पर कसा है और उन्हें चमकता खरा सोना पाया है। ये ध्वनि के नमूने हैं। इनके कारण अमरुक के प्रतिभासम्पन्न महाकवि होने में तनिक भी सन्देह नहीं रहता। हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों ने अमरुक के भावों को अपनाया है। बिहारी के दोहों में कहीं कहीं इनकी छाया ही दीख पड़ती है परन्तु पद्माकर ने तो अपने जगद्विनोद में इनका सुन्दर अनुवाद कर इन्हें बिल्कुल अपना लिया है।

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतं
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः।
यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता
गन्तव्ये सति जीवित! प्रियसुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते॥

भावी प्रोषित-पतिका अपने जीवन से कह रही है—जब मेरे प्रियतम ने जाने का निश्चय किया तब दुर्बलता के मारे मेरे हाथ के कंकण गिर गये, प्रिय मित्र अश्रु भी जाने लगे। केवल जाने की खबर सुनकर नेत्रों से

सतत धारा छनने लगी। सन्तोष एक क्षण भी न रहा, मन तो पहले ही जाने के लिये तैयार हो गया—ये सब एक साथ ही चलने के लिए तैयार हो गये। हे प्राण! तुम्हें भी तो एक दिन जाना ही है तो अपने मित्रों का साथ क्यों छोड़ रहे हो? मेरे प्राण, प्यारे के जाने की खबर सुन तुम भी चल बसो।

> मुग्धे मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते
> मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरे कुरु प्रेयसि।
> सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना
> नीचैः शंस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति॥

कोई सखी मुग्धा नायिका को सिखला रही है—हे मुग्धे! क्या तुम इसी प्रकार लड़कपन में दिन बिता दोगी। जरा नखड़ा करना सीखो, धैर्य धारण करो। अपने प्यारे के विषय में इस सरलता को दूर करो। इसी प्रकार सखी से समझाई गई नायिका डरकर उसे कहने लगी कि जरा धीरे से कहो। कहीं ऐसा न हो कि हृदय में रहने वाले प्राणेश्वर इन बातों को सुन लें। नायिका का पति पर कितना अनुराग है! मुग्धा का कितना अच्छा शाब्दिक चित्र खींचा गया है।

ये बंगाल के अन्तिम राजा लक्ष्मणसेन (१११६ ई०) की सभा के मान्य कवि थे। इनकी एकमात्र रचना 'आर्या-सप्तशती' है जिसमें नाना विषयों पर सात सौ आर्यायें स्वयं इन्होंने रची है। इस सप्तशती का आदर्श हाल संगृहीत गाथा-सप्तशती है। हाल की सप्तशती तत्कालीन प्राकृत कवियों की विशाल कविताओं का चुना हुआ संग्रह है, पर आर्या सप्तशती एक ही कवि की रचना है।

गोवर्धनाचार्य

भाव तथा अर्थ में अनेक स्थानों पर आश्चर्यजनक साम्य है। गोवर्धन शृंगार रस के आराधनीय आचार्य हैं, इसकी पुष्टि स्वयं जयदेव ने की है—

> शृंगारोत्तर सत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धन—
> स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः।

गोवर्धन आर्या की रचना में नितान्त विख्यात हैं। इनसे पहले किसी कवि ने इस छन्द को इतने सुचारु तथा सुन्दर रूप में नहीं लिखा था। शृङ्गार की नाना अवस्थाओं का वर्णन भी मार्मिकता से किया गया है। नागरिक स्त्रियों की शृङ्गारिक चेष्टाओं का चित्रण जितना चटकदार है उतना ही ग्रामीण महिलाओं की रसभरी स्वाभाविक उक्तियाँ मनोहर हैं। कवि मानव हृदय की प्रवृत्तियों का सच्चा पारखी है। संयोग तथा वियोग के समय कामिनियों के हृदय में जो कल्पनायें ललित खेल किया करती हैं उनकी परख गोवर्धन कवि को खूब है। तथ्य बात यह है कि हमारे कवि ने छोटे से छन्द में विशाल विविध भावों को भरकर गागर में सागर भरने की लोकोक्ति चरितार्थ की है।

सा सर्वथैव रक्ता रागं गुञ्जेव न तु मुखे वहति।
वचनपटोस्तव रागः केवलमास्ये शुकस्येव॥

नायिका नायक के प्रति पूर्णतया अनुरक्त है पर अपने अनुराग को वह मुख से प्रकट नहीं करती। अतः वह उस लाल गुंजाफल के समान है जो मुख को छोड़ सर्वाङ्ग में रक्तवर्ण है। दूसरी ओर वचनचातुरी में दक्ष-नायक है जो मुख मात्र ही से अपने प्रेम का स्थापन करता है। अतः वह उस हरे शुक के समान है जिसका केवल मुख ही लाल होता है।

विरह से संतप्त नायिका का यह वर्णन कितना चमत्कार-जनक है:—

न सवर्णो न च रूपं न संस्क्रिया कापि नैव सा प्रकृतिः।
बाला त्वद्विरहादपि जातापभ्रंशभाषेव॥

अपभ्रंश भाषा के साथ विरहणी की समता सचमुच अनूठी है।

राजा लक्ष्मणसेन की सभा में वे भी महाकवि रहते थे जिनकी लेखनी ने 'गीतगोविन्द' जैसे अमर काव्य की सृष्टि की है। ये महाकवि जयदेव हैं जो बंगाल के केन्दुबिल्व नामक स्थान के निवासी थे। आज भी 'केन्दुली' में

जयदेव

हजारों वैष्णव साधुजन एकत्र होकर इस महाकवि के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं। भक्तों ने इनकी लोकातीत

जीवनी का संरक्षण भक्त-चरितों में बड़ी तत्परता के साथ किया है। इनका जीवन क्या था? आनन्दकन्द व्रजचन्द की दिव्य भक्ति में पगे हुए भक्त का जीवन था। इनका जीवन एक ही रस से बाहर-भीतर ओतप्रोत था और वह रस था भक्तिरस।

इनके 'गीतगोविन्द' में १२ सर्ग हैं। प्रत्येक सर्ग गीतों से ही समन्वित है। सर्गों को परस्पर मिलाने के लिए तथा कथा के सूत्र को बतलाने के लिए कतिपय वर्णनात्मक पद्य भी हैं। 'गीत गोविन्द' क्या है? भगवती संस्कृत भारती के सौन्दर्य तथा माधुर्य की पराकाष्ठा है। महाकवि कालिदास की कविता में भी इस रसपेशल मधुर भाव का हमें दर्शन नहीं मिलता। इस काव्य में कोमलकान्त पदावली का सरस प्रवाह है तथा मधुर भावों का मधुमय सन्निवेश है। आनन्दकन्द व्रजचन्द तथा भगवती राधिका की ललित लीलाओं का जितना ललाम वर्णन यहाँ मिलता है, वह अन्यत्र कहाँ देखने को मिलता है। शब्दमाधुर्य के लिए 'ललितलवङ्गलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे' वाली अष्टपदी का पठन-मात्र पर्याप्त होगा।

भावों का सौष्ठव भी उतना ही हृदयावर्जक है। विरहिणी राधिका के वर्णन में कवि की यह उक्ति कितनी अनूठी है। राधा के दोनों नेत्रों से आँसुओं की धारा झर रही है। जान पड़ता है विकट राहु के दाँतों के गड़ जाने से चन्द्रमा से अमृत धारा बह रही है :—

वहति च वलित-विलोचन-जलभर-मानन-कमलमुदारम्।
विधुमिव विकट विधुन्तुद-दन्त-दलन-गलितामृतधारम्॥

उपमा की कल्पना तथा उत्प्रेक्षा की उड़ान में यह काव्य अनूठा तो है ही, परन्तु इसकी सबसे बड़ी विशिष्टता है प्रेम की उदात्त भावना। राधाकृष्ण के प्रेम की निर्मलता तथा आध्यात्मिकता सुन्दर शब्दों में यहाँ अभिव्यक्त की गई है। शृङ्गार-शिरोमणि कृष्ण भगवत्तत्व के प्रतिनिधि हैं और उनकी प्रेमी गोपिकायें जीव की प्रतीक हैं। राधा कृष्ण का मिलन

जीव ब्रह्म का मिलन है। इस साधनामार्ग के अनेक तथ्यों का रहस्य यहाँ सुलझाया गया है। अर्थ की माधुरी के लिए इस पद्य का पर्यालोचन प्राप्त होगा—

> दृशौ तव मदालसे वदनमिन्दुसंदीपकं
> गतिर्जनमनोरमा विजितरम्भमूरुद्वयम्।
> रतिस्तव कलावती रुचिर-चित्रलेखे भ्रुवा-
> वहो विबुधयौवतं वहसि तन्वि! पृथ्वीगता॥

स्तोत्र साहित्य

संस्कृत का स्तोत्र साहित्य बड़ा ही विशाल, सरस तथा हृदयस्पर्शी है। प्रत्येक धर्म में भक्त अपने हृदय की बातें भगवान् के सामने प्रकट करने तथा उनकी महिमा के वर्णन में अपने कोमल तथा भक्ति-पूरित हृदय को अभिव्यक्त करता है परन्तु हमारे भक्तों ने अपने हृदय की जितनी दीनता, कोमलता, भगवान् की उदारता का परिचय दिया है वह सचमुच उपमाहीन है। हमारे भक्त कवि कभी भगवान् की दिव्य विभूतियों के दर्शन से चकित हो उठता है तो कभी भगवान् के विशाल-हृदय, असीम अनुकम्पा और दीन जनों पर अकारण स्नेह की कथा गाता हुआ आत्म-विस्मृत हो उठता है। अपने पूर्व कर्मों की ओर जब वह दृष्टि डालता है तब उसकी क्षुद्रता उसे बेचैन बना डालती है। बच्चा जिस प्रकार अपनी माता के पास मन-चाही प्यारी वस्तु के न मिलने पर कभी रोता है, कभी हँसता है, आत्म-विश्वास की मस्ती में वह कभी नाच उठता है। ठीक यही दशा हमारे भक्त-कवियों की है। वे अपने इष्ट देवता के सामने अपने हृदय के खोलने में किसी प्रकार की आनाकानी नहीं करते। वे अपने हृदय की दीनता तथा दयनीयता कोमल शब्दों में प्रकट कर सच्ची भावुकता का परिचय देते हैं। इन्हीं गुणों के कारण इन भक्तों के द्वारा विरचित स्तोत्रों में बड़ी मोहकता है, चित्त को पिघला देने की

भारी शक्ति है। संगीत का पुट मिल जाने पर इनका प्रभाव बहुत ही अधिक बढ़ जाता है।

इस विशाल स्तोत्र साहित्य के यथार्थ वर्णन के लिए स्वतंत्र ग्रन्थ की आवश्यकता है। यहाँ कतिपय प्रसिद्ध स्तोत्रों का ही परिचय प्रदान किया जायेगा।

'शिव महिम्न' भगवान् शंकर के स्तोत्रों में इस स्तोत्र का प्रमुख स्थान है। इसके रचयिता कोई पुष्पदन्त आचार्य हैं। परन्तु उनके व्यक्तित्व से हम परिचित नहीं हैं। राजशेखर ने इसका एक पद्य अपनी काव्यमीमांसा में उद्धृत किया है जिससे इसका समय दशम शतक से पूर्व होना सिद्ध है यह स्तोत्र सुन्दर शिखरिणी वृत्तों में लिखा गया है और सचमुच बड़ा भावपूर्ण है। इसके अनेक पद्यों में दार्शनिक भाव भरे हुए हैं। साहित्यिक दृष्टि से इस स्तोत्र की सुन्दरता नितान्त मनोरंजक है। भगवान् शंकर की स्तुति में कवि कह रहा है :—

शिव महिम्नः स्तोत्र

असितगिरि-समं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालम्
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति॥

नीलगिरि के समान यदि काली स्याही हो, समुद्र दावात हो, कल्प-वृक्ष की डाल लेखनी हो, यह विशाल पृथ्वी कागज हो—इन उपकरणों से युक्त होकर यदि भगवती सरस्वती सदा आप के गुणों को लिखे, तो भी हे भगवान्! वह आप के गुणों के अन्त तक नहीं पहुँच सकती।

ये काशी के पूरब के ही कवि थे। गोरखपुर जिले के कुछ प्रतिष्ठित ब्राह्मण लोग अपने को मयूरभट्ट की सन्तान मानते हैं। महाकवि बाणभट्ट के ये सगे सम्बन्धी थे। ससुर थे या स्यालक—दोनों में से कोई थे।

मयूरभट्ट बाण के समान मयूरभट्ट की प्रतिष्ठा श्रीहर्ष के दरबार में थी। सुनते हैं कि किसी कारणवश इन्हें कुष्ठरोग हो गया था जिसके निवारणार्थ उन्होंने सूर्य भगवान् की सुन्दर स्तुति लिखी। मयूर का 'सूर्य-शतक' स्रग्धरा वृत्त में लिखा गया नितान्त-प्रौढ़ काव्य है। स्रग्धरा वृत्त में लिखे गये काव्यों में यही प्रथम काव्य है। संस्कृत भाषा के ऊपर कवि की प्रभुता बहुत ही अधिक है। झनझनाते हुए अनुप्रासों की मधुर ध्वनि सहृदयों के हृदय का आवर्जन करती है। कवि सूर्य के भिन्न-भिन्न अङ्गों और साधनों (जैसे रथ घोड़े इत्यादि) के वर्णन में पूर्णरूप से सफल है। मयूर मुख्यतया 'शब्द कवि' हैं। नोंकझोंक के शब्दों के रखने में ये बेजोड़ हैं।

बाणभट्ट मयूरभट्ट के समकालीन ही न थे, प्रत्युत उनके सगे-सम्बन्धी भी थे। उनकी कीर्ति गद्य-काव्य के रचयिता के रूप में ही विशाल है। गीति-काव्य के निर्माता के रूप में वे कम प्रसिद्ध हैं।

बाणभट्ट उनका 'चण्डीशतक' भगवती दुर्गा की स्रग्धरा वृत्त में बड़ी ही प्रशस्त स्तुति है। यदि बाण महाकाव्य के लिखने के लिए उद्यत होते, तो इस क्षेत्र में भी उन्हें कम सफलता प्राप्त नहीं हुई होती। पर इधर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। चण्डीशतक में बाण की उस परिचित शैली का चमत्कार हम पाते हैं—लम्बे-लम्बे समास, नोंकझोंक के शब्द, कानों में झनकार करने वाले अनुप्रास, ऊँची उत्प्रेक्षा। भोजराज ने सरस्वती कण्ठाभरण में चण्डीशतक का यह प्रशस्त पद्य दृष्टान्त के रूप में दिया है।

> विद्राणे रुद्रवृन्दे सवितरि तरले वज्रिणि ध्वस्तवज्रे
> जाताशङ्के शशाङ्के विरमति मरुति त्यक्तवैरे कुबेरे।
> वैकुण्ठे कुण्ठितास्त्रे महिषमतिरुषं पौरुषोपघ्ननिघ्नं
> निर्विघ्नं निघ्नती वः शमयतु दुरितं भूरिभावा भवानी॥

बाण-मयूर के लगभग पचास वर्ष के भीतर ही धार्मिक क्षेत्र को

उद्भासित करने वाले एक महान् पुरुष का जन्म हुआ। इनका नाम था आचार्य शङ्कर। ये भगवान् की एक दिव्य विभूति थे जिनकी कीर्तिकौमुदी आज भी उसी प्रशान्तरूप से समस्त जगत् को प्रद्योतित कर रही है। दार्शनिक जगत् में उन्होंने अद्वैत तत्त्व की प्रतिष्ठा की। परमार्थ-दृष्टि से वे अद्वैत के तथा मायावाद के परम प्रतिष्ठापक हैं। परन्तु व्यवहार-जगत् में नाना देवताओं की उपासना उन्हें अभीष्ट है। सगुण ब्रह्म की उपासना हमें निर्गुण ब्रह्म तक पहुँचाने के लिए आवश्यक साधन है। इसीलिए शङ्कराचार्य ने उपास्य ब्रह्म के प्रतिनिधिभूत विष्णु, शिव, गणपति, शक्ति हनुमान् आदि नाना देवी-देवताओं की परम रमणीय स्तुतियाँ लिखी हैं। इन स्तोत्रों की संख्या बहुत ही अधिक है। इन सब को आदिशङ्कराचार्य की रचना मानना उचित नहीं है, परन्तु इनमें से अनेक प्रसिद्ध स्तोत्र आचार्य की ललित लेखनी के प्रसाद हैं।

शङ्कराचार्य

शङ्कराचार्य की काव्यकला बड़े ही ऊँचे दर्जे की है। उसे हम अन्तः-प्रेरणा का, प्रशस्त प्रतिभा का, मधुमय फल समझते हैं। शङ्कर की कविता निःसन्देह रसभाव-निरन्तरा है, आनन्द का अक्षय स्रोत है, उज्ज्वल अर्थ रत्नों की मनोरम पेटिका है, कमनीय कल्पना की ऊँची उड़ान है। उनके स्तोत्र हमारे स्तोत्र साहित्य के शृङ्गार हैं। उनमें संगीत की इतनी माधुरी है कि श्रोताओं का हृदय उनकी ओर हठात् आकृष्ट हो जाता है। 'भज गोविन्दम्'—केवल इसी स्तोत्र का पाठ इस कथन को प्रमाणित सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है—

भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढमते।
प्राप्ते सन्निहिते तव मरणे नहि नहि रक्षति डुकृञ्करणे॥
बालस्तावत् क्रीडासक्तः, तरुणस्तावत् तरुणीरक्तः।
वृद्धस्तावत् चिन्तामग्नः, पारे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढमते।

—की स्वरलहरी जब हमारे कर्णकुहरों में अमृतरस बरसाने लगती है तब जान पड़ता है हम इस क्लेशबहुल जगत् से ऊँचे उठकर किसी आनन्दमय दिव्य लोक में जा विराजते हैं। आचार्य की कविता का परम सौन्दर्य एकत्र देखने के लिए 'सौन्दर्य लहरी' का अध्ययन पर्याप्त होगा। भगवती त्रिपुरसुन्दरी के दिव्य सौन्दर्य की छटा इस लहरी में जितनी प्रस्फुटित हुई है उतनी अन्यत्र शायद ही हो। भाषा तथा भाव, रस तथा अलंकार, साहित्य तथा तन्त्र—किसी भी दृष्टि से इस लहरी का अनुशीलन किया गया, इसकी अलौकिकता पद पद पर प्रमाणित होती है। इसमें सिर से लेकर पैर तक भगवती के अंग-प्रत्यंग की शोभा का सुचारु वर्णन हम पाते हैं। आरम्भ के चालीस पद्यों में हम तन्त्रशास्त्र के गम्भीर रहस्यों का परिचय पाते हैं। साहित्य सौन्दर्य तथा तान्त्रिक गूढता—उभयरूप में यह स्तोत्र अपनी समता नहीं रखता। भगवती कामाक्षी के सीमन्त तथा सिन्दूर रेखा का यह वर्णन साहित्य संसार के लिए वस्तुतः एक नई वस्तु है, कल्पना की कमनीयता का एक अभिराम उदाहरण है:—

तनोतु क्षेमं नस्तव वदनसौन्दर्यलहरी-
परीवाहः स्रोतः सरणिरिव सीमन्तसरणी।

वहन्ती सिन्दूरं प्रबलकवरीभारतिमिर-
द्विषां वृन्दैर्बन्दीकृतमिव नवीनार्ककिरणम्॥

कुलशेखर का मुकुन्दमाला स्तोत्र तथा यामुनाचार्य का आलवन्दार स्तोत्र श्री वैष्णव मत के स्तोत्रों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। कुलशेखर त्रिवाङ्कुर राज्य के प्राचीन राजा माने जाते हैं जिनका आविर्भाव दशम शतक में हुआ। ये वैष्णवधर्म के सुप्रसिद्ध आलवारों में अन्यतम माने जाते हैं। इनका मुकुन्दमाला स्तोत्र वैष्णव-स्तोत्रों का मुकुट-मणि है। कवि कभी अपनी दीन-हीन दशा का वर्णन करते आत्मविस्मृत हो जाता है, तो कभी वह भगवान् विराट् रूप के

कुलशेखर

दर्शन से चमत्कृत हो उठता है। इनके श्लोक संख्या में केवल ३४ ही हैं, परन्तु इनमें हृदय को आवर्जन करने की विचित्र शक्ति है।

दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो नरके वा नरकान्तक प्रकामम्।
अवधीरित शारदारविन्दौ चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि॥

"मेरा निवास इस भूतल पर हो, या स्वर्ग में हो। हे नरक को दूर भगाने वाले भगवन्! चाहे मेरी स्थिति नरक में ही क्यों न हो? आप के शरद् ऋतु में खिले कमलों की शोभा को तिरस्कृत करने वाले चरणों को मैं मरण में भी सदा स्मरण किया करता हूँ।"

यामुनाचार्य श्रीवैष्णवमत के प्रतिष्ठापक रामानुजाचार्य के परमगुरु थे। इनका समय ईसा की दसवीं शताब्दी है। दक्षिण भारत ही इनके धार्मिक उपदेशों का प्रधान क्षेत्र था। इनका तामिल नाम 'आल-वन्दार' था

यामुनाचार्य

और इसी कारण इनका परमरम्य स्तोत्र 'आलवन्दार स्तोत्र' के नाम से विख्यात है, यद्यपि आन्तरिक सुषमा के कारण भक्तजन इसे 'स्तोत्ररत्न' के नाम से पुकारते आते हैं। इनके पद्यों की संख्या कम ही है। कवि ने अपना भक्तिभावित हृदय भगवान् के सामने इतनी दीनता-भरे शब्दों में प्रकट किया है कि पाठकों का चित्त इसे पढ़ गद्गद हो जाता है। प्रपत्ति का भाव इसमें बड़ी सुन्दरता से अभिव्यक्त किया गया है।

तवामृतस्यन्दिनि पादपङ्कजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति।
स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरसं समीक्षते॥

हे भगवन्, मेरा चित्त आपके अमृतरस चुलाने वाले पाद-पद्मों में रम गया है, भला अब वह किसी दूसरी चीज को क्योंकर चाहेगा? पुष्परस से भरे हुए कमल के विद्यमान रहने पर क्या भौंरा ईख के रस को कभी देखता है? उसे चखने की तनिक भी अभिलाषा उसके हृदय में उठती है?

लीलाशुक का 'कृष्णकर्णामृत'[1] चैतन्य महाप्रभु का परम प्रिय स्तोत्र बतलाया जाता है। प्रसिद्धि है कि महाप्रभु दक्षिण देश से यह स्तोत्र लाये थे। यह स्तोत्र सचमुच भक्तों के कान में अमृतरस डालता है। भाव जितने सुन्दर तथा चमत्कारी हैं भाषा उतनी रसपेशल तथा मधुर है:—

मुग्धं स्निग्धं मधुरमुरलीमाधुरीधीरनादैः
कारं कारं करणविवशं गोकुलव्याकुलत्वम्।
श्यामं कामं युवजनमनोमोहनं मोहनाङ्गं
चित्ते नित्यं निवसतु महो वल्लवीवल्लभं नः॥

वेंकटाध्वरि

वेंकटाध्वरि मद्रास प्रान्त के निवासी श्रीवैष्णव थे। इन्होंने अपने 'विश्वगुणादर्शचम्पू' में मद्रास में अंग्रेजों के रहने तथा उनके दुराचार का वर्णन किया है जिससे इनका स्थितिकाल १७ वीं शताब्दी का मध्यभाग निश्चित होता है। इनका कीर्ति स्तम्भ 'लक्ष्मी-सहस्र' है जिसे कवि ने एक ही रातभर में बनाकर अपने अद्भुत रचना-चातुरी का परिचय दिया है। इन स्तोत्ररत्न में भगवती लक्ष्मी की स्तुति पूरे एक हजार पद्यों में की गई है। सैकड़ों श्लोक तो लक्ष्मी के ललित अंग के वर्णन में लिखे गये हैं। इस काव्य में अलंकारों की छटा सुतरां अवलोकनीय है। वेंकटाध्वरि मुख्यतः शब्द कवि हैं। श्लेष लिखने में ये बेजोड़ हैं। इनका हृदय भक्तिभावना से नितान्त आप्यायित है, परन्तु उनके पाण्डित्य का प्रकर्ष कम नहीं है। कभी वे भगवती से दया की भिक्षा माँगते हैं, तो कभी वे उनकी विरुदावलि गाने में व्यस्त हो जाते हैं। कभी उनकी दृष्टि लक्ष्मी जी के अंगों के सौंदर्य पर गड़ जाती है, तो कभी उनके श्रवण भगवती के गुणों के सुनने में लग जाते हैं। उन्होंने जो कुछ लिखा है उसमें अलौकिक प्रतिभा, नित्यनूतन उत्प्रेक्षा, कमनीय रचना चातुरी का परिचय दिया है। संस्कृतभाषा में इस रसपेशल तथा उत्प्रेक्षामण्डित काव्य लिखकर वेंकटाध्वरि सचमुच अमर हो गये हैं।

इनकी एक-एक सूक्ति पर विदग्ध समाज बड़े-बड़े पोथों को निछावर करने को तैयार है। भगवती लक्ष्मी के कटि का यह वर्णन कल्पना में एकदम बेजोड़ है :—

> परमादिषु मातरादिमं यदिमं कोषकृताह मध्यमम्।
> अमरः किल पामरस्ततः स बभूव स्वयमेव मध्यमः॥

हे मातः, आप जगत् की जननी हैं। आप की कटि इस सृष्टि के आदि में विद्यमान व्यक्तियों में आदिम है—प्रथम है। भगवती सृष्टि की विधायिका ठहरीं। उनकी कटि सबसे आदि वस्तु है। ऐसे उत्तम वस्तु को अमर नामक कोष रचयिता ने मध्यम (नीच) बतलाया है। 'कटि' का पर्याय 'मध्य' या मध्यम है। 'मध्यमं चावलग्नं च मध्योऽस्त्री' इत्यमरः। इस अनुचित कथन की सजा उसे खूब मिली। वह तो ठहरा अमर—श्रेष्ठ देवता, पर इसी अपराध के कारण वह बन गया पामर, नीच तथा मध्यम—मध्यलोक का निवासी मनुष्य। देवता का मर्त्यलोक में जन्मना महान् दण्ड है। अब इसके श्लिष्ट अर्थ पर विचार कीजिए। 'परम' का अर्थ है—पर है मकार जिनमें अर्थात् मकारान्त शब्द। 'आदि-म' का अर्थ है आदि में 'म' वाले शब्द तथा इसी रीति से 'मध्य म' से तात्पर्य मध्य में मकार वाले शब्दों से है। लक्ष्मी जी का मध्यम अन्तिम मकार वाले शब्दों में आदि मकार वाला है, परन्तु फिर भी कोषकार उसे मध्य मकार वाला बतलाता है। इस उल्टी बात का फल यह हुआ कि वह मध्यम—मध्य मकार वाला—बन गया। 'अमर' के बीच में मकार है। अतः बुरे कथन का फल इसे ही मिला। वह स्वयं मध्यम बन गया। यहाँ प्रसन्न श्लेष की छटा सुतरां विलोकनीय है। प्रतिभा के साथ पाण्डित्य का मेल नितान्त सुन्दर है।

काश्मीर के कवियों ने भी अनेक प्रशस्त स्तोत्रों की रचना की है जिनमें उत्पलदेव की शिवस्तोत्रावली तथा जगद्धरभट्ट की 'स्तुति-

कुसुमाञ्जलि' नितान्त प्रसिद्ध हैं। काश्मीरी शैवों में इन स्तोत्रों की वही प्रतिष्ठा है, वही आदर है जो वैष्णव में पूर्वोक्त स्तोत्रों को प्राप्त है। उत्पलदेव त्रिकदर्शन के आचार्यों में अन्यतम हैं। त्रिकदर्शन की इन्होंने अपने ग्रन्थों से पर्याप्त प्रतिष्ठा की। इनका समय नवम शताब्दी है। इनकी शिवस्तोत्रावली में २१ विभिन्न स्तोत्रों का संग्रह है। इन सबका एक ही विषय है—भगवान् शङ्कर के अनन्त गुणों का वर्णन, उनके कमनीय रूप की मधुर झाँकी। इन पद्यों के भाव बड़े ही उच्च कोटि के हैं। भगवान् शंकर से सम्पर्क रखने वाली छोटी से छोटी चीज़ हमारे भक्तकवि को प्यारी है, परन्तु उनके सम्बन्ध से रहित प्रशस्त वस्तु भी उन्हें रुचिर नहीं लगती :—

कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते कालकूटमपि मे महामृतम्।
अप्युपात्तममृतं भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि मे न रोचते ॥

हे भगवन्, आपके कण्ठ के कोने में रखा गया कालकूट भी मेरे लिए महान् अमृत के समान पोषक तथा संजीवक है। परन्तु यदि आप के शरीर से पृथक् होकर रहने वाला अमृत भी हो, तो वह मुझे नहीं रुचता। भक्तकवि की भावुकता कितने स्पष्ट अक्षरों में अभिव्यक्त हुई है।

जगद्धर भट्ट—(१४ वीं शताब्दी) ये गौरधर के पौत्र तथा रत्नधर के पुत्र थे। इनका निवास स्थान काश्मीर था। इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है—स्तुतिकुसुमाञ्जलि जिसमें ३८ स्तोत्र हैं और १४०० श्लोक हैं। जगद्धर

जगद्धरभट्ट

भगवान् शङ्कर के अनन्त उपासक थे। इनकी कविता भक्ति-परिपूरित हृदय की मनोरम उद्गार है। इनकी विलक्षण कविता में श्लेष, अनुप्रास तथा यमक का अपूर्व सम्मेलन है। इनकी कविता अतीव सरस तथा सरल है। उसका अधिकांश भाग करुणरस से परिपूरित है। कवि ने ऐसे-ऐसे प्रभावोत्पादक और हृदयद्रावक ढंग से शङ्कर को आत्मनिवेदन किया है कि कठिन हृदय व्यक्तियों का भी चित्त भक्ति-भाव से आर्द्र हो जाता है!

भगवान् ! क्या मुझे आप अधम, पापात्मा और खल समझकर तो मेरी उपेक्षा नहीं कर रहे हो ? नहीं, नहीं, ऐसा समझना तो आप करुणा-सागर के लिए उचित नहीं है। क्योंकि; अकुतोभय पुण्यात्मा को आपकी रक्षा की क्या आवश्यकता है ? आपकी अनुकम्पा तो हम सरीखे असाधु, अधम और पापात्माओं पर ही सार्थक हो सकती है। अतः हमलोग ही आपकी दया के पात्र हैं :—

> स्वैरेव यद्यपि गतोऽहमधः कुकृत्यै-
> स्तत्रापि नाथ तव नास्त्यवलेपपात्रम् ।
> दृप्तः पशुः पतति यः स्वयमन्धकूपे
> नोपेक्षते तमपि कारुणिको हि लोकः ॥

पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ जगद्धारभट्ट से तीन सौ वर्ष पीछे हुए। ये तैलङ्ग ब्राह्मण थे। वे काशी के ही निवासी थे। परन्तु तत्कालीन दिल्ली बादशाह शाहजहाँ के निमन्त्रण पर दिल्ली गये और वहीं उनके जेठे पुत्र दाराशिकोह के संस्कृत के शिक्षक रहे। उनकी विद्वत्ता से प्रसन्न होकर शाहजहाँ ने ही उन्हें 'पण्डितराज' की उपाधि से विभूषित किया। भगवान् कृष्ण के ये परम उपासक थे। यवनी-संसर्ग से दूषित होने की किम्वदन्ती निरी गल्प है। इनके चरित्र में उद्दण्डता की मात्रा अधिक थी। तभी तो ये वयोवृद्ध दार्शनिक शिरोमणि अप्पयदीक्षित की दिल्लगी उड़ाने में कभी नहीं चूकते थे। इनके जोड़ का कवि इधर तीन सौ वर्षों में कोई हुआ, यह कहना कठिन है। इनकी शैली प्रसादमयी थी, प्रतिभा अलौकिक थी, भाषा पर प्रभुत्व आश्चर्यजनक था, कल्पना की उड़ान नितान्त ऊँची थी। कवित्व के साथ पाण्डित्य का इतना मञ्जुल सम्मिलन मिलना असम्भव नहीं, तो दुःसम्भव अवश्य है। कविता लिखने की इतनी शक्ति थी कि इन्होंने 'रसगङ्गाधर' में अलङ्कारों तथा रसों के उदाहरण के लिये अपने ही नये श्लोक

चलाये हैं, किसी प्राचीन उदाहरण को उच्छिष्ट समझकर छूना भी इन्होंने उचित नहीं समझा।

इनके काव्यग्रन्थों में पाँच लहरियों का स्थान मुख्य है। इन लहरियों के नाम ये हैं—(१) करुणा लहरी, जिसमें भगवान् की दया की प्रार्थना की गई है। (२) गंगा लहरी या पियूष लहरी (गंगा की स्तुति) (३) अमृत लहरी (यमुना की स्तुति)। (४) लक्ष्मी लहरी (लक्ष्मी जी की स्तुति)। (५) सुधा लहरी (सूर्यस्तुति)। इनके स्फुट पद्यों का संग्रह 'भामिनी विलास' में किया गया है।

पण्डितराज जगन्नाथ की कविता में स्वाभाविक प्रवाह है, पदों की मनोरम शय्या है तथा कल्पना का अभिराम चमत्कार है। भगवान् कृष्ण के चरणारविन्द में उनकी गाढ़ भक्ति थी। इसी कारण उनके काव्य भक्ति-रस से नितान्त स्निग्ध हैं। हम उनके काव्य को 'द्राक्षापाक' का सुन्दर उदाहरण मानते हैं। कालिन्दी के किनारे गोपियों के संग में विहार करने वाले व्रजचन्द्र श्रीकृष्ण की सुषमा बड़े ही सुन्दर शब्दों में चित्रित की गई है—

स्मृतापि तरुणातपं करुणया हरन्ती नृणा-
मभङ्गुरतनुत्विषां वलयिता शतैर्विद्युताम्।
कलिन्दगिरिनन्दिनीतटसुरद्रुमालम्बिनी
मदीयमति-चुम्बिनी भवतु कापि कादम्बिनी॥

जैनस्तोत्र—ब्राह्मणों के समान जैन मतानुयायियों तथा बौद्धों ने भी सुन्दर स्तोत्रों का निर्माण किया है। इन स्तोत्रों की संख्या कम नहीं है। जैन स्तोत्र मात्रा में अधिक हैं। केवल काव्यमाला के सप्तम गुच्छक में तेईस जैन स्तोत्रों का एकत्र संकलन है जिनमें मानतुङ्गाचार्य का 'भक्तामर स्तोत्र' तथा सिद्धसेन दिवाकरका 'कल्याणमन्दिर स्तोत्र' भाषा के सौष्ठव तथा भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति के कारण जैनियों में नितान्त विख्यात हैं। मानतुङ्ग बाण-मयूर के समकालीन बतलाये जाते हैं और सिद्धसेन का समय उनसे

भी दो शताब्दी पूर्व माना जाता है। ये दोनों स्तोत्र स्तोत्र-साहित्य के रत्न हैं और भक्त हृदय के सच्चे उद्गार हैं। कवि अपनी नम्रता दिखलाता हुआ कह रहा है कि हे जिनवर ! कम पढ़े-लिखे तथा विद्वानों की हँसी के पात्र होने पर तुम्हारी भक्ति ही मुझे मुखर बनाती है। वसन्त में कोकिल स्वयं नहीं बोलना चाहता, प्रत्युत आमकी मंजरी उसे बलात् कूजने का निमंत्रण देती है—

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।
यत् कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति तच्चारुचूतकलिका-निकरैकहेतु।

कल्याणमन्दिर स्तोत्र में केवल ४४ पद्य हैं, परन्तु काव्यदृष्टि से यह नितान्त अभिनन्दनीय है। कविता बड़ी प्रासादिक तथा नैसर्गिक है। कवि की उक्तियों में बड़ा चमत्कार है। कवि का कहना है कि हे जिन ! आप की अलौकिक महिमा से युक्त-परिचय की बात तो दूर रहे। आप का नाम ही जगत् की रक्षा करता है। निदाघ के दिनों में कमल से युक्त तालाब का सरस वायु भी तीव्र आतप से सन्तप्त बटोहियों की गर्मी दूर कर देता है। जलाशय की बात तो दूर ही ठहरी—

आस्तामचिन्त्य-महिमा जिन ! संस्तवस्ते
नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति।
तीव्रातपोपहतपान्थ-जनान् निदाघे
प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि॥

श्रीवादिराज का 'एकीभावस्तोत्र', सोमप्रभाचार्य की 'सूक्तिमुक्तावलि' (९९ पद्य), श्री जम्बूगुरु का 'जिनशतक' (पूरा एक शत स्रग्धरा वृत्त में पद्य)—आदि अनेक स्तोत्रों की रचना जैन कवियों ने की है। आचार्य 'हेमचन्द्र' ने भी भगवान् महावीर की स्तुति में प्रौढ़ दार्शनिक स्तोत्र लिखा है जिसमें ब्राह्मण तथा बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों की संक्षिप्त मार्मिक आलोचना की गई है। इस स्तोत्र का प्रसिद्ध नाम है—अन्ययोग-

व्यच्छेदिका द्वात्रिंशिका काव्य । मूलग्रन्थ से भी बढ़कर प्रसिद्ध है इसकी पाण्डित्यपूर्ण टीका मल्लिषेणसूरि 'स्याद्‌वादमञ्जरी'

बौद्ध स्तोत्र

बौद्धस्तोत्र—बौद्धों के महायान सम्प्रदाय में स्तोत्रों की संख्या पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। महायान सम्प्रदाय में शुष्क ज्ञान के स्थान पर भक्ति की प्रधानता है। भक्ति से बुद्ध के सामने फल फूल के अर्पण करने से ही निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है, यही मान्यता इस सम्प्रदाय की है। भक्ति की प्रधानता होने के कारण महायानी भिक्षुओं ने संस्कृत भाषा में सुन्दर स्तोत्रों की रचना की। शून्यवाद के प्रधान प्रतिष्ठापक आचार्य नागार्जुन के भक्तिपूरित स्तोत्र हाल में ही प्राप्त हुए हैं। उन्होंने चार स्तोत्रों का निर्माण किया था जो 'चतुःस्तव' के नाम से प्रसिद्ध है। इनके अनुवाद तिब्बती भाषा में उपलब्ध हैं। सौभाग्यवश इनके दो स्तोत्र मूल संस्कृत में उपलब्ध हुए हैं जिनमें एक का नाम है—'निरौपम्यस्तवः' और दूसरे का 'अचिन्त्यस्तवः'। दोनों स्तोत्रों की भाषा सरस, सुस्त तथा भक्ति-संवलित है। जो लोग शून्य को बिलकुल अभावात्मक मानते हैं उन्हें यह पढ़कर आश्चर्य होगा कि नागार्जुन के ये स्तोत्र आस्तिकवाद के परम रमणीय उदाहरण हैं। इन पर कालिदास की छाया स्पष्ट है। उदाहरण के लिए इन श्लोकों को देखिए :—

नामयो नाशुचिः काये क्षुत्तृष्णा सम्भवो न च ।
त्वया लोकानुवृत्त्यर्थं दर्शिता लौकिकी क्रिया ॥
नित्यो ध्रुवः शिवः कायस्तव धर्ममयो जिनः ।
विनेयजनहेतोश्च दर्शिता निर्वृतिस्त्वया ॥

सप्तम परिच्छेद

संस्कृत गद्य

संस्कृत भाषा का गद्य साहित्य कुछ अपनी विशिष्टता लिए हुए है। आर्य जाति के साहित्य में गद्य का प्रथम अवतार हमारी देववाणी में ही हुआ। वैदिक संहिताओं में ही हमें गद्य का प्रथम दर्शन मिलता है। गद्य से मिश्रित होने के कारण ही कृष्णयजुर्वेद का कृष्णत्व है। प्राचीनतम गद्य का उदाहरण हमें इस वेद की तैत्तिरीय संहिता में उपलब्ध होता है। इस संहिता में गद्य भाग पद्य की अपेक्षा मात्रा में कथमपि न्यून नहीं है। इस वेद की अन्य संहिताओं—जैसे काठक संहिता, मैत्रायणी संहिता आदि—में भी गद्य की सत्ता उसी मात्रा में है। कालक्रम से कुछ उतर कर अथर्ववेद का गद्य है। अथर्व का छठा भाग गद्यात्मक ही है। समग्र ब्राह्मणों की रचना गद्य रूप में ही है। यज्ञों के वर्णनात्मक होने से इसका प्रयोग उचित ही है। आरण्यकों में भी गद्य की ही प्रचुरता है। उपनिषदों में प्राचीन उपनिषद् गद्यात्मक ही हैं। इस प्रकार वैदिक साहित्य में गद्य का प्रयोग बहुत ही व्यापक, उदार तथा उदात्त रूप से हुआ है। लौकिक संस्कृत के ग्रन्थों में तदपेक्षया गद्य का प्रयोग बहुत ही कम हुआ है।

दर्शन के ग्रन्थों में जहाँ किसी सिद्धान्त का विवेचन ही मुख्य विषय है गद्य का व्यापक प्रयोग मिलता है, परन्तु ज्योतिष तथा वैद्यक आदि वैज्ञानिक विषयों के ग्रन्थों में जहाँ इसका प्रयोग औचित्य प्राप्त है हमें गद्य का दर्शन भी दुर्लभ है। चरक संहिता में प्राचीन गद्य के नमूने अवश्य मिलते हैं, परन्तु अन्य वैद्यक ग्रन्थों की रचना छन्दोबद्ध ही है। ज्योतिष की भी यही दशा है। विशुद्ध साहित्य ग्रन्थों की दशा इससे

कुछ अच्छी नहीं है। पद्य के प्रति लेखकों के पक्षपात का कारण यह है कि पद्य-बद्ध ग्रन्थ शीघ्रता से याद किये जा सकते हैं। छन्द का माध्यम उन्हें संगीतमय तथा लघुकाय बना देता है जिससे वे स्मृतिपट पर अमिट रूप से अंकित हो जाते हैं। लेखक को छन्द का आश्रय लेने पर थोड़े में ही अपनी युक्तियों के प्रदर्शन का अवसर मिल जाता है। इन्हीं कारणों से लौकिक संस्कृत में गद्य का उतना विकास, प्रचलन तथा प्रसार न हुआ जितना उनमें स्वभाविक रीति से होने की आशा की जा सकती थी।

संस्कृत गद्य की विशेषता

संस्कृत गद्य की पहली विशिष्टता है—लाघव, लघुकायता। जो विचार अन्य भाषा में पूरे लम्बे वाक्य में प्रकट किये जा सकते हैं वे संस्कृत गद्य के एक ही पद में अभिव्यक्त किये जा सकते हैं इसका कारण समास की सत्ता है। समास संस्कृत भाषा का जीवन है। इसने अधिक से अधिक अर्थ को कम से कम शब्दों में अभिव्यक्त करने की योग्यता प्रदान की है। ओज गुण के कारण संस्कृत गद्य में विचित्र प्रकार की भावग्राहिता तथा गाढ़बन्धता का संचार होता है जिससे गद्य का सौन्दर्य पूरे रूप में खिल उठता है। ओज का प्रधान लक्षण है—समास की बहुलता (समास-भूयस्त्व) और यही ओज गद्य का प्राण है। ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्—यह उक्ति अवश्य ही आलंकारिक दण्डी की है जिनका आविर्भाव गद्य साहित्य के सुवर्णयुग में हुआ था परन्तु संस्कृत गद्य की यह विशिष्टता बड़े प्राचीन काल से चली आती है। इसका सद्भाव प्रथम तथा द्वितीय शतक के शिलालेखों में प्रचुरता से है। पश्चिमी भारत के प्रसिद्ध क्षत्रप रुद्रदामन् के शिलालेख को पढ़ने पर यही जान पड़ता है कि हम बाण की शैली से प्रभावित गद्य पढ़ रहे हैं, परन्तु यह गद्य बाण से लगभग पाँच सौ वर्ष पहले उट्टङ्कित किया गया था। हरिषेण की प्रयागप्रशस्ति का

गद्य भी इसी प्रकार प्रौढ़, समासबहुल तथा उदात्त है। विजयस्तम्भ के वर्णन में कवि की यह उक्ति सदा विदग्धों को चमत्कृत करती रहेगी—

सर्वपृथिवीविजयजनितोदयव्याप्तनिखिलावनितलां कीर्तिमितस्त्रिदशपतिभवनगमनावाप्तललितसुखविचरणामाचक्षाण इव भुवो बाहुरयमुच्छ्रितः स्तम्भः।

इस शैली का प्रयोग गद्य काव्य के लिखने में किया जाता था, परन्तु कथानकों के वर्णन में सीधी-सादी भाषा का ही प्रयोग होता था।

शास्त्रीय ग्रन्थों में गद्य का ही साम्राज्य है। विचारविनिमय का तथा शास्त्र के सिद्धान्तों के वर्णन का उचित माध्यम गद्य ही है। शास्त्रार्थ के समय तो बोलचाल की शैली का प्रयोग हम पाते हैं, परन्तु युक्तियों तथा तर्कों के प्रदर्शन में हमें प्रौढ़ गद्य का प्रयोग उपलब्ध होता है। हमारे दार्शनिकों ने अपने विचारों को सुचारु रूप से अभिव्यक्त करने के लिए 'विचार-मापक' नवीन पारिभाषिक शब्दों की उद्भावना कर रखी है। गद्य तो विचारों को प्रकट करने का मुख्य माध्यम है। उसे बिना युक्तियुक्त तथा प्रौढ़ बनाये हम अपने दार्शनिक विचारों को यथार्थ रूप से प्रकट ही नहीं कर सकते। इसी दृष्टि से हमारे दार्शनिकों ने अपनी शैली पर दार्शनिक गद्य की सृष्टि की है। तथ्य की बात तो यह है कि कोमल भावों को प्रकट करने की जितनी शक्ति संस्कृत गद्य में है उतनी ही या उससे अधिक दर्शन शास्त्र के दुरूह तथ्यों के अभिव्यक्त करने की भी शक्ति उसमें विद्यमान है। लैटिन भाषा का गद्य बड़ा ही प्रौढ़, सुन्दर तथा ओजस्वी बतलाया जाता है, परन्तु संस्कृत भाषा के गद्य में ये गुण उससे कहीं अधिक मात्रा में विद्यमान हैं। दर्शन के पेचीदे, गूढ़ तथा सूक्ष्म तत्त्वों का प्रतिपादन संस्कृत भाषा के ही द्वारा हो सकता है, यह जानकारों की माननीय सम्मति है। अतः देववाणी का गद्य प्राचीनता की दृष्टि से तथा प्रौढ़ता, उपादेयता तथा भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से हमारे साहित्य का एक गौरवपूर्ण अंग है—इस कथन में तनिक भी संदेह नहीं।

गद्य का विकास

गद्य के वैदिक काल से आरम्भ कर मध्यकाल तक विकसित होने का इतिहास बड़ा ही मनोरम है। गद्य के दो प्रकार के रूप मिलते हैं—वैदिक काल का सीधा-सादा, बोलचाल का गद्य तथा लौकिक संस्कृत का प्रौढ़, समासबहुल, गाढबन्ध वाला गद्य। दोनों प्रकार के गद्यों में अपना विशिष्ट सौन्दर्य तथा मोहकता है। वैदिक गद्य में सीधे-सादे, छोटे-छोटे शब्दों का हम प्रयोग पाते हैं। 'ह' 'वै' 'उ' आदि अव्यय वाक्यालंकार के रूप में प्रयुक्त हैं। इनके प्रयोग से वाक्य में रोचकता तथा सुन्दरता का समावेश हो जाता है। समास की विशेष कमी है। उदाहरणों का बहुल प्रयोग है। उपमा तथा रूपक का कमनीय सन्निवेश वैदिक गद्य को विदग्ध की दृष्टि में हृदयावर्जक बनाये हुआ है। इस कथन की पुष्टि में कालक्रम से गद्य का निरीक्षण आवश्यक होगा।

व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत्। स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्नपश्यत् तत् प्राजनयत्। तदेकमभवत् तल्ललाममभवत्, तन्महदभवत्, तज्जेष्ठमभवत्, तद्ब्रह्माभवत्, तत् तपोऽभवत् तत्सत्यमभवत् तेन प्राजायत। (अथर्व १५ काण्ड १ सूक्त)

ब्राह्मणग्रन्थों के गद्य का एक नमूना देखिए—

अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवता। आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयमेकादशकपालं सर्वाभ्य एवैनं तद्देवताभ्योऽनन्तरायं निर्वपन्ति।

(ऐतरेय ब्राह्मण १।१)

यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति तद् भूमा। अथ यत्रान्यत् पश्यति अन्यच्छृणोति अन्यद् विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्॥

(छान्दोग्य ७।२४)

वैदिक गद्य तथा लौकिक संस्कृत के गद्य को साथ मिलाने का काम

पौराणिक गद्य करता है। यह गद्य नितान्त आलङ्कारिक तथा प्रासादिक है। श्रीमद्भागवत तथा विष्णुपुराण का गद्य इसका स्पष्ट उदाहरण है। इसमें साहित्यिक गद्य का समग्र सौन्दर्य विद्यमान है। उसमें विशेष गाढ-बन्धता की कमी अवश्य है—

यथैव व्योम्नि वह्निपिण्डोपमं त्वामहमपश्यं तथैवाद्याग्रतो गत-मप्यत्र भगवता किञ्चिन्न प्रसादीकृतं विशेषमुपलक्षयामीत्युक्ते भगवता सूर्येण निजकण्ठादुन्मुच्य स्यमन्तकं नाम महामणिवरमवतार्य एकान्ते न्यस्तम्। (विष्णु ४।१३।१४)

शिलालेखों में उपलब्ध गद्य भी नितान्त प्रौढ़, आलङ्कारिक तथा हृदयावर्जक है :—

प्रमाणमानोन्मान-स्वरगतिवर्ण-सारसत्त्वादिभिः परमलक्षण-व्यञ्जनैरुपेतकान्तमूर्तिना स्वयमधिगत-महाक्षत्रपनाम्ना नरेन्द्रकन्या-स्वयम्वरानेकमाल्यप्राप्तदाम्ना महाक्षत्रपेण रुद्रदाम्ना सेतुं सुदर्शनतरं कारितम्। (रुद्रदामन् का गिरनार लेख १५० ईस्वी)

हमने ऊपर इस गद्य की विशिष्टता का प्रदर्शन किया है। हमारे समग्र दर्शन ग्रन्थ गद्य में ही लिखे गये हैं और उनमे अपने अर्थ-प्रकटन की योग्यता सुचारु रूप से विद्यमान है, परन्तु अर्थों की अभिव्यक्ति के

शास्त्रीय गद्य

चरम लक्ष्य होने के कारण इन ग्रन्थकारों का ध्यान शब्द-सौन्दर्य रखने की ओर कम गया है। शब्द रूखे-सूखे भले हों, मनोगत भावों को प्रकट करना उन्हें चाहिए। परन्तु इन दार्शनिकों के बीच कतिपय ऐसे भी ग्रन्थकार हैं जिनका गद्य विशुद्ध साहित्यिक गद्य के समान रसपेशल तथा सुन्दर है। इन दार्शनिकों की अपनी विशिष्ट शैली है जिसका प्रयोग उन्होंने अपने ग्रन्थों में किया है। ऐसे शास्त्रकारों में हम चार को चुन लेते हैं—(१) पतञ्जलि, (२) शबर स्वामी (३) शङ्कराचार्य, (४) जयन्त भट्ट। ये विद्वान् अपने शास्त्र के महनीय आचार्य हैं पर साथ ही साथ इनका गद्य नितान्त उदात्त तथा विशेष

प्राञ्जल है। इसे पढ़ते समय हमें तनिक भी ज्ञात नहीं होता कि इसमें किसी दुरूह विषय का प्रतिपादन किया जा रहा है। महर्षि पतञ्जलि की महाभाष्य लिखने की शैली विलक्षण है। यह व्याकरण का आकर ग्रन्थ तो है ही, साथ ही साथ समस्त शास्त्रों का पिण्डीभूत सिद्धान्त है।

पतञ्जलि परिचित विषयों पर भी नई बात बतलाने से नहीं चूकते। उनकी है बोलचाल की भाषा और शैली है कथनोपकथन की रीति। जान पड़ता है कि छात्र उनके सामने बैठे हैं और वे उन्हें अपना सिद्धान्त समझा रहे हैं। उनके गद्य की रमणीयता देखिए—

ये पुनः कार्या भावा निर्वृतौ तावत् तेषां यत्नः क्रियते। तद् यथा घटेन कार्यं करिष्यन् कुम्भकारकुलं गत्वाह—कुरु घटं कार्यमनेन करिष्यामीति। न तद्वच्छब्दान् प्रयुयुक्षमाणो वैयाकरणकुलं गत्वाह—कुरु शब्दान् प्रयोक्ष्य इति। तावत्येवार्थमुपादाय शब्दान् प्रयुञ्जते। (पस्पशाह्निक)

शबरस्वामी प्रौढ़ मीमांसक हैं जिन्होंने कर्ममीमांसा के सूत्रों पर अपना प्रसिद्ध भाष्य लिखा है। उनकी शैली भी सीधी-सादी तथा रोचक है—

इच्छयात्मानमुपलभामहे। कथमिति? उपलब्धपूर्वे ह्यभिप्रेते भवतीच्छा। यथा मेरुमुत्तरेण यान्यस्मज्जातीयैरनुलब्धपूर्वाणि स्वादूनि वृक्षफलानि न तानि प्रत्यस्माकमिच्छा भवति। (१।१।५)

शंकराचार्य के गद्य की सुषमा निराली है। उनके वाक्य सारगर्भित, प्रौढ़ तथा प्राञ्जल हैं। वाचस्पति मिश्र जैसे विद्वान् ने उसे यथार्थतः प्रसन्न-गम्भीर कहा है। उनके गद्य में वीणा की मधुर झंकार सुनाई पड़ती है। साहित्यिक माधुर्य तथा प्रसाद से पेशल यह गद्य संस्कृत भारती का सौन्दर्य है। उनके एक-एक वाक्य पर गद्य के पोथे निछावर किये जा सकते हैं। एक सारगर्भित वाक्य है—

नहि पद्भ्यां पलायितुं पारयमाणो जानुभ्यां रंहितुमर्हति।

अर्थात् पैरों से भागने में समर्थ व्यक्ति के लिए घुटनों से रेंगना शोभा नहीं देता। आचार्य का गद्य मात्रा में भी अधिक है। ब्रह्मसूत्र, गीता तथा उपनिषदों का भाष्य लिखना विशेष रचना-चातुर्य का द्योतक है। आचार्य के गद्य की असामान्य सुषमा नितरां अवलोकनीय है—

सर्वो हि पुरोऽवस्थिते विषये विषयान्तरमध्यवस्यति, युष्मत्प्रत्ययापेतस्य च प्रत्यगात्मनोऽविषयत्वं ब्रवीषि। उच्यते—न तावदयमेकान्तेनाविषयः, अस्मत् प्रत्ययविषयत्वात्। न चायमस्ति नियमः पुरोऽवस्थित एव विषये विषयान्तरमध्यसितव्यमिति। अप्रत्यक्षेऽपि हि आकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यवस्यन्ति।

जयन्तभट्ट ये न्यायशास्त्र के विख्यात आचार्य हैं। इनकी 'न्याय मंजरी' न्याय दर्शन का प्रामाणिक ग्रन्थ है। इनका गद्य बड़ा ही सुन्दर, सरस तथा प्राञ्जल है। न्याय तो स्वभाव से ही कठिन ठहरा। फिर भी इन्होंने उसे अपनी रोचकशैली से अत्यन्त हृदयंगम बना दिया है। इनके गद्य में व्यङ्ग उक्तियों की काफी भरमार है। इनकी शैली का परिचय इस उद्धरण से भलीभाँति लग सकता है:—

आः क्षुद्रतार्किक सर्वज्ञानभिज्ञोऽसि, ब्रह्मैव जीवात्मानो नहि ततोऽन्ये। न हि दहनपिण्डाद् भेदेनापि भान्तः स्फुलिङ्गा अग्निस्वरूपा भवन्ति। तत् किं ब्रह्मण एवाविद्या? न च ब्रह्मणोऽविद्या।

पाली गद्य

पाली बोलचाल की भाषा थी जिसका प्रयोग भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेशों में किया। जनता के हृदय तक अपने उपदेशों को पहुँचाना उनका उद्देश्य था और इसीलिए उन्होंने देववाणी का आश्रय छोड़कर लोकवाणी का अवलम्बन ग्रहण किया। इनके गद्यात्मक उपदेश विषय को हृदयंगम कराने के लिए पर्याप्त हैं।

पाली गद्य

त्रिपिटकों का पाली गद्य बड़ा ही सरल तथा सुबोध है। पुनरुक्ति की

उसमें बहुलता है। पाली गद्य के दो रूप हैं—एक तो वह जो जातकों में मिलता है। यह स्वभाव से ही सीधा-सादा होने पर भी कथा के वर्णन में सर्वथा समर्थ है। दूसरा गद्य नितान्त प्रौढ है जो शास्त्रीय ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। मिलिन्द पन्हो (मिलिन्द प्रश्न) का गद्य इसी श्रेणी का है। इसकी प्रौढता के कारण अनेक विद्वानों को इसे मौलिक होने में सन्देह है। वे तो पूरे ग्रंथ को संस्कृत में विरचित होने और पीछे पाली में अनुवाद किये जाने की कल्पना करते हैं। जातकों की भाषा में बोलचाल के विशिष्ट शब्द और मुहावरों का प्रयोग अधिक दीख पड़ता है। जातक के शब्द उस युग की कल्पना है जिसमें वाल्मीकि-रामायण रचित हुआ। उदाहरण के लिए पाली के 'गोचर' तथा 'अनिय्यानिक' शब्दों को लीजिए। गोचर का अर्थ है—शिकार की खोज में जाना। यह प्रयोग 'शशजातक' में है (अत्तनो अत्तनो गोचरट्ठाने गोचरं गहेत्वा) साथ ही साथ वाल्मीकि में भी उपलब्ध है—गोचरं गतयोर्भ्रात्रोरपनीता त्वयाऽधम (सुन्दर काण्ड) 'अनिय्यानिक' का अर्थ है असुखकर, दुःख देनेवाला। वाल्मीकि ने 'निर्याण' का प्रयोग सुख के अर्थ में किया है। निर्याणमिति मे मतिः (सुन्दर काण्ड)। पाली के सरल गद्य का अवतरण देखिये—

अतीते वाराणसियं ब्रह्मदत्ते रज्जं कारेन्ते बोधिसत्तो ससयोनियं निब्बत्तित्वा अरञ्ञे वसति। तस्स पन अरञ्ञस्स एकतो पब्बतपादो, एकतो नदी एकतो पच्चन्तगामको। अपरे पिस्स तयो सहाया अहेसुं—मक्कटो, सिगालो उद्दो ति।

प्रौढ पाली गद्य का सुन्दर नमूना देखिए।

बुद्धानं विभ्वनं वधानेन समन्नागतानं सन्दस्सेन्तो नवङ्गजिन-सासन-रतनं, उपदिसन्तो धम्ममग्गं, धारेन्तो धम्मपज्जोतं, उस्सापेन्तो धम्मयूपं यजन्तो धम्मयागं, पग्गण्हन्तो धम्मद्धजं उस्सापेन्तो

धम्मकेतुं, धमेन्तो धम्मसंखं, आहनन्तो धम्मभेरिं, नदन्तो सीहनादं सागलनगरं अनुप्पतो होति। मिलिन्द पञ्हो पृ० २३ बाहिर कथा।

गद्य का अभ्युदय

संस्कृत में गद्यात्मक कथाओं का उदय विक्रम से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व हुआ था। कात्यायन ने ४।२।६० सूत्र के अपने वार्तिक (आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च) में आख्यान और आख्यायिका का उल्लेख अलग-अलग किया है। पतञ्जलि ने 'यवक्रीत,' 'प्रियङ्गव' तथा 'ययाति' का आख्यान के उदाहरण में तथा 'वासवदत्ता' और 'सुमनोत्तरा' का आख्यायिकाके उदाहरण में नामनिर्देश किया है। काशिका में भी इन्हीं नामों का उल्लेख मिलता है, परन्तु उन सत्ता का पता अभी तक नहीं चलता।

(१) सुबन्धु

सुबन्धुः बाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः।
वक्रोक्तिमार्ग-निपुणाः चतुर्थो विद्यते न वा॥

गद्यकाव्यों के लेखकों में सुबन्धु ही सर्व प्रथम है। इनके व्यक्तित्व का पता हमें नहीं चलता। इनकी एकमात्र रचना है—वासवदत्ता। प्राचीन काल में वासवदत्ता की प्रेम कहानी बड़ी प्रसिद्ध थी, परन्तु इस गद्य काव्य में नाम के अतिरिक्त उससे कोई भी सम्बन्ध नहीं है। यह पूरा कथानक कवि के मस्तिष्क की उपज है। केवल नायिका का नाम प्राचीन है। वासवदत्ता के रचना-काल का निर्णय अभी तक नहीं हो पाया है। बाणभट्ट ने सुबन्धु की वासवदत्त को महावीर कर्ण की शक्ति के समान बतलाकर उसके महनीय प्रभाव की प्रशस्त प्रशंसा की है। अतः इनका बाण से प्राचीन होना स्वाभाविक है। कवि ने अपने ग्रन्थ के उपोद्घात में किसी विक्रमादित्य के कीर्तिशेष होने का उल्लेख बड़ी सौन्दर्यमयी भाषा में किया है—

सा रसवत्ता विहता नवका विलसन्ति चरति नो कङ्कः।
सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये ॥

परन्तु इस विक्रमादित्य के ठीक परिचय न होने से उनका समय अनिश्चित रहता है। सुबन्धु न्यायवार्तिक के रचयिता उद्द्योतकर की कीर्ति से परिचित रखते हैं (न्यायस्थितिमिव उद्द्योतकरस्वरूपाम्)। उद्द्योतकर का समय षष्ठ शताब्दी का अन्त माना जाता है। इसलिए हम सुबन्धु को सप्तम शतक के आरम्भ में रखने के पक्षपाती हैं।

वासवदत्ता उन गद्यकाव्यों का प्रतिनिधित्व करती है जिनमें कथानक नितान्त स्वल्प रहता है तथा वर्णन प्रचुर मात्रा में रहता है। स्वल्प कथावृत्त को कवि ने अपने कविकौशल से खूब अलंकृत और चमत्कृत बनाया है। सुजनैकबन्धु सुबन्धु ने सरस्वती की कृपा से वर प्राप्त किया था और तभी वे 'प्रत्यक्षर-श्लेषमय-प्रपञ्च-विन्यास-वैदग्ध-निधिं प्रबन्धं' के बनाने में समर्थ हुए थे। उन की इस प्रतिज्ञा के अनुसार उनका काव्य सचमुच प्रत्यक्षर में श्लेष-मण्डित है। यहाँ सभङ्ग और अभङ्ग—उभय प्रकार के श्लेषों की मानो बाढ़ सी आ गई है। विरोधाभास, उपमा तथा उत्प्रेक्षा की कमी नहीं है, पर श्लेष का विन्यास ही सुबन्धु की निजी विशिष्टता है। महाराज चिन्तामणि का यह वर्णन बड़ा सुचारु तथा रुचिर है—"नन्दगोप इव यशोदयान्वितः, जरासन्ध इव घटित-सन्धि-विग्रहः, भार्गव इव सदा न भोगाः, दशरथ इव सुमित्रोपेतः सुमन्त्राधिष्ठितश्च, दिलीप इव सुदक्षिणयान्वितः रक्षितगुश्च; राम इव जनित-कुशलव-वयोरूपोच्छ्रायः।

गुण-दोष

आशय है कि यशोदा अन्वित नन्द गोप के समान वह यश और दया से अन्वित था; जरा के द्वारा संगठित अंगवाले राजा जरासन्ध के समान वह सन्धि और विग्रह (युद्ध) का सम्पादक था। सदा नभ (आकाश) में गमन करने वाले (सदा + नभो + गः) शुक्र के सदृश वह सदा दान तथा भोग से सम्पन्न था।

सुबन्धु का श्लेषप्रेम मात्रा को पार कर गया है। अनेक स्थलों पर श्लेष की प्रसन्नता तिरोहित हो गई है। श्लेष चाहिए साफ-सुथरा, सरल, विशेष क्लिष्ट नहीं। परन्तु दुर्भाग्यवश श्लेषानुरक्ति ने कवि को इस आदर्श से वञ्चित रखा है। इतने अप्रसिद्ध तथा कठिन श्लेषों का प्रयोग किया गया है कि विद्वानों के भी दिमाग चक्कर काटने लगते हैं, अर्थ समझने के लिए पाठकों पर 'कोपं परयन् पदे पदे' की उक्ति चरितार्थ होती है।

(२) बाणभट्ट

रुचिरस्वरवर्णपदा रसभाववती जगन्मनो हरति।
सा किं तरुणी ? नहि नहि वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य ॥

बाणभट्ट भगवती शारदा के वरद पुत्र थे। उनके ऊपर लक्ष्मी और सरस्वती दोनों की अनुकम्पा समभाव से विद्यमान थी। कवि समाज में उनका जितना आदर था उतना ही सम्मान उन्हें राजदरबार में भी प्राप्त था। हर्षचरित के आरम्भिक दो परिच्छेदों में बाण ने जो अपनी आत्म-कथा लिखी है वह उनके जीवनचरित जानने के लिए ही उपयोगी नहीं है, प्रत्युत साहित्य दृष्टि से भी अनुपम वस्तु है। बाणभट्ट सोण नद के किनारे प्रीतिकूट नामक नगर में निवास करते थे। इनके पितामह का नाम अर्थपति और बाप का नाम चित्रभानु था। लड़कपन में पिता के मर जाने पर अपने अनेक साहित्यिक संगियों के साथ इन्होंने भारतवर्ष का पर्याप्त पर्यटन किया, खूब लोक-चातुरी प्राप्त की। और अन्त में थानेश्वर के तत्कालीन नरेश महाराज हर्षवर्धन की विद्वत्सभा के प्रमुख पण्डित के पद पर विराजमान हुए। हर्षवर्धन का समय ईस्वी की सप्तम शताब्दी का पूर्वार्ध है और यही समय बाणभट्ट के आविर्भाव का समय है। मयूरभट्ट बाण के सम्बन्धी बतलाये जाते हैं, परन्तु यह सम्बन्ध निश्चित रूप से ज्ञात नहीं होता।

बाणभट्ट के ग्रन्थ विद्वत्समाज में प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध तथा

लोकप्रिय रहे हैं। चण्डीशतक में भगवती दुर्गा की स्तुति एक सौ स्रग्धरा पद्यों में बड़ी ओजस्वनी भाषा में की गई है। पार्वतीपरिणय शिव पार्वती के विवाह की पवित्र कथा का वर्णन करने वाला नाटक है जिस पर कुमारसंभव की छाया अत्यधिक मात्रा में पड़ी हुई है। मुकुटताडितक को नलचम्पू के टीकाकार जैन विद्वान चन्द्रपाल तथा गुणविजय-गणि बाण की रचना बतलाते हैं परन्तु अभी तक उपलब्ध न होने के कारण हम इसके परीक्षण करने से वञ्चित हैं। संभव है यह किसी दूसरे बाण की रचना हो। हर्षचरित संस्कृत साहित्य में सबसे पुरानी उपलब्ध आख्यायिका है। कादम्बरी तो बाणभट्ट की ही रचनाओं में नहीं, प्रत्युत समस्त गद्य-साहित्य का सर्वस्व है।

हर्षचरित—आठ उच्छ्वासों में निबद्ध हुआ है। आरम्भ के दो उच्छ्वासों में बाणभट्ट ने अपना विस्तृत परिचय दिया है। गद्य लिखने में यह बाण का प्रथम प्रयास मालूम पड़ता है। भाषा इसकी उतनी मँजी हुई नहीं है जितनी कादम्बरी की। यह ऐतिहासिक विषय पर गद्य लिखने का प्रथम प्रयास है। काव्य की दृष्टि से इसमें अनेक विशेषताएँ हैं। बाण की अलौकिक वर्णनाशक्ति का परिचय हमें यहीं से उपलब्ध होने लगता है। हर्ष के जन्मकाल का वर्णन आनन्द तथा उल्लास से भरा हुआ है। प्रभाकरवर्धन के अन्तिम क्षणों का दृश्य करुणा तथा विषाद से परिपूर्ण है। हर्ष एक ओजस्वी प्रजापालक तथा वदान्य नरपति के रूप में वर्णित हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इसका मूल्य कम नहीं है। बाणभट्ट के द्वारा वर्णित घटनाओं की सत्यता इधर उपलब्ध होने वाले ऐतिहासिक ग्रन्थों तथा शिलालेखों के द्वारा उद्घोषित की जा रही है।

कादम्बरी—बाणभट्ट की सर्वश्रेष्ठ रचना है। इसके दो खण्ड हैं—पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध पूरे ग्रन्थ का दो तिहाई भाग है और यह बाण की रचना है। उत्तरार्द्ध पूरी कादम्बरी का केवल तृतीयांश है और पिता के मर जाने पर इस अंश की रचना कर पुलिन्दभट्ट ने कादम्बरी

की पूर्ति की। कादम्बरी संस्कृत गद्य-साहित्य का समुज्ज्वल हीरक है। भाषा और भाव—शब्द और अर्थ—दोनों का उचित सम्मिलन इस गद्य-काव्य में लक्षित होता है। वर्णनों की सुन्दरता की बात क्या पूछी जाय? कहीं विन्ध्याचल की विकट अटवी तथा साहसप्रेमी शबर-सैन्य का रोमाञ्चकारी वर्णन है, तो कहीं धर्म की साक्षात् मूर्ति, सदयता के परम अवतार, आध्यात्मिकता के ज्वलन्त निदर्शन, जाबालि मुनि तथा उनके परम पावन मन भावन आश्रम की सुभग शोभा दर्शकों का हृदय लुभाती है। कहीं बाल्यकाल में गन्धर्वों के अंक में विहार करने वाली कलभाषिणी वीणा की तरह मञ्जुवादिनी स्निग्धहृदया महाश्वेता की विरहविधुरा मूर्ति का दर्शन मिलता है, तो कहीं अवलोकसामान्य सौख्यों का अनुभव करने वाली गन्धर्वराज कन्या सरसहृदया कमनीय-कलेवरा कादम्बरी की प्रेममयी कथा श्रोताओं के चित्त-चंचरीक को अपनी ओर आकृष्ट करती है। सर्वत्र ही अलंकारों का मधुर झङ्कार कानों को सुख दे रहा है—रागात्मिका वृत्ति की सुभग व्यंजना हृदय को खिला रही है। सच तो यह है अलंकार तथा रस के मधुर-मिलन में—भाषा तथा भावके परस्पर सम्पर्क में कल्पना तथा वर्णन के अनुरूप संघटन में—कादम्बरी संस्कृत-साहित्य में अनुपम है, अद्वितीय है। कादम्बरी रसिक हृदयों को मत्त कर देने वाली कादम्बरी है—मीठी मदिरा है। पुलिन्दभट्ट का यह कथन प्रत्येक सहृदय के विषय में चरितार्थ हो रहा है—

कादम्बरीरसभरेण समस्त एव
मत्तो न किञ्चिदपि चेतयते जनोऽयम्।

बाणभट्ट सरस्वती देवी के वरद पुत्र थे। इनका गद्य-काव्य कादम्बरी अपने विषय में अद्वितीय माना जाता है। प्राचीन काल में ही समालोचकों की दृष्टि बाणभट्ट की मधुर कविता पर पड़ी थी। गोवर्धनाचार्य बाणभट्ट को वाणी का साक्षात् अवतार मानते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार अधिक प्रगल्भता प्राप्त करने के लिए

कविता

शिखण्डिनी शिखण्डी बन गई थी, उसी भाँति पुरुषरूप में अतिशय चमत्कार पाने की इच्छा से वाणी (सरस्वती) ने बाण का रूप-धारण किया :—

जाता शिखण्डिनी प्राग् यथा शिखण्डी तथाऽवगच्छामि ।
प्रागल्भ्यमधिकमाप्तुं वाणी बाणो बभूवेति ॥

बाणभट्ट की काव्य-शैली को पांचाली रीति कहना चाहिए । पांचाली में अर्थ के अनुरूप ही शब्दों की गुम्फना होती है । जैसे सरल अर्थ, तत्समान ही सुकुमार वर्ण-विन्यास । बाण की कविता में ललित पद-विन्यास है, रचनाशैली सुन्दर है तथा नये-नये अर्थों का मनोहर विनिवेश है—

शब्दार्थयोः समो गुम्फः पाञ्चाली रीतिरुच्यते ।
शिलाभट्टारिकावाचि बाणोक्तिषु च सा यदि ॥

बाणभट्ट में पात्रों के चरित चित्रण की अद्भुत कला है । उनके पात्र इतनी सजीवता के साथ चित्रित किये गये हैं कि उनकी मञ्जुल मूर्ति हमारे नेत्रपटल के सामने आकर उपस्थित हो जाती है । प्रजा-पालक तथा पराक्रमी महाराज शूद्रक की वीर मूर्ति किसके हृदय में उत्साह का सञ्चार नहीं करती ? सौम्य तापस हारीत

पात्र

ज्ञानवृद्ध जाबालि, वदान्य नरपति तारापीड, शास्त्र तथा व्यवहार कुशल अमात्य शुकनास, शुभ्रवसना तपस्विनी महाश्वेता, कमनीय कलेवरा कादम्बरी—ये कवि की तूलिका से चित्रित पात्र पाठकों के चित्त पर अपना अमिट प्रभाव डालते हैं । सच्चा कवि वहीं होता है जो संसार का विविध अनुभव प्राप्त कर उनके मार्मिक पक्ष के ग्रहण में समर्थ होता है । इसी कसौटी पर कसने से बाणभट्ट की कविता खरे सोने के समान खरी उतरती है । कवि का लोकवृत्त-ज्ञान नानात्मक तो था ही, पर उसकी यथार्थता और भी चमत्कारणीय है । बाणभट्ट कभी तो सुख-समृद्धि तथा भोगविलास के जीवन को चित्रित करने में अनुरक्त दीख पड़ते हैं, तो

कभी वे तपस्वी-जीवन की मार्मिक अभिव्यञ्जना में निरत दिखाई पड़ते हैं। तथ्य बात यह है कि बाणभट्ट का अनुभव बड़ा ही विशाल, विविध तथा यथार्थ था। उसी के बल पर उन्होंने अपना सुन्दर गद्य काव्य रचा है।

कादम्बरी का प्रकृतिवर्णन बड़ा ही सुन्दर तथा सजीव हुआ है। संस्कृत के कुछ महाकवि प्रकृति के मञ्जुल रूप के चित्रण में ही चतुर दीख पड़ते हैं, तो कुछ कवि प्रकृति के भयावह तथा रोमांचकारी स्वरूप के वर्णन में कृतकार्य प्रतीत होते हैं। परन्तु बाणभट्ट की यह भूयसी विशेषता है कि उनकी लेखनी ने समभाव से प्रकृति के उभय प्रकार के मधुर तथा भयावह दृश्यों के वर्णन में सफलता प्राप्त की है। इन दृश्यों के स्वरूप को हृदयङ्गम कराने के लिए कवि ने नाना अलङ्कारों की सहायता ली है। उपमा, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास तथा परिसंख्या का स्तूप खड़ा कर कवि ने पाठकों के सामने अपने वर्ण्य विषय की मञ्जुल अभिव्यञ्जना की है। विन्ध्याटवी के भयङ्कर रूप का चित्रण बाण ने जितनी सफलता के साथ किया है वह सचमुच आश्चर्यजनक है। विन्ध्याटवी गिरितनया पार्वती के समान स्थाणु (शङ्कर तथा वृत्त) युक्त तथा मृगपति से सेवित है। जानकी के समान कुश लव (कुश लव नामक लड़के तथा कुश के छोटे-छोटे टुकड़े) को उत्पन्न करने वाली तथा निशाचर से आश्रित है। कभी वह कामिनी के समान चन्दन, मृगमद के सुगन्ध को धारण करने वाली तथा सुन्दर अगुरू और तिलक (पेड़) से विभूषित है, तो कभी वह उस कामपरायण। उत्कण्ठिता नायिका के समान प्रतीत होती है जिसे पल्लवों से पंखा कर आराम पहुँचाया जा रहा हो। महर्षि जाबालि के आश्रम का सात्त्विक मनोरम वर्णन पढ़ किस पुरुष का चित्त तपोवन की भव्यमूर्ति से प्रभावित नहीं होता? तपोवन के वर्णन में जितनी प्रभावोत्पादक बातों की आवश्यकता है उन सब का एकत्र वर्णन कर कवि ने सचमुच हमारे सामने बड़ा ही अनुपम दृश्य प्रस्तुत किया है। हम उस दृश्य को कभी नहीं लख सकते

प्रकृति-निरीक्षण

जिसमें बाणभट्ट ने आश्रम के वृद्ध अन्ध तापसों को परिचित वानरों के द्वारा छड़ी पकड़कर भीतर आने और बाहर जाने का वर्णन किया है—परिचितशाखामृग-कराकृष्टयष्टि-निष्क्राश्यमान-प्रवेश्यमान-जरदन्धतापसम्। ऋतुओं का चित्रण भी बड़ी मार्मिकता के साथ किया गया है। प्रभात तथा सन्ध्या, अन्धकार तथा चन्द्रोदय आदि प्रकृति के नानादृश्यों के वर्णन बड़ी ही सहृदयता तथा यथार्थता के साथ अङ्कित किये गये हैं।

प्रेमवर्णन

कवि ने जिस प्रणय की यह मनोरम कहानी प्रस्तुत की है वह प्रणय भी बाहरी चाकचिक्य से उत्पन्न रूप-छटा पर केवल अनुरक्तिमात्र नहीं है, प्रत्युत वह दो सहृदय व्यक्तियों के अन्तःस्तल को परस्पर बाँधने वाला, अनेक जन्मों तक अपनी अभिव्यक्ति करने वाला अलौकिक आनन्दोत्पादक विकार है। कादम्बरी की प्रणय-लीला केवल एक ही जन्म से सम्बन्ध नहीं रखती, बल्कि वह तीन जन्मों के परिवर्तन होने पर भी अनेक माधुर्य में किसी प्रकार के ह्रास का अनुभव नहीं करती। शरीर का परिवर्तन भले हो जाय, कर्मवश प्राणी नाना योनियों में भले ही भ्रमण करता रहे, परन्तु उसका दृढ़ प्रेम सदा ही उसका अनुगमन किया करता है। कादम्बरी की कथा हमें इस महान् तथ्य की सत्यता भली भाँति प्रतिपादित करती है।

शैली

बाणभट्ट की शैली गद्य कवियों के लिए आदर्शभूत है। वह प्रभावशाली गद्य के लिखने में नितान्त प्रवीण हैं। जो आलोचक बाण के गद्य को भारतीय जङ्गलों के समान भयावह तथा हिंस्र पशुओं के सदृश अप्रसिद्ध तथा कठिन शब्दों से मण्डित बतलाते हैं, वे सचमुच यथार्थता से कोसों दूर हैं। चित्रण की सजीवता तथा प्रभावशालिता उत्पन्न करने के लिए बाणभट्ट ने समासबहुला ओजो-गुणमण्डिता शैली का स्थान-स्थान पर अवश्य आश्रय लिया है; परन्तु अन्यत्र छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग कर उन्होंने अपनी शैली को सशक्त तथा प्रभावोत्पादक बतलाया है। कवि किसी एक शैली का क्रीत दास

नहीं होता। वह तो विषय के अनुसार अपनी शैली को परिवर्तित किया करता है। जिन बाणभट्ट ने अटवी तथा सन्ध्या के वर्णन में दीर्घ समासों की छटा दिखलाई है, वे ही विरह-वर्णन के अवसर पर लघु-कलेवर प्रासादिक वाक्यों की शोभा प्रस्तुत करते हैं।

कपिञ्जल के द्वारा की गई पुण्डरीक की भर्त्सना कितनी प्रभावशालिनी है! सच तो यह है कि बाण के गद्य में सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति, चमत्कृत वर्णन-प्रणाली, अक्षय शब्द-राशि तथा कल्पना-प्रसूत मौलिक अर्थों की उद्भावना विशेष रूप से पाई जाती है। उनके गद्य में इतना प्रभाव तथा प्रवाह है कि अनुकरण करने वाले कवियों के लाख प्रयत्न करने पर भी उनके गद्य में इतना चमत्कार उत्पन्न नहीं हो पाया। इसीलिए तो त्रिलोचन कवि की दृष्टि में बाण की रसभाववती कविता के सामने अन्य कवियों की रचना केवल चपलतामात्र है :—

हृदि लग्नेन बाणेन यन्मन्दोऽपि पदक्रमः।
भवेत् कविकुरङ्गाणां चापलं तत्र कारणम्॥

बाण के गद्य का केवल एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है। बाणभट्ट राजा चन्द्रापीड का वर्णन कर रहे हैं—

यत्र च महाभारते शकुनिवधः, पुराणे वायुप्रलपितं, वयःपरिणामे द्विजपतनम्, उपवन-चन्दनेषु जाड्यम्, अग्नीनां भूतिमत्त्वम्, एणकानां गीतव्यसनं, शिखण्डिनां नृत्यपक्षपातः, भुजङ्गमानां भोगः, कपीनां श्रीफलाभिलाषः, मूलानामधोगतिः।

वहाँ महाभारत में शकुनि का वध था (अन्यत्र कहीं चिड़ियों का वध नहीं होता था), वायु-जन्य प्रलाप पुराण (वायु पुराण) में था (वायु के झोंके में कोई बक-झक नहीं करता था), द्विजों-दाँतों-का गिरना बुढ़ापे में होता था, (द्विज लोग जातिच्युत नहीं थे क्योंकि वे सदा सदाचारी होते थे)। जड़ता उपवन के चन्दनों में थी, अन्यत्र नहीं। भूतिमत्ता (भस्मधारण) अग्नियों में थी, अन्यत्र नहीं। गीत सुनने का व्यसन

मृगों को था (यह बुरा व्यसन और किसी को न था), नाचने के समय मयूरों के पंख गिरते थे (और किसी को नृत्य के लिए विशेष अनुराग न था)। भोग (फण) साँपों को था; मनुष्यों में भोग नहीं था। वानरगण श्रीफल के अभिलाषी थे। अन्यजन लक्ष्मी के फलों (श्रीफल) के इच्छुक न थे। अधोगति (नीचे जाना) वृक्षों की जड़ों में थी, मनुष्यों में नहीं।

(३) दण्डी

कविर्दण्डी कविर्दण्डी कविर्दण्डी न संशयः।

महाकवि दण्डी का जीवनचरित अभी तक पूर्ण रूप से ज्ञात नहीं हुआ है। अभी हाल में अवन्तिसुन्दरी कथा तथा अवन्तिसुन्दरी-कथासार नामक पुस्तकें उपलब्ध हुई हैं। पहले ग्रन्थ के रचयिता दण्डी ही बतलाये जाते हैं। इस ग्रन्थ में इस महाकवि का जीवन चरित कुछ विस्तार के साथ दिया हुआ मिलता है। इस ग्रन्थ के अनुसार दण्डी के प्रपितामह दामोदर या तो स्वयं महाकवि भारवि ही थे अथवा भारवि के कोई अन्तरङ्ग मित्र थे। दामोदर के पुत्र हुए मनोरथ और मनोरथ को भी चार वेदों की भाँति चार पुत्र-रत्न उत्पन्न हुए जिनमें 'वीरदत्त' सबसे छोटे होने पर भी सुयोग्य दार्शनिक थे। इनकी पत्नी का नाम था 'गौरी'। ये ही दण्डी के माता-पिता हैं। ये दक्षिण के काञ्ची नगर में निवास करते थे। बालकपन में ही माता-पिता के मर जाने पर ये पहले निराश्रय होकर इधर-उधर भटकते-फिरते थे। अनन्तर स्थायी रूप से पल्लव नरेश की सभा में आकर ये रहने लगे और यहीं रहकर इन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना की। अवन्तिसुन्दरी के प्रमाण पर दण्डी का यही जीवन चरित है। दण्डी दक्षिण के काञ्ची के निवासी थे, इस विषय का संकेत काव्यादर्श के प्राचीन टीकाकार 'तरुण वाचस्पति' ने अपनी टीका में भी किया है। अतः दण्डी को काञ्ची के पल्लव नरेश के आश्रय में मानना सर्वथा युक्तियुक्त है।

दण्डी के समय का निर्णय अनेक आधारों के ऊपर भलीभाँति किया जा सकता है। सिंघली भाषा का अलंकार ग्रन्थ 'सिय-बस-लकर' (स्व-भाषा-लङ्कार) काव्यादर्श के आधार पर रचा गया है। इसके रचियता राजासेन प्रथम महावंश के अनुसार ८४६–८६६ ई० तक लंका में राज्य करते थे। इससे भी पहले के कन्नडी-भाषा के अलंकारग्रन्थ 'कविराज मार्ग' में काव्यादर्श की प्रचुर छाया यथेष्ट रूप से दीख पड़ती है। ग्रन्थ के लेखक राजा अमोघवर्ष का समय ८१५ ई० के आसपास माना जाता है। अतः काव्यादर्श की रचना नवम शताब्दी के पूर्व ही हुई। दण्डी कालिदास के प्रसिद्ध श्लोकांश—मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्मलक्ष्मीं तनोति—का उद्धारण अपने काव्यादर्श में करते हैं :—

समय

लक्ष्म लक्ष्मीं तनोतीति प्रतीतिसुभगं वचः।

दण्डी का निम्नलिखित श्लोक बाण के द्वारा वर्णित शुकनासोपदेश के आधार पर है :—

अरत्नालोकसंहार्यमवार्यं सूर्यरश्मिभिः।
दृष्टिरोधकरं यूनां यौवनप्रभवं तमः॥

दण्डी ने आलङ्कारिक भामह के काव्यालङ्कार में उल्लिखित सिद्धान्तों का खण्डन अपने अलङ्कार ग्रन्थ में किया है। भामह दिङ्नाग के पश्चाद्वर्ती तथा धर्मकीर्ति (६२० ई०) के पूर्ववर्ती हैं। काव्यादर्श में राजवर्मा नामक पल्लव नरेश का उल्लेख है। इससे यदि हम राजवर्मा का विरुद धारण करने वाले नरसिंह वर्मा द्वितीय (६९०–७१५) का संकेत मानें, तो दण्डी का समय सप्तम शताब्दी का उत्तरार्ध प्रतीत होता है। इसी काल में दण्डी का आविर्भाव मानना सर्वथा युक्तियुक्त है।

राजशेखर के 'त्रयो दण्डि-प्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः' के अनुसार दण्डी की तीन रचनाएँ प्रतीत होती हैं। काव्यादर्श इनकी निःसन्दिग्ध रचना है। दशकुमार चरित इनका सुप्रसिद्ध गद्य काव्य है। तीसरी

रचना कौन है ? इसका निर्णय अभी तक न हो पाया। कुछ लोग 'छन्दोविचिति' को इनकी तीसरी रचना मानते हैं। परन्तु 'सा विद्या नौर्विवक्षूणाम्' में इन्होंने इसे विद्या कहा है, ग्रन्थ नहीं। अतएव यह ग्रन्थ न होकर छन्दःशास्त्र का ही द्योतक है। अवन्तिसुन्दरीकथा को तबतक तीसरी रचना मान लेनी चाहिये।

दण्डी का स्थान गद्य के इतिहास में अपनी विशिष्टता लिये हुए है। कथानकों में कौतुक तथा विस्मयजनक घटनाओं के पुट देने से अद्भुत रस का प्रभूत संचार किया गया है। कथानक नितान्त सजीव हैं जिनके भीतर से तत्कालीन समाज पाठकों को अपनी मनोरम झाँकी दे रहा है। कथानकों के गुम्फन की भी कला बड़ी सुन्दर है। दण्डी अनेक अप्रसिद्ध विद्याओं के पारंगत पण्डित प्रतीत होते हैं। राजनीति का प्रचुर वर्णन, कामशास्त्र के गूढ़ तथ्यों का प्रकटीकरण तथा चौरशास्त्र की अद्भुत विचित्र बातें किस पाठक को लेखक के विचित्र पाण्डित्य का परिचय नहीं देती ? दण्डी जनता के कवि हैं और इसीलिए उनके काव्य में जनता के दुःख-सुख, वेदना और आनन्द का परिस्फुरण पर्याप्त मात्रा में हुआ है। उनकी सरल-सुबोध गद्य-शैली ने उनके काव्य को और भी रुचिर बना डाला है। उनका गद्य श्लेष के बोझ से न तो दबा हुआ है और न समास के प्रहार से प्रताड़ित है। उनका गद्य दिन-प्रतिदिन के व्यवहारयोग्य, सजीव तथा चुस्त है। उसकी प्रासादिकता भी अनूठी है। इन्हीं कारणों से कतिपय आलोचक वाल्मीकि और व्यास के अनन्तर दण्डी को ही तीसरा कवि मानते हैं :—

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत्।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि ॥

महाकवि बाणभट्ट ने गद्य काव्य के लिखने में जो पद्धति चलाई उसका अनुकरण परवर्ती कवियों ने बड़े अभिनिवेश के साथ किया। धनपाल (१०वीं श०) की तिलकमञ्जरी ऐसे ही अनुकरण का श्लाघनीय

इतर गद्य लेखक प्रयास है। ये काश्यप गोत्रीय जैन थे और भोजराज के पितृव्य मुञ्जराज के सभासद् थे। इनकी तिलकमञ्जरी की भाषा बड़ी ओजस्विनी तथा प्रभावशालिनी है। वादीभ सिंह (१० वीं श०) का 'गद्य-चिन्तामणि' जैन पुराणों में उल्लिखित जीवन्धर की कथा का वर्णन सुन्दर शब्दों में करता है। वामनभट्ट बाण (१५ वीं श०) का 'वेम-भूपाल चरित' हर्षचरित के अनुकरण पर लिखा गया आख्यायिका ग्रन्थ है। इसके नायक राजा वेम या वीरनारायण हैं जो सुदूर दक्षिण के किसी प्रान्त के राजा थे। इस कवि का पदविन्यास मधुर है, अलंकार-योजना सरस है, अर्थों का स्फुटीकरण गंभीर है। गद्य-कवि-सार्वभौम की उपाधि सर्वदा श्लाघनीय तथा स्तुत्य है। सोड्ढल (११ वी श०) की 'उदयसुन्दरी' कथा गद्य-साहित्य में अपना विशेष स्थान रखती है। लेखक गुजरात का रहने वाला शैव मतावलम्बी कायस्थ था। लाट देश के राजा वत्सराज (मृत्यु सं० १०५० ई०) के समय में यह ग्रन्थ समाप्त हुआ। यह कथा गद्य-पद्यात्मिका है। इसके आठ उच्छ्वासों में प्रथम उच्छ्वास कविवंश का वर्णन करता है। नायिका नागलोगों के अधिपति शिखण्डतिलक की कन्या उदयसुन्दरी है और नायक प्रतिष्ठानपुर का राजा मलयवाहन है। कवि का रचनाकौशल चमत्कारजनक है।

चम्पू काव्य

उदात्तनायकोपेता गुणवद्वृत्तमुक्तका।
चम्पूश्च हारयष्टिश्च केन न क्रियते हृदि ॥

गद्य तथा पद्य के मिश्रण युक्त काव्य को 'चम्पू' कहते हैं—गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते। चम्पू काव्य की उत्पत्ति संस्कृत साहित्य में बहुत पीछे हुई है। दशवीं शताब्दी से पहले का कोई भी चम्पू उपलब्ध नहीं होता। बौद्ध जातकों में गद्य-पद्य का मिश्रण है। संस्कृत में गद्य-

पद्यमयी वाणी के दृष्टान्त प्राचीन काल में मिलते हैं। जातकमाला तथा हरिषेण की प्रशस्ति में पद्य के साथ गद्य की रचना की गई है। इन्हें हम चम्पू का पूर्वरूप मान सकते हैं। परन्तु काव्य के सम्पूर्ण लक्षणों से समन्वित चम्पू की कल्पना बहुत ही पीछे की जान पड़ती है।

संस्कृत साहित्य का प्रथम चम्पू है—नलचम्पू। इसके रचयिता हैं—भट्ट त्रिविक्रम, जो शाण्डिल्यगोत्रीय श्रीधर के पौत्र तथा देवादित्य के पुत्र थे। इन्होंने बाणभट्ट के काव्य की प्रशंसा अपने ग्रन्थ में की है तथा इनका एक श्लोक (पर्वतभेदि पवित्रं ६।२९) भोजराज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में उद्धृत किया है। ये राष्ट्रकूटवंशीय कृष्णद्वितीय के पौत्र, जगत्तुङ्ग के पुत्र इन्द्रराज के सभापण्डित थे। इनका समय दशवीं शताब्दी का आरम्भ है। नलचम्पू में नलदमयन्ती के कथा का मनोरम वर्णन है।

त्रिविक्रमभट्ट की संस्कृत साहित्य में अत्यधिक प्रसिद्धि है। इनके मनोरम पद्यों को अलंकारों के दृष्टान्त देने के लिए भोजराज तथा विश्वनाथ कविराज ने अपने अलंकार-ग्रन्थों में उद्धृत किया है। नलचम्पू में एक विचित्र विशिष्टता है। त्रिविक्रम संस्कृत साहित्य के सर्व-प्रधान श्लेष-कवि हैं। नलचम्पू में जैसे सरस तथा प्रसन्न श्लेष पाये जाते हैं, उतने रमणीय तथा चमत्कार-जनक श्लेष इतनी अधिकता में अन्यत्र समुपलब्ध नहीं होते। त्रिविक्रम के लगभग चार सौ वर्ष पहले सुबन्धु ने प्रत्यक्षरश्लेषमयी वासवदत्ता का निर्माण किया, जिसने बाणभट्ट के कथनानुसार कवियों के गर्व को चूर्ण कर दिया (कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया) परन्तु त्रिविक्रम के सामने सुबन्धु की कविता कुछ फीकी जँचती है। अपने प्रबन्ध को प्रत्यक्षरश्लेषमय बनाने की प्रतिज्ञा को निभाने के लिए कविबन्धु सुबन्धु ने खूब प्रयत्न किया है—कोई उपाय छोड़ा नहीं है और इस कार्य में उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई है; परन्तु इस कारण से इनका गद्य अत्यन्त क्लिष्ट हो गया है। नितान्त अप्रचलित तथा अप्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग

कविता की आलोचना

इनके गद्य में अधिकता से किया गया मिलता है। सुबन्धु ने अभङ्ग श्लेष को ही विशेषतया अपनाया है परन्तु त्रिविक्रम भट्ट ने अप्रसिद्ध शब्दों के प्रयोग से अपने काव्य को खूब बचाया है। इनकी कविता के पदविन्यास नितान्त मंजुल हैं—रचना इतनी मधुर है कि इसे बारम्बारें पढ़ने पर भी चित्त को संतोष नहीं होता। 'शय्या' इतनी रमणीय है कि कोई भी पद अपने स्थान से हटाया नहीं जा सकता। नलचम्पू की सबसे अधिक विशिष्टता है—सभङ्ग श्लेष का प्रयोग। कवि को पता है कि सभङ्ग श्लेष के कारण कविता में कठिनता आ जाती है (वाचः काठिन्यमायान्ति भङ्ग-श्लेषविशेषतः) परन्तु सहृदय आलोचक एक स्वर से पुकारते हैं कि त्रिविक्रम की तरह सरल सभङ्ग श्लेष संस्कृत में अन्यत्र उपलब्ध नहीं होते। त्रिविक्रम ने छोटे-छोटे अनुष्टुपों में इतनी सुन्दरता के साथ सभङ्ग श्लेष का प्रयोग किया है कि उसके समझने में पदों के विशेष तोड़ मरोड़ करने की जरूरत नहीं होती और अर्थ भी अनायास विशेष परिश्रम के बिना हृदयङ्गम हो जाते हैं। श्लेष के अतिरिक्त अन्य अलंकारों का भी प्रयोग कम चमत्कार-जनक नहीं है। इनकी 'परिसंख्या' भी कम मजेदार नहीं है। नलचम्पू में कालिदास की कविता की तरह न तो नैसर्गिक मञ्जुल पद-विन्यास है और न भवभूति की रचना की तरह शब्दार्थ का मनोरम सन्निवेश। फिर भी नलचम्पू में कविता की कुछ ऐसी विशेषता दीख पड़ती है जो कवि की अपनी सम्पत्ति कही जा सकती है।

त्रिविक्रम ने कितनी सुन्दरता के साथ कुकवियों की समता बालकों के साथ की है:—

> अप्रगल्भाः पदन्यासे जननीरागहेतवः।
> सन्त्येके बहुलालापाः कवयो बालका इव॥ (१।६)

इस संसार में कुछ कविलोग बालकों के तरह हैं। जिस प्रकार बालक पदन्यास में—पैर रखने में—अप्रगल्भ होते हैं—अनिपुण हुआ करते हैं; उसी प्रकार ये कविजन भी कविता के पद जोड़ने में नितान्त

असमर्थ हैं। बालक अपनी जननी (माता) के अनुराग का कारण हुआ करता है—बालक को देखकर माता का हृदय खिल जाता है; ये कविजन भी पुरुषों के नीराग (राग के अभाव) के कारण होते हैं—इनकी कविता लोगों को पसन्द नहीं आती। बालक जिस प्रकार बहुलालाप (बहु + लाला + प) होते हैं—बहुत लाला (लार) पीने वाले होते हैं। उसी प्रकार ये कवि लोग भी बहुल आलाप वाले होते हैं। इनके काव्यों में कुछ चमत्कार तो होता नहीं, परन्तु वे लिखने से बाज नहीं आते—बहुत सी अनर्गल कविता श्रोताओं के गले मढ़ ही देते हैं। अतः कुकवियों तथा बालकों में कुछ भी अन्तर नहीं। कितनी चमत्कारिणी सूक्ति है। कितना प्रसन्न श्लेष है! इतने सरस तथा सरल श्लेष अन्यत्र बहुत कम मिलेंगे।

> भवन्ति फाल्गुने मासि वृक्षशाखा विपल्लवाः।
> जायन्ते न तु लोकस्य कदापि च विपल्लवाः॥ (११२७)

आर्यावर्त का वर्णन है। वहाँ फाल्गुन महीने में वृक्षों की शाखायें (वि + पल्लव) पल्लव रहित होती हैं; परन्तु वहाँ के रहने वालों को कदापि (विपद् + लवाः) छोटी सी विपत्तियाँ भी नहीं होतीं। 'विपल्लवाः' में श्लिष्टार्थ कितना विशद है—साफ है।

इतर चम्पूकाव्य

त्रिविक्रमभट्ट के द्वारा प्रचारित चम्पू पिछली शताब्दियों में खूब ही लोकप्रिय हुआ। सोमदेवसूरि (१० वीं श०) का 'यशः तिलक' चम्पू कवि के परम गुरु यशोधर महाराज के चरित वर्णन के साथ-साथ जैनधर्म का व्यापक वर्णन करता है। भोजराज (११ वीं श०) का 'चम्पू रामायण' रामकथा का चम्पू रूप है जिसमें कवि का शाब्दिक पाण्डित्य तथा अलंकार-चातुर्य प्रचुरमात्रा में अभिव्यक्त है। कवि कर्णपूर (१६ वीं श०) का 'आनन्द वृन्दावन' चम्पू भगवान श्रीकृष्ण की ललित लीलाओं का वर्णन

सरस शब्दों में करता है। जीव गोस्वामी (१६ वीं श०) का 'गोपाल चम्पू' गौडीय वैष्णवों के समाज का गौरव रूप है जिसमें कृष्ण की बाललीलाओं का बड़ा ही विस्तृत तथा प्रभावशाली वर्णन है। शेष श्रीकृष्ण (१६ वीं श०) का 'पारिजात-हरण' चम्पू एक सुप्रसिद्ध वैयाकरण की रचनामात्र है। नीलकण्ठ दीक्षित (१६३७ ई०) का 'नीलकण्ठ चम्पू' भगवान् शंकर की कथाओं का वर्णन करता है। वेङ्कटाध्वरि (१६४० ई०) का 'विश्वगुणादर्श' चम्पू एक नवीन शैली का ग्रन्थ है जिसमें भारत के प्रसिद्ध तीर्थों तथा नगरों के गुण-दोष का वर्णन बड़े ही सुंदर ढङ्ग से किया गया है। 'अनन्त-कवि' का 'चम्पू भारत' महाभारत कथा का बड़ा ही मञ्जुल तथा मनोरम चित्र प्रस्तुत करता है। चम्पू साहित्य में ये ही ग्रन्थ साहित्यिक दृष्टि से नितान्त उपादेय तथा सुन्दर हैं। उत्तर की प्रान्तीय भाषाओं ने चम्पू काव्य के रचना की ओर विशेष आग्रह नहीं दिखलाया परन्तु आन्ध्र तथा मलयालम भाषा में चम्पुओं की लोकप्रियता आज भी बहुत अधिक है।

अष्टम परिच्छेद

कथा-साहित्य

व्यापक प्रभाव

पाश्चात्य-साहित्य में कथा को विशेष गौरव दिया जाने लगा है और इससे प्रभावित होकर पूर्वी साहित्य में भी इसकी महत्ता स्वीकृत होने लगी है—यह कथन आज कल के लिए सच्चा कहा जा सकता है परन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि कथा-साहित्य का उदय इसी भारतवर्ष में हुआ और इसने ही संसार के सामने इस साहित्यिक साधन की उपयोगिता सर्वप्रथम प्रदर्शित की। भारतीय साहित्य की विश्व-साहित्य के लिए जो देनें हैं, उनमें इस साहित्यिक 'कथा' की देन विशेष महत्व रखती है। पाश्चात्य जगत् के प्राचीन कथासाहित्य से परिचित विद्वानों को इसे बताने की आवश्यकता नहीं कि यह भारतवर्ष ही कथा की उद्गम भूमि है। यहीं से इसने भ्रमण करना आरम्भ किया और यह समस्त सभ्य देशों के साहित्य में व्याप्त हो गई। षष्ठ शताब्दी में हम भारत में उन कथाओं की लोकप्रियता पाते हैं जिनका संग्रह 'पञ्चतन्त्र' में हमें आज भी उपलब्ध हो रहा है। 'पञ्चतन्त्र' का भी अपना विशिष्ट इतिहास है जिसे जर्मन विद्वान् डाक्टर हर्टेल ने बड़े परिश्रम से खोज निकाला है। पञ्चतन्त्र की कहानियाँ बड़ी प्राचीन हैं। 'बृहत्कथा' (दूसरी शताब्दी) तथा 'तन्त्राख्यायिका' के रूप में उसका मौलिक रूप आज भी हमारे मनन के लिए विद्यमान है।

'पञ्चतन्त्र' विश्व साहित्य को भारतीय साहित्य की महती देन है। इन कहानियों के भ्रमण की कथा नितान्त रोचक तथा उपदेशप्रद है।

इसका अनुशीलन हमें बताता है कि करटक तथा दमनक ('सियार पांडे') की चतुरता भारत के तथा अरब के निवासियों को समभाव से आनन्दित करती रही है। राजा शिवि के आत्मत्याग की कथा राजा भोज के सभासदों को उसी प्रकार उपदेश देती थी; जिस प्रकार फारस के बादशाह खुसरो नौशेरवाँ के दरबारियों को। ऐतिहासिक तथ्य यह है कि जब षष्ठ शतक में भारत का तथा फारस का घनिष्ठ सम्बन्ध था, तब इन रोचक तथा उपदेशप्रद कथाओं की ओर इस न्यायी बादशाह (५३१ ई०—५७९ ई०) की दृष्टि आकृष्ट हुई। इनके दरबारियों में एक संस्कृत के ज्ञाता हकीम थे उनका नाम था 'बुरजोई'। इन्हीं हकीम साहब ने पहले पहल पञ्चतन्त्र का प्रथम अनुवाद पहलवी (प्राचीन फारसी) भाषा में ५३३ ई० में किया। इस अनुवाद के पचास वर्ष के भीतर ही एक ईसाई पादरी ने पहलवी से सीरिअन भाषा में ५६० ई० में कलिलग और दमनग के नाम से अनुवाद किया। ईसाई साधु का नाम था—बुद। सीरिअन से अनुवाद अरबी में किया गया था। इस अनुवाद का नाम कलीलह और दमनह है जो प्रथम तन्त्र के प्रधान पात्र 'करटक तथा दमनक' के नाम पर दिया गया है। इस अनुवाद का श्रेय अब्दुल्ला बिन अलमुकफ्फा नामक विद्वान् को है। यह स्वयं तो मुसलमान था, पर इसका पिता पारसी था। यह अनुवाद ७५० ई० में किया गया। इसी शताब्दी में एक दूसरा भी अनुवाद प्रस्तुत किया गया। ७८१ ई० में अब्दुल्ला बिन हवाजी ने पहलवी से अरबी में अनुवाद किया। इसी अनुवाद को सहल-बिन-नवबख्त ने 'यहिया' बरमकी की आज्ञा से अरबी कविता में किया जिसके लिए उसे एक हजार सुवर्ण दीनार पुरस्कार में मिले थे। पञ्चतन्त्र के अरबी में ये प्रसिद्ध अनुवाद हैं। समय-समय पर अन्य भी अनुवाद हुए। यह हुई सातवीं शताब्दी में पश्चिमी जगत् में भारतीय कहानियों

१—मुन्शी मुहम्मद अब्दुल रज्जाक़—अल बरामिका (उर्दू)

के भ्रमण की बात । इस शताब्दी से पहले ही ने भारत से पूरब भी पहुँच चुकी थीं, क्योंकि चीन भाषा के दो विश्वकोषों में (जिनमें प्राचीनतर ६६८ ई० में रचित है) बहुत-सी भारतीय कहानियों का अनुवाद चीनी भाषा में किया गया मिलता है । इसमें आश्चर्य नहीं, क्योंकि इन विश्वकोषों ने अपने लिए २०२ बौद्ध ग्रन्थों को आधार बतलाया है । इस प्रकार के दो शताब्दी के भीतर ही ये भारतीय कहानियाँ अरब से लेकर चीन तक फैल गईं ।

अरबी भाषा मध्ययुग की सभ्य भाषा थी । अरबी में अनुवाद होते देर नहीं हुई कि ये कहानियाँ पश्चिमी जगत् के साहित्य में प्रवेश कर गईं और भिन्न-भिन्न देशों की भाषाओं में इनके अनुवाद होने लगे । लैटिन, ग्रीक, जर्मन, फ्रेंच, स्पैनिश तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं में इसके अनुवाद धीरे-धीरे मध्ययुग से १६ वीं शताब्दी तक होते रहे । ग्रीस के सुप्रसिद्ध कथासंग्रह 'ईसाप की कहानियाँ' तथा अरब की मनोरञ्जक कहानियाँ 'अरेबियन नाइट्स' के आधारभूत ये ही कहानियाँ हैं, इस तथ्य के अन्वेषक विद्वानों की यह मान्य सम्मति है । मध्ययुग में ये भारतीय कहानियाँ 'विदापइ की कहानियाँ---Stories of Bidapai (विद्यापति की कथायें) के नाम से पश्चिमी जगत् में विख्यात थीं । ये कहानियाँ वहाँ के लोगों में इतनी प्रसिद्ध हुई कि उन्हें इनके भारतीय होने का तनिक ख़याल भी न हुआ । इसका परिणाम यह हुआ कि भगवान् बुद्ध ईसाई सन्तों के बीच में विराजने लगे । मध्ययुग की एक सुविख्यात कहानी थी---Story of Barlaam and Joseph (बरलाम और जोजफ की कहानी) । वह इतनी शिक्षाप्रद हुई कि कथा के पात्र ईसाई सन्तों में गिने जाने लगे । इनमें जोजफ़ स्वयं बुद्ध हैं । जोजफ़ बुदसफ़ के रूप में 'बोधिसत्व' का अपभ्रंश है । 'बोधिसत्व' बुद्धत्व प्राप्ति के लिए क्रियाशील व्यक्ति का ही द्योतक है । क्या यह कम आश्चर्य का विषय है कि बुद्ध ने इन्हीं कहानियों की कृपा से ईसाई सन्तों की माननीय पंक्ति में स्थान पा लिया । बेचारे ईसाइयों को इसका बिल्कुल ध्यान न था कि जिसे

वे अपने सन्तों में गणना कर रहे थे वे उनसे विरुद्ध धर्म के संस्थापक थे।

मध्ययुग की बात जाने दीजिए। उससे भी प्राचीन काल में भारतीय कहानियों का परिचय पश्चिमी जगत् को मिल गया था। 'सालोमान के न्याय' (सालोमन्स जजमेन्ट) के नाम से प्रसिद्ध कहानी का मूल भारतीय ही है। सिकन्दर की जितनी कहानियाँ ग्रीक, अरबी, हिब्रू तथा फारसी भाषाओं में मिलती हैं उनमें सर्वत्र उनकी माता के विषय में एक ही कहानी दी गई है। उसका पुत्रशोक इतना अधिक था कि वह किसी प्रकार कम ही नहीं हो रहा था। तब किसी विद्वान् ने उससे कहा कि यदि तुम हमारे लिए ऐसे घर से सरसों ला देगी जहाँ किसी की कभी मृत्यु न हुई हो, तो मैं तुम्हारे पुत्र को जिला दूँगा। बेचारी घर घर सरसों के तलाश में घूमती रही। अन्ततः देहधारियों के लिए मृत्यु आवश्यक अवसान है, इस तथ्य का पता उसे स्वयं लग गया। यह कहानी भी भारतीय है। बुद्ध के द्वारा 'कृशा गौतमी' का उपदेश ही इस कहानी का आधार है। इस प्रकार पञ्चतन्त्र की कहानियाँ केवल भारतवासियों को ही आनन्दित नहीं करतीं, प्रत्युत सभ्य संसार के अनेक देशों के निवासी उनसे आनन्द उठाते हैं तथा अपने जीवन को सुखमय बनाते हैं।

२—पञ्चतन्त्र

पञ्चतन्त्र जिन कथाओं का संग्रह है वे भारत में नितान्त प्राचीन हैं। पंचतन्त्र के भिन्न भिन्न शताब्दियों में तथा भिन्न भिन्न प्रान्तों में अनेक संस्करण हुए। कुछ तो आज भी उपलब्ध हैं। इनमें सबसे प्राचीन संस्करण 'तन्त्राख्यायिका' के नाम से विख्यात है जिसका मूल स्थान काश्मीर है। पंचतन्त्र के भिन्न भिन्न चार संस्करण उपलब्ध हैं—(१) पंचतन्त्र का पहलवी अनुवाद, जो उपलब्ध तो नहीं है, परन्तु जिसकी कथाओं का परिचय सीरिअन तथा अरबी अनुवादों की सहायता से प्राप्य है (२) दूसरा संस्करण गुणाढ्य की बृहत्कथा में अन्तर्निविष्ट है। यह बृहत्कथा

पैशाची भाषा में थी; मूल इसका नष्ट हो गया है परन्तु ११ वीं शताब्दी के क्षेमेन्द्ररचित बृहत्कथामञ्जरी तथा सोमदेव का कथासरित्सागर इसी ग्रन्थ के अनुवाद हैं। (३) तृतीय संस्करण 'तन्त्राख्यायिका' तथा उसीसे सम्बद्ध जैन कथासंग्रह है। आजकल का प्रचलित पंचतन्त्र इसी का आधुनिक प्रतिनिधि है। (४) चौथा संस्करण दक्षिणी पञ्चतन्त्र का मूलरूप है। नैपाली पंचतन्त्र तथा हितोपदेश इस संस्करण के प्रतिनिधि हैं। इस प्रकार पंचतन्त्र एक सामान्य ग्रन्थ न होकर एक विपुल साहित्य का प्रतिनिधि है।

पञ्चतन्त्र से प्राचीनतर कथासंग्रह बौद्ध जातकों में उपलब्ध है। ये जातक भगवान् बुद्ध के प्राचीन जन्म की मनोरञ्जक कहानियाँ हैं। इनका उद्देश्य यह दिखलाना है कि अनेक जन्म में पारमिताओं के अभ्यास करने से बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। जातक कथाओं की संख्या ५५० है। इसके भीतर विपुल ज्ञातव्य ऐतिहासिक, भौगोलिक, सामाजिक सामग्री मिलती है जिनके अनुशीलन करने से बुद्ध के समय के अथवा उससे भी प्रचीन काल के भारतीय इतिहास का रमणीय चित्र उपलब्ध होता है। अत्यन्त प्राचीन काल से दन्तकथा या लोककथा के रूप में जो कहानियाँ चली आती थीं उनका इन जातकों में विशाल समुच्चय है।

जातकों से भी प्राचीन सामग्री वैदिक साहित्य में स्वयं उपलब्ध होती है। ब्राह्मण और उपनिषदों में जो कहानियाँ विस्तार के साथ मिलती हैं उन कहानियों का संकेत ऋग्वेद की संहिता में स्वयं प्राप्त होता है। ऋग्वेद में बहुत से सूक्त ऐसे उपलब्ध होते हैं जिनमें दो या तीन पात्रों में परस्पर कथनोपकथन विद्यमान हैं। इन सूक्तों को 'संवाद सूक्त' कहते हैं। भारतीय साहित्य के अनेक अङ्गों का उद्गम इन्हीं संवाद सूक्तों से होता है। इनके अतिरिक्त सामान्य स्तुतिपरक सूक्तों में भी भिन्न-भिन्न देवताओं के विषय में अनेक मनोरंजक तथा शिक्षाप्रद आख्यानों की उपलब्धि होती है। संहिता में जिन कथाओं की केवल सूचनामात्र है

उनका विस्तृत वर्णन बृहद्देवता में तथा षड्गुरु शिष्य की 'कात्यायन सर्वानुक्रमणी' की वेदार्थदीपिका टीका में किया गया है। निरुक्त में यास्क ने तथा सायण ने अपने भाष्य में इन कथाओं के रूप तथा प्राचीन आधार को प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है। 'द्या द्विवेद' का उद्योग इस विषय में अत्यन्त श्लाघनीय है। ये गुजरात के रहने वाले थे तथा १५ वीं शताब्दी में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने समस्त वैदिक कहानियों का अध्ययन कर उनसे प्राप्य शिक्षाओं को प्रदर्शित करते हुए एक बहुत ही उपयोगी पुस्तक लिखी है। इस ग्रन्थ का नाम 'नीतिमञ्जरी' है। इन्होंने षड्गुरुशिष्य की वेदार्थदीपिका (११८४ ई०) से तथा सायण के वेदभाष्य (१४ शताब्दी) से अनेक उद्धरण अपने ग्रन्थ में लिये हैं। नीतिमञ्जरी की एक हस्तलिखित प्रति से पता चलता है कि इसकी रचना १५५० वि० सं० (१४९४ ई०) में की गयी थी। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर वेद को कहानियों का मूल स्रोत मानना उचित प्रतीत होता है। वेद में आई हुई कहानियाँ पुराणों में आकर कुछ रूपान्तरित हो गयी हैं। रामायण तथा महाभारत में इनके कई अंशों में परिवर्तन दीख पड़ता है परन्तु कथानक का मूल एक ही है। बौद्ध साहित्य तथा जैन साहित्य में भी इन कहानियों के प्रतिनिधि विद्यमान हैं। कहानियों का यह रूपान्तर कहाँ, कब और किन कारणों से सम्पन्न हुआ? यह कथा-साहित्य के विद्यार्थियों के लिए गवेषणा का विषय है।

पञ्चतन्त्र में पाँच तन्त्र हैं (तन्त्र का अर्थ है भाग)—मित्रभेद, मित्रलाभ, सन्धिविग्रह, लब्धप्रणाश तथा अपरीक्षित कारक। प्रत्येक तन्त्र में मुख्य कथा एक ही है जिसके अंग को पुष्ट करने के लिए अनेक गौण कथायें कही गई हैं। ग्रन्थकार का उद्देश्य आरम्भ से ही सदाचार तथा नीति का शिक्षण रहा है। कहा जाता है कि दक्षिण के महिलारोप्य नामक नगर में अमरकीर्ति नामक राजा निवास करते थे। उन्हें अपने मूर्ख पुत्रों को विद्वान् तथा नीति-सम्पन्न बनाने के लिए योग्य गुरु की आवश्यकता

थी। उन्हें योग्य गुरु मिले विष्णुशर्मा। ये लोक तथा शास्त्र दोनों विषयों के पारंगत पण्डित थे और इसीलिए उन्होंने स्वल्प समय में राजकुमारों को व्यवहार-कुशल, सदाचार-सम्पन्न तथा नीतिपटु बना दिया। ग्रन्थकार की नीतिमत्ता ग्रन्थ के प्रत्येक पृष्ठ पर झलकती है। संसार के भिन्न-भिन्न कार्यों के निरीक्षण की शक्ति ग्रन्थकार में खूब है। उनमें विनोद-प्रियता भी कम नहीं है। पञ्चतन्त्र की भाषा महावरेदार सीधी-सादी है। वाक्य विन्यास में न तो कहीं दुरूहता है और न भावों के समझने में दुर्बोधता। कथानक का वर्णन गद्य में किया गया है पर उपदेशात्मक सूक्तियाँ पद्य में निहित है और ये पद्य रामायण, महाभारत तथा अन्य प्राचीन नीति ग्रन्थों से संगृहीत हैं। ऊपर सप्रमाण दिखलाया गया है कि पञ्चतन्त्र का प्रभाव विश्वव्यापी है। सच्ची बात यह है कि पञ्चतन्त्र भारतीय साहित्य का अङ्ग न होकर विश्व-साहित्य का अङ्ग है।

सेवक के सच्चे स्वरूप का वर्णन इस श्लोक में कितनी सचाई के साथ किया है :—

शिरसा विधृता नित्यं स्नेहेन परिपालिताः।
केशा अपि विरज्यन्ते निःस्नेहाः किं न सेवकाः॥

सिर के ऊपर धारण किये गये तथा तेल से नित्य परिपालित होने पर भी केश स्नेह के बिना विकार को प्राप्त हो जाते है। तब आदर किये गये तथा स्नेह से परिपालित सेवकों की दशा स्नेहहीन होने पर कैसी होगी? उनके विरक्त होने में कितनी देर लगेगी।

३—हितोपदेश

नीति-कथाओं में पञ्चतन्त्र के बाद हितोपदेश का ही नाम आता है। इसके रचयिता 'नारायण पण्डित' थे जिनके आश्रयदाता बंगाल के राजा धवलचन्द्र थे। ग्रन्थ की रचना १४ वीं शताब्दी के आसपास की है। ग्रन्थकार ने स्वयं लिखा है कि उसका मूल आधार पञ्चतन्त्र ही है।

हितोपदेश की आधी कथायें पञ्चतन्त्र से ही ली गई हैं। इसके चार परिच्छेद हैं:—मित्रलाभ, सुहृद्-भेद, विग्रह और सन्धि। इसकी भाषा सरल और सुबोध है। श्लोक नितान्त उपदेशात्मक है तथा कथायें शिक्षाप्रद हैं। पञ्चतन्त्र की अपेक्षा हितोपदेश लोकप्रिय रहा है। सर्वप्रथम संस्कृत अध्ययन करने वाले छात्रों को हितोपदेश ही पढ़ाया जाता है। कथा के ब्याज से नीति का कहना जितना रुचिकर होता है उतना उपदेशप्रद है। इसीलिए हितोपदेश संस्कृत के अभ्यासी छात्रों के लिए संस्कृत-विद्यामन्दिर का द्वारस्थानीय है।

४—बृहत्कथा

समुद्दीपितकन्दर्पा कृतगौरीप्रसाधना।
हरलीलेव नो कस्य विस्मयाय बृहत्कथा॥
—बाणस्य

संस्कृत में कथायें दो प्रकार की होती हैं—(१) उपदेशात्मक तथा (२) मनोरंजक। पहली प्रकार की कथायें पशु-पक्षी से सम्बन्ध रखती हैं और उनका प्रधान उद्देश्य उपदेश रहता है। दूसरी प्रकार की कथाओं का प्रधान लक्ष्य मनोरंजन रहता है और वे पशु पक्षी के जीवन से सम्बन्ध न होकर जीते-जागते चलते-फिरते मनुष्य के जीवन से सम्बन्ध रखती हैं। मनोरंजक कथाओं का बृहत् संग्रह संस्कृत में विद्यमान है। इन कथाओं का प्राचीनतम संग्रह 'बृहत् कथा' में निबद्ध है। इस कथा की रचना महाराजा हाल के सभाकवि गुणाढ्य ने की। इसके रचनाकाल के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। कुछ लोग इसे पंचम शतक की रचना मानते हैं, परन्तु अधिकांश विद्वानों की सम्मति में इसकी रचना विक्रम की प्रथम शताब्दी में हुई। मूल बृहत्कथा पैशाची भाषा में लिखी गई थी। पैशाची भाषा प्राकृत भाषाओं में अन्यतम है जिसके रूप का परिचय तो हमें प्राकृत व्याकरणों से मिलता है परन्तु जिसके उदाहरण का पता बृहत्कथा के नष्ट हो जाने से नहीं मिलता। आज-कल बृहत्-

कथा के तीन संस्कृत अनुवाद उपलब्ध होते हैं—(१) बुद्धस्वामी कृत-बृहत्कथा श्लोक संग्रह—ये नैपाल के रहने वाले थे और इनका समय ८ वीं या नवमी शताब्दी माना जाता है। प्राचीनतम अनुवाद यह ही है।

(२) क्षेमेन्द्र कृत-बृहत्कथामंजरी—ये काश्मीर के राजा अनन्त के आश्रित कवि थे। इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी है। इसमें ७५०० श्लोक हैं। कविता ऊँचे दर्जे की है। पर मूल कथानक का कितना रक्षण हो पाया है, यह कहना कठिन है।

(३) सोमदेव कृत 'कथासरित्सागर'—ये काश्मीर के राजा अनन्त तथा क्षेमेन्द्र के समकालीन थे। यह ही सबसे प्रसिद्ध अनुवाद है जिसमें २४००० श्लोक हैं।

बृहत्कथा से बढ़कर प्राचीन कथाओं का संग्रह दूसरा कोई नहीं है। वाल्मीकि और व्यास के अतिरिक्त गुणाढ्य भी भारतीय कवियों के उपजीव्य रहे हैं। कथानक की विचित्रता के साथ-साथ रस का परिपाक अच्छे ढंग से किया गया है। इसके नायक हैं महाराज उदयन के पुत्र नरवाहनदत्त। वे अपने मित्र गोमुख की सहायता से अपनी प्रियतमा 'मदनमञ्जूषा' के पाणिग्रहण करने तथा विद्याधरों का साम्राज्य प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। अवान्तरकालीन कथा-साहित्य के ऊपर बृहत्कथा का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा है। रामायण तथा महाभारत के समान यह भी संस्कृत-साहित्य का जाज्वल्यमान हीरक है। महाकवि भास, श्रीहर्ष, तथा भट्टनारायण अपने नाटकों के वस्तु-ग्रहण के लिए बृहत्कथा के विशेष-रूप से ऋणी हैं। बृहत्कथा की कीर्ति केवल भारत में ही सीमित नहीं है अपितु बृहत्तर भारत में भी फैली हुई है।

दण्डी[1], सुबन्धु[2], और बाणभट्ट—सभी ने अपने ग्रन्थों में इसका

१—भूतभाषामयीं प्राहुरद्भुतार्थां बृहत्कथाम्—काव्यादर्श १।३८

२—बृहत्कथालम्बैरिव सालभंजिकानिवहैः—वासवदत्ता।

आदर के साथ उल्लेख किया है। त्रिविक्रमभट्ट[1] ने नलचम्पू में तथा सोमदेव ने अपने यशस्तिलक चम्पू में इसकी प्रचुर प्रशंसा की है। गोवर्धनाचार्य[2] ने तो गुणाढ्य को महर्षि व्यास का नूतन अवतार बतलाया है। बाणभट्ट बृहत्कथा को भगवान् शंकर की लीला के समान विस्मय-कारिणी बतलाते हैं।

वेताल पंचविंशतिका (वैताल पचीसी) की रचना का श्रेय 'शिवदास' नामक लेखक को दिया गया है। इस गद्य ग्रंथ में राजा विक्रम से सम्बद्ध पचीस रोचक कहानियाँ सरल संस्कृत में कही गई हैं।

अन्य कहानियाँ प्रत्येक कथा में राजा की व्यावहारिक बुद्धि का पर्याप्त परिचय मिलता है। ये कहानियाँ काफी प्राचीन हैं क्योंकि बृहत्कथा-मंजरी तथा कथासरितसागर (११ शतक) में इनका विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। 'शुकसप्तति' तथा 'सिंहासन द्वात्रिंशिका' (सिंहासन बत्तीसी) की कहानियाँ मनोरञ्जन की दृष्टि से नितान्त उपादेय हैं। कहानियों की सृष्टि में केवल ब्राह्मण कवि ही निपुण न थे प्रत्युत बौद्ध पण्डितों ने भी संस्कृत साहित्य में सुन्दर तथा मनोरम कथाओं का प्रणयन किया है। 'दिव्यावदान' तथा 'अवदान शतक' में भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्म से सम्बद्ध कहानियां विद्यमान हैं। आर्यशूर की 'जातक-माला' में पद्यबद्ध जातकों की कथायें निबद्ध हैं। यह काव्य चतुर्थ शतक के आस पास लिखा गया। इत्सिंग नामक चीनी परिव्राजक (सप्तम शतक) ने आर्यशूर को अपने समय का विशेष लोकप्रिय कवि बतलाया है। इस प्रकार संस्कृत का कथासाहित्य व्यापक, विस्तृत तथा विशाल है जिसका प्रभाव भारत के बाहर के प्रदेशों पर खूब गहरा पड़ा है।

---

१ धनुषेव गुणाढ्येन निःशेषो रंजितो जनः। नलचम्पू

२ अतिदीर्घजीविदोषाद् व्यासेन यशोऽपहारितं हन्त।
कैर्नोच्येत गुणाढ्यः स एव जन्मान्तरापन्नः।

—आर्यासप्तशती।

नवम परिच्छेद

अलङ्कार शास्त्र

सौन्दर्यमलङ्कारः—वामन

अलंकारशास्त्र आलोचकों की सूक्ष्म आलोचना-पद्धति का पर्याप्त सूचक है। यह शास्त्र वेदों से लेकर लौकिक ग्रन्थों के पूर्ण ज्ञान के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसी उपकारिता के कारण राजशेखर ने अलंकार शास्त्र को वेद का अङ्ग माना है[1]। उन्होंने साहित्य-विद्या को स्वतन्त्र विद्या ही नहीं माना है, प्रत्युत उसे प्रसिद्ध चार विद्याओं—तर्क, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति—का निचोड़ स्वीकार किया है[2]। अलंकारशास्त्र की महत्ता नितान्त व्यक्त है। कविता में शब्द तथा अर्थ का सौन्दर्य लाने तथा हृदयंगम बनाने में अलंकारशास्त्र की भूयसी उपयोगिता है।

इस शास्त्र का नाम है अलंकार शास्त्र। यह नाम उतना समुचित न होने पर भी बहुत ही प्राचीन है। भामह ने अपने अलंकार ग्रन्थ को 'काव्यालंकार' के नाम से पुकारा है। अतः प्राचीन नाम अलंकारशास्त्र है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। यह उस युग का अभिधान है जब काव्य में अलंकार की सत्ता सबसे अधिक आवश्यक तथा उपादेय मानी जाती थी। अलंकार युग ही इस शास्त्र के इतिहास में सर्वप्रथम युग है और इसी युग

---

१ उपकारकत्वादलंकारः सप्तममङ्गमिति यायावरीयः।
ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद्वेदार्थानवगतिः॥

२ पञ्चमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः।
सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः॥ —काव्यमीमांसा

में यह नामकरण किया गया। राजशेखर ने इस शास्त्र को साहित्यविद्या कहा है। यह नामकरण भामह के (शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्) काव्य-लक्षण के आधार पर दिया गया है। काव्य वह है जिसमें शब्द और अर्थ का समुचित सामञ्जस्य हो, साहित्य हो। साहित्य की यह कल्पना पिछले आलंकारिकों ने खूब अपनाया।

कुन्तक साहित्य की कल्पना को अग्रसर करने वालों में मुख्य हैं। भोजराज का 'शृङ्गार प्रकाश' साहित्य की कल्पना के ऊपर ही रचित हुआ है। साहित्य विद्या या साहित्य शास्त्र—यह नामकरण बड़ा सुन्दर तथा युक्तियुक्त है। परन्तु यह उतना प्रसिद्ध न हो सका। बहुत प्राचीन काल में इसका नाम 'क्रियाकल्प' था। वात्स्यायन ने (कामसूत्र १।३।१६) चौसठ कलाओं के अन्तर्गत 'क्रियाकल्प' को भी एक कला माना है। क्रिया का अर्थ है काव्यग्रन्थ और कल्प का है विधान। इस प्रकार 'क्रियाकल्प' इस शास्त्र की प्राचीन संज्ञा है। परन्तु ये नाम प्रसिद्ध न पा सके। प्रसिद्ध नाम हुआ 'अलंकार शास्त्र', ही परन्तु अलंकार की कल्पना बदलती गई। वामन की दृष्टि में अलंकार केवल शब्द और अर्थ की शोभा करने वाला बाह्य उपकरण-मात्र नहीं है, प्रत्युत यह काव्य को रोचक बनाने वाला आन्तर धर्म है। वामन अलंकार को सौन्दर्य का पर्यायवाची मानते हैं (सौन्दर्यमलंकारः)। इस प्रकार अलंकारशास्त्र काव्य के सौन्दर्य को सम्पन्न करने वाले समस्त उपकरणों का प्रतिपादक शास्त्र है। अलंकार शब्द का यही व्यापक अर्थ है।

अलंकार-शास्त्र का नामकरण

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में इस शास्त्र की उत्पत्ति की रोचक कथा लिखी है। उनके अनुसार भगवान् शंकर ने इस शास्त्र की शिक्षा पहले पहल ब्रह्माजी को दी जिन्होंने इसका उपदेश अनेक देवताओं तथा ऋषिओं को किया। अठारह उपदेशकों ने अठारह अधिकरणों में इस शास्त्र की रचना की। भरत ने रूपक-निरूपण किया। नन्दिकेश्वर ने रस का, धिषण ने दोष का, उपमन्यु ने गुण का

प्राचीनता

निरूपण किया। पता नहीं यह वर्णन काल्पनिक है या वास्तविक। काव्यादर्श की टीका हृदयंगमा का कथन है कि काश्यप और वररुचि ने काव्यादर्श के पहले अलंकार ग्रन्थ बनाये। श्रुतानुपालिनी टीका में काश्यप, ब्रह्मदत्त तथा नन्दीस्वामी का नाम दण्डी से पूर्व आलंकारिकों में गिनाया गया है। परन्तु ये ग्रन्थ आजकल उपलब्ध नहीं होते। अग्निपुराण में अलंकारशास्त्र का विषय प्रतिपादित किया गया है, परन्तु इसकी प्राचीनता में विद्वानों को पर्याप्त सन्देह है। द्वितीय शतक के शिलालेखों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय अलंकारशास्त्र का उदय हो चुका था। रुद्रदामन् के शिलालेख की भाषा ही अलंकारपूर्ण नहीं है बल्कि उसमें अलंकार शास्त्र के कतिपय सिद्धान्तों का भी निर्देश है। काव्य के गद्य पद्य दो भेद थे। गद्य को स्फुट, मधुर, कान्त तथा उदार होना आवश्यक था। यहाँ काव्यदर्श में वर्णित प्रसाद, माधुर्य, कान्ति, और उदारता गुणों का स्पष्ट निर्देश है। हरिषेण ने समुद्रगुप्त को 'प्रतिष्ठित कविराज-शब्द' लिखकर अलंकारशास्त्र की सत्ता की ओर संकेत किया है। यह शास्त्र इससे भी प्राचीन है। पाणिनि ने कृशाश्व तथा शिलालि के द्वारा निर्मित नटसूत्रों का नाम निर्देश किया है[1]। इनसे भी पहले यास्क ने उपमालंकार का विस्तृत वर्णन किया है। यास्क के पूर्ववर्ती आचार्य गार्ग्य ने उपमा का बड़ा ही वैज्ञानिक लक्षण प्रस्तुत किया है (अथात उपमा यद् अतत् तत् सदृशमिति गार्ग्यः)। निरुक्त ने उपमा के उदाहरण में ऋग्वेद के अनेक मंत्रों को उद्धृत किया है। भरत के नाट्य-शास्त्र के अनन्तर तो इस शास्त्र का अनुशीलन स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में बहुलता से होता रहा। यहाँ इस शास्त्र का संक्षिप्त इतिहास तथा नाना अलंकार-संप्रदायों के सिद्धान्तों का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

१—पाराशर्य शिलालिभ्यां भिक्षु नटसूत्रयोः।
कर्मन्द कृशाश्वादिनिः॥

भरत-नाट्यशास्त्र

पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में शिलालि तथा कृशाश्व के द्वारा रचित नटसूत्रों का उल्लेख किया है। नट-सूत्रों से अभिप्राय उन ग्रन्थों से है जिनमें रंग मंच पर नटों के खेलने, वस्त्रधारण करने तथा अन्य आवश्यक उपकरणों का विधान रहता है। पाणिनि के द्वारा निर्दिष्ट नट-सूत्र आजकल उपलब्ध नहीं हैं। आजकल नाट्य तथा अलंकारविषयक उपलब्ध प्राचीनतम ग्रन्थ भरतरचित नाट्यशास्त्र है। इस ग्रन्थ को हम भारतीय ललित कलाओं का विश्वकोश कह सकते हैं क्योंकि इस नाट्य की प्रधानता होने पर भी तदुपकारक अलंकार शास्त्र, संगीत शास्त्र, छन्दः शास्त्र आदि शास्त्रों के मूल सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन हम यहाँ पाते हैं। ग्रन्थ में ३६ अध्याय हैं तथा ५००० श्लोक हैं जो अधिकतर अनुष्टुप् ही हैं। केवल छठे, सातवे, तथा २८ वें अध्याय में कुछ अंश गद्यात्मक भी हैं। नाट्यशास्त्र एक ही काल की रचना नहीं हैं, प्रत्युत अनेक शताब्दियों के दीर्घ साहित्यिक प्रयास का सुन्दर फल है। नाट्य शास्त्र में तीन अंश विद्यमान हैं—(१) सूत्र-भाष्य = यह गद्यात्मक अंश ग्रन्थ का प्राचीनतम रूप है। मूल ग्रन्थ में सूत्र तथा भाष्य ही थे जिसमें विकास होने पर अन्य अंश संमिलित कर दिये गये। (२) कारिका; मूल ग्रन्थ के अभिप्राय को विस्तार से समझाने के लिये इन कारिकाओं की रचना की गई। (३) अनुवंश्य श्लोक = गुरु शिष्य परम्परा से आने वाले प्राचीन पद्य, जो आर्या अथवा अनुष्टुप् में निबद्ध हैं। अभिनवगुप्त की टीका के अनुसार ये पद्य भरतमुनि से भी प्राचीनतर आचार्यों के द्वारा रचित हैं। अपने सूत्रों की पुष्टि में भरत ने इन्हें इस ग्रन्थ में संग्रहीत किया है।

१—ता एता ह्यार्या एकप्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैर्लक्षणत्वेन पठिताः। मुनिना तु सुखसंग्रहाय यथास्थानं निवेशिताः।

—अभिनवभारती अध्याय ६

भरत-रस सम्प्रदाय के आचार्य हैं। इनकी सम्मति में नाटक में रस की ही प्रधानता रहती है। अलंकारशास्त्र का विवेचन आनुषंगिक रूप से ६,७,१६ अध्यायों में किया गया है। इस ग्रन्थ की रचना का निश्चित समय अभी तक अज्ञात है। परन्तु यह ग्रन्थ कालिदास से प्राचीन ही है। कालिदास भरत को देवताओं के नाट्याचार्य के रूप में उल्लिखित करते हैं और नाटकों में आठ रसों के विकाश होने तथा अप्सराओं के द्वारा अभिनय किये जाने का निर्देश करते हैं[1]। कालिदास से प्राचीनतर होने से भरत मुनि का समय ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी से उतर कर नहीं हो सकता। मूल सूत्रों का समय तो और भी प्राचीन है।

भामह

भरत के अनन्तर अनेक शताब्दियाँ हमारे लिये अन्धकारपूर्ण प्रतीत होती हैं, क्योंकि इस समय के आलंकारिकों के नाम तथा काम से हम बिलकुल अपरिचित हैं। भामह का काव्यालंकार ही भरत-पश्चात् युग का सर्वप्रथम मान्य ग्रन्थ है जिसमें अलंकार शास्त्र, नाट्य शास्त्र की परतन्त्रता से अपने को उन्मुक्त कर एक स्वतंत्र शास्त्र के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होता है। भामह के पूर्ववर्ती आचार्यों में मेधाविरुद्र का नाम निर्दिष्ट मिलता है परन्तु इनकी रचना अभीतक उपलब्ध नहीं हुई है। भामह का ग्रन्थ भी अभी हाल ही में उपलब्ध हुआ है। भामह के पिता का नाम था रक्रिल गोमी। ये काश्मीर के निवासी प्रतीत होते हैं। एक समय था जब दण्डी और भामह के काल-निर्णय के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद था। परन्तु अब तो प्रबलतर प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि भामह दण्डी के पूर्ववर्ती हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ में प्रत्यक्ष का लक्षण प्रसिद्ध बौद्धाचार्य दिङ्नाग के अनुसार दिया है,

१—मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयः प्रयुक्तः।
—विक्रमोर्वशी

धर्मकीर्ति के अनुसार नहीं इससे इनका समय इन दोनों आचार्यों के बीच षष्ठ का मध्यभाग मानना उचित होगा।

भामह के ग्रन्थका नाम काव्यालङ्कार है। इसमें ६ परिच्छेद हैं। पहले परिच्छेद में काव्य के साधन, लक्षण तथा भेदों का वर्णन है। दूसरे तथा तीसरे में अलंकारों का विशिष्ठ वर्णन है। चौथे परिच्छेद में

काव्यालंकार

भरत प्रदर्शित दश दोषों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है। जिसमें न्यायविरोधिदोष की मीमांसा पूरे पञ्चम परिच्छेद में कि गई है। छठे परीच्छेद में कतिपय विवादास्पद पदों के शुद्ध-रूप का विवेचन किया गया है। इस प्रकार छः परिच्छेदों तथा चार सौ-श्लोकों में अलंकारशास्त्र के समस्त महनीय तथ्यों का समावेश किया गया है। भामह के सिद्धान्त समस्त आलंकारिकों को मान्य हैं। इनके कतिपय विशिष्ट सिद्धान्त हैं---(क) शब्द-अर्थ युगल का काव्य होना---शब्दार्थौ काव्यम्। (ख) भरत-प्रतिपादित दश गुणों का ओज, माधुर्य तथा प्रसाद---इस गुणत्रय के भीतर ही समावेश। (ग) 'वक्रोक्ति' का समस्त अलंकारों का मूल होना जिसका चरम विकाश कुन्तक की वक्रोक्ति-जीवित में दीख पड़ता है (घ) दश-विध दोषों का सुन्दर विवेचन।

दण्डी

इनके जीवन चरित तथा समय का विवेचन गद्य काव्य के अवसर पर किया जा चुका है। इनका काव्यादर्श पण्डितों में सदा लोकप्रिय रहा है। इसी का अनुवाद कन्नडभाषा की प्राचीन पुस्तक 'कविराज-मार्ग' में,

दण्डी

सिंघली-ग्रन्थ 'सिय-बस-लकर' (स्वभाषालंकार) में तथा तिब्बती भाषा में उपलब्ध होता है। इससे इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि की पर्याप्त सूचना मिलती है। इस ग्रन्थ में चार परिच्छेद हैं तथा श्लोकों की संख्या ६६० है। प्रथम परिच्छेद में काव्य का लक्षण, विस्तृत भेद, वैदर्भी तथा गौडी रीति, दश-गुणों का विस्तार के साथ वर्णन

है। दूसरे परिच्छेद में ३५ अलंकारों के लक्षण तथा उदाहरण सुन्दर रूप से दिये गये हैं। दण्डी ने उपमा अलंकार के अनेक प्रकार दिखलाये हैं। तीसरे परिच्छेद में शब्दालंकारों का विशेषतः यमक अलंकार का व्यापक वर्णन है। चतुर्थ परिच्छेद में दश-विध दोषों का लक्षण तथा उदाहरण है। दण्डी ने भामह के सिद्धान्त का खण्डन स्थान-स्थान पर किया है। ये अलंकार-संप्रदाय के अनुयायी थे, पर वैदर्भी और गौड़ी रीतियों के पारस्परिक भेद को प्रथम बार स्पष्टतः दिखलाने का श्रेय इन्हें ही प्राप्त है। इस प्रकार ये रीति सम्प्रदाय के भी मार्ग-दर्शक माने जा सकते हैं।

वामन

वामन—के ग्रन्थ में रीति सम्प्रदाय का चरम उत्कर्ष दिखलाई पड़ता है। रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले महनीय आलंकारिक हैं—रीतिरात्मा काव्यस्य। इनके ग्रन्थ का नाम है 'काव्यालंकार-सूत्र' जिसमें इन्होंने अलंकार शास्त्र के समग्र सिद्धान्तों का विवेचन सूत्रों में किया है और इन सूत्रों के ऊपर स्वयं वृत्ति भी लिखी है। सूत्रों की संख्या ३१९ है। ग्रन्थ में कुल पाँच परिच्छेद या अधिकरण हैं। प्रथम (शरीर) अधिकरण में काव्य के प्रयोजन, रीति, तथा वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली रीतिओं का वर्णन है। द्वितीय (दोष दर्शन) अधिकरण में पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ के दोष प्रतिपादित हैं। तृतीय (गुण विवेचन) में दश गुणों के शब्द तथा अर्थ गत होने से बीस भेद बतलाये गये हैं। चतुर्थ (आलंकारिक) में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का लक्षण तथा उदाहरण है। अन्तिम अधिकरण में कतिपय शब्दों की शुद्धि तथा प्रयोग की बात कही गई है। काव्यालंकार सूत्र के प्राचीन टीकाकार 'सहदेव' का कथन है कि वामन का यह ग्रन्थ किसी कारण से नष्ट हो गया था जिसका उद्धार मुकुलभट्ट ने दशम शतक के आरम्भ में किया।

वामन काश्मीर नरेश जयापीड के मंत्री थे :—

मनोरथः शंखदत्तश्चटकः सन्धिमाँस्तथा।
बभूवुः कवयः तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः॥

जयापीड का समय अष्टम का शतक अन्तिम भाग है। वामन का भी यही समय है। वामन रीति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक हैं। रीति को काव्य की आत्मा जैसे सिद्धान्त को प्रतिपादन का श्रेय इन्हें ही प्राप्त है। इनके विशिष्ट सिद्धान्त ये हैं :—(क) गुण और अलंकार का परस्पर विभेद (ख) वैदर्भी गौडी तथा पाञ्चाली त्रिविध रीतियाँ (ग) वक्रोक्ति का विशिष्ट लक्षण (सादृश्यात् लक्षणा वक्रोक्तिः) (घ) विशेषोक्ति का विचित्र लक्षण (ङ) आक्षेप की द्विविध कल्पना (च) समग्र अर्थालंकारों को उपमा-प्रपंच मानना।

उद्भट—ये वामन के समकालीन थे। जयापीड की सभा के ये सभापति थे। कल्हण पण्डित का तो कहना है कि इनका प्रतिदिन का वेतन एक करोड़ दीनार (स्वर्णमुद्रा) था[1]। यदि यह बात बिलकुल

उद्भट

सत्य हो तो उद्भट सचमुच बड़े भारी धनाढ्य और भाग्यशाली व्यक्ति होंगे। एक ही राजा के आश्रय में रहने पर भी वामन और उद्भट साहित्य के क्षेत्र में प्रतिस्पर्धी प्रतीत होते हैं। वामन रीति-सम्प्रदाय के उन्नायक थे, तो उद्भट अलंकार-सम्प्रदाय के पृष्ठ-पोषक थे। दोनों ही अपने विषय के मौलिक सिद्धान्तों के आविष्कर्ता आराधनीय आचार्य हैं। इन्होंने भामह के ग्रन्थ पर 'भामह विवरण' नामक व्याख्या ग्रन्थ लिखा था। इसका निर्देश लोचन आदि प्रमाणिक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। परन्तु यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ।

१—दीनारशतलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
भट्टोभूत् उद्भटः तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः॥
—राजतरंगिणी ४।४९५

उद्भट की कीर्ति 'काव्यालंकार सार संग्रह' नामक ग्रन्थ के ऊपर ही अवलम्बित है। इस ग्रन्थ में छ वर्ग हैं जिनमें ७९ कारिकाओं के द्वारा ४१ अलंकारों का वर्णन है। ग्रन्थ का विषय अलंकार ही है। इसकी टीका मुकुलभट्ट के शिष्य प्रतिहारेन्दु-राज (९५० ई०) ने की है। भामह के समान अलंकार सम्प्रदाय के अनुयायी होने पर भी ये भामह से अनेक सिद्धान्तों में भिन्नता रखते हैं। इसके कतिपय विशिष्ट सिद्धान्त ये हैं—(क) अर्थभेद से शब्दभेद की कल्पना (अर्थभेदेन तावत् शब्दा भिद्यन्ते)। (ख) शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष भेद से श्लेष के दो प्रकार और दोनों का अर्थालंकार होना। इसका विशिष्ट खण्डन मम्मट ने नवम उल्लास में किया है। (ग) अन्य अलंकारों के योग में श्लेष की प्रबलता। (घ) वाक्य का तीन प्रकार से अभिधा व्यापार। (ङ) अर्थ की द्विविध कल्पना—विचारित-सुस्थ तथा अविचारित-रमणीय। (च) गुणों को संघटना का धर्म मानना।

रुद्रट—ये काश्मीर के रहने वाले थे। राजशेखर (९०० ई० ने काव्यमीमांसा में इनके नाम का निर्देश 'काकु वक्रोक्ति' को शब्दालंकार मानने के अवसर पर किया है। 'काकुवक्रोक्तिनाम शब्दालंकारोऽयमिति रुद्रटः'। इससे स्पष्ट है कि ये ९०० ई० से प्राचीन हैं। इनका ग्रन्थ काव्यालंकार विषय की दृष्टि से अतीव व्यापक है और इसमें अलंकार-शास्त्र के समस्त सिद्धान्तों की विस्तृत समीक्षा की गई है। काव्य के प्रयोजन, उद्देश्य तथा कवि-सामग्री के अनन्तर अलंकार का विस्तृत तथा सुव्यवस्थित वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है। भाषा, रीति, रस तथा वृत्ति की मीमांसा होने पर भी अलंकारों की समीक्षा ही ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है। पद्यों की संख्या ७३४ है। सब उदाहरण रुद्रट की निजी रचनायें हैं।

रुद्रट अलंकार-सम्प्रदाय के ही अनुयायी हैं। अलंकारों की व्यवस्था

करना ग्रन्थ का उद्देश्य है। रुद्रट ने पहले पहल अलंकारों का वैज्ञानिक विभाग किया है। उन्होंने अलंकारों के लिए चार मूल-तत्त्व खोज निकाला है :—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। भामह और उद्भट के द्वारा व्याख्यात अनेक अलंकारों को रुद्रट ने छोड़ दिया है और कहीं-कहीं उनके लिए नये नामों का निर्देश किया है। यथा रुद्रट का व्याज-श्लेष (१०।११) भामह की 'व्याज-स्तुति' है। 'जाति' मम्मट की स्वाभावोक्ति है, 'पूर्व' अलंकार अतिशयोक्ति का चतुर्थ प्रकार है। कहीं-कहीं इन्होंने नये अलंकारों की भी कल्पना की है। रसों का भी इन्होंने विस्तार के साथ वर्णन किया है। पर इनका आग्रह अलंकार के ऊपर ही है।

आनन्दवर्धन

आनन्दवर्धन का नाम साहित्यशास्त्र के इतिहास में सुवर्णाक्षरों से लिखने योग्य है। इन्होंने ध्वन्यालोक लिखकर इस शास्त्र के सिद्धान्त को सदा के लिए आलोकित कर दिया है। 'ध्वन्यालोक' नवीन युग का उत्पादक ग्रन्थ है। अलंकारशास्त्र में इसका वही स्थान है जो वेदान्त में वेदान्त-सूत्रों का है। इसके प्रत्येक पृष्ठ पर ग्रन्थकार की मौलिकता, सूक्ष्म विवेचन शक्ति, तथा गूढ़ विषय-ग्राहिता का परिचय मिलता है। रसगंगाधर का कथन बिलकुल ठीक है कि ध्वनिकार ने साहित्यशास्त्र के मार्ग को परिष्कृत बना दिया है (ध्वनिकृताम् आलंकारिकसरणिव्यवस्थापकत्वात्)। आनन्दवर्धन काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा (८५५—८८३ ई०) के सभापण्डित थे—

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥

ध्वन्यालोक में तीन अंश हैं—(१) कारिका = १२९ कारिकायें, (२) वृत्ति (कारिकाओं की गद्यात्मक विस्तृत व्याख्या); (३) उदाहरण। इनमें उदाहरण तो नाना प्राचीन ग्रन्थों से उद्धृत किये गये हैं। प्रथम दो

अंशों की रचना के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग आनन्द को वृत्तिकार ही मानते हैं। कारिकाकार उनसे पृथक् स्वीकार करते हैं। परन्तु वस्तुतः आनन्दवर्धन ने ही कारिका और वृत्ति दोनों की रचना की है। इस ग्रन्थ में चार उद्योत हैं। प्रथम उद्योत में ध्वनि-विरोधी मतों की समीक्षा है। दूसरे और तीसरे में ध्वनि के प्रकारों का विवेचन है। चतुर्थ में ध्वनि की उपयोगिता का वर्णन है। आनन्द के लिखने की शैली बड़ी ही प्रौढ़, विद्वत्तापूर्ण तथा रोचक है। ये कवि भी थे। इन्होंने 'अर्जुन चरित', 'विषमबाण लीला' तथा 'देवी शतक' जैसे सरस काव्यों की रचना भी की है। परन्तु आनन्द की विपुल कीर्ति ध्वन्यालोक के ऊपर ही अवलम्बित रहेगी। राजशेखर का कथन बिलकुल ठीक है :—

ध्वनिनातीगभीरेण काव्य-तत्त्वनिवेशिना।
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः॥

आनन्दवर्धन की महती विशेषता ध्वनिविरोधियों के सिद्धान्तों का प्रबल खण्डन कर ध्वनि तथा व्यञ्जना की स्थापना है। इनके पहले ध्वनि के विषय में तीन मत थे—(क) अभाववाद (ख) भक्ति (लक्षणा) वाद (ग) अनिर्वचनीयता वाद। इन तीनों का मुँहतोड़ उत्तर देकर आनन्द के व्यञ्जना की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध की और ध्वनि के प्रकारों का पहली बार विवेचन किया है। इस ग्रन्थ का प्रभाव अवान्तर ग्रन्थकारों के ऊपर बहुत पड़ा। ध्वनिसम्प्रदाय की उत्पत्ति यहीं से हुई।

आनन्दवर्धन को एक बड़े ही विद्वान् टीकाकर उपलब्ध हुए जिन्होंने इनके सिद्धान्तों के मर्म को भलीभाँति समझा दिया। इनका नाम था आचार्य अभिनवगुप्त। ये भी काश्मीर के निवासी थे और लगभग दशवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विद्यमान थे। ये शैव दर्शन के माननीय आचार्य थे जिनका एक ही ग्रन्थ तन्त्रालोक तन्त्रशास्त्र का विश्वकोश है। साहित्य-क्षेत्र में इनकी दो

अभिनव गुप्त

कृतियाँ हैं और ये दोनों ही टीकायें हैं। एक है लोचन (ध्वन्यालोक की टीका और दूसरी है अभिनवभारती (जो भारतनाट्यशास्त्र का एकमात्र उपलब्ध व्याख्याग्रन्थ है)। टीका ग्रन्थ होने पर भी ये दोनों ग्रन्थ नितान्त मौलिक हैं। हम अभिनवगुप्त के अनेक रस-सिद्धान्तों के लिए ऋणी हैं। रस-विषयक जो इनकी समीक्षा है वह नितान्त वैज्ञानिक तथा युक्तयुक्त है। अभिनवभारती न होती तो नाट्यशास्त्र के तथ्यों का पता आज भली भाँति नहीं चलता।

ध्वनिविरोधी आचार्य

इन दोनों माननीय आचार्यों के द्वारा ध्वनि की स्थापना होने पर भी इसके दो बड़े विरोधी आचार्यों ने नवीन ग्रन्थों की रचना की। दोनों प्रायः समकालीन ही थे। एक का नाम है कुन्तक तथा दूसरे का महिमभट्ट। दोनों काश्मीर के निवासी थे और दोनों ने एकादश शतक के आरम्भ में अपने ग्रन्थ बनाये। कुन्तक के ग्रन्थ का नाम है 'वक्रोक्ति जीवित'। दुर्भाग्यवश यह ग्रन्थ अधूरा ही प्राप्त हुआ है, परन्तु इसके उपलब्ध अंशों से ही कुन्तक की मौलिकता तथा सूक्ष्म विवेचन शैली का पर्याप्त परिचय मिलता है। ग्रन्थ में चार उन्मेष हैं जिनमें वक्रोक्ति के विविध भेदों का बड़ा ही साङ्गोपाङ्ग विवेचन है। वक्रोक्ति का अर्थ है 'वैदग्ध्यभङ्गीभणिति' अर्थात् सर्वसाधारण के द्वारा प्रयुक्त वाक्यों से विलक्षण कहने का ढंग। इसी काव्य-तत्त्व के अन्तर्गत ध्वनि का भी समावेश किया गया है। वक्रोक्ति की मूल कल्पना भामह की है। परन्तु उसे व्यापक साहित्यिक तत्त्व के रूप में विकसित करना कुन्तक की निजी विशेषता है। वक्रोक्ति के भीतर ही समस्त साहित्य तत्त्व को सम्मिलित कर कुन्तक ने जिस विदग्धता का परिचय दिया है उस पर साहित्य का मर्मज्ञ सदा रीझता रहेगा।

महिमभट्ट का ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेक' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें तीन विमर्श हैं। ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य ध्वनि को अनुमान का ही प्रकार बतलाना है। ध्वनि कोई पृथक् वस्तु नहीं है बल्कि अनुमान का ही भेद है। महिमभट्ट का यही सिद्धान्त है जिसे प्रतिपादित करने के लिए उन्होंने अपने उत्कट पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है। ग्रन्थ के पहले विमर्श में ध्वनि का लक्षण तथा उसका अनुमान में अन्तर्भाव दिखलाया गया है। दूसरे विमर्श में अर्थ-विषयक अनौचित्य का विवेचन है। अन्तरंग अनौचित्य से अभिप्राय रस-दोष से है और बहिरंग अनौचित्य पाँच प्रकार का है। मम्मट ने महिमभट्ट का खण्डन किया है। पर अनौचित्य विषयक उसके समस्त सिद्धान्त को अपने दोष प्रकरण में भली भाँति अपनाया है।

धनञ्जय—धनञ्जय भी रस की निष्पत्ति के विषय में भावकत्ववादी हैं। व्यञ्जनावाद के खण्डन करने के कारण ये भी ध्वनिविरोधियों में अन्यतम हैं। धनञ्जय और इनके भाई धनिक दोनों धारा के विद्याप्रेमी विद्वान् राजा मुञ्ज (ई० ९७४–९४) के दरबारी पण्डित थे। इसी समय धनञ्जय ने 'दशरूपक' की रचना की, जिस पर धनिक ने 'अवलोक' नामक टीका मुञ्जराज के उत्तराधिकारी सिन्धुराज (ई० ९९४–१०१८) के शासनकाल में लिखी। इसके पहले इन्होंने 'काव्य-निर्णय' नामक अलंकार ग्रंथ की रचना की थी। दशरूपक नाट्य के आवश्यक सिद्धान्त का प्रतिपादक ग्रंथ है। इसमें चार प्रकाश हैं और लगभग ३०० करिकायें हैं। प्रथम प्रकाश में वस्तु-निर्देश, द्वितीय में नायक-वर्णन, तृतीय में रूपक-भेद, चतुर्थ में रस-निरूपण है। रससिद्धान्त में इनका अपना विशिष्ट मत है जो भट्ट नायक के मत से अधिक साम्य रखता है।

भोजराज—भोजराज (ई० १०१८–५६) रचित दो विशालकाय अलंकार ग्रंथ हैं—'सरस्वती-कण्ठाभरण' तथा 'शृङ्गार-प्रकाश'। ये दोनों ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं पहले में अलंकार, गुण, दोष का विस्तृत विवेचन है तो दूसरे में रस का निरूपण बड़े ही व्यापक तथा मार्मिक ढंग

से किया गया है। भोजराज का मत है कि श्रृङ्गार रस ही सब रसों का मूलभूत आदिम प्रकृत रस है। अन्य रस इसी के विकारमात्र हैं। इस मत का निर्देश पिछले ग्रन्थकारोंने भलीभाँति किया है। रसोंके वैज्ञानिक प्रकार प्रस्तुत करने में भोज ने अपनी सूक्ष्म विवेचनशक्ति दिखलाई है। सरस्वती-कण्ठाभरण तो बहुत दिनों से विद्वानों का कण्ठाभरण हो रहा है, परन्तु श्रृङ्गारप्रकाश आज भी प्रकाश में नहीं आया।

ध्वनिमार्ग के आचार्य

ध्वनिविरोधियों के मत का खण्डन आचार्य मम्मट ने इतने सुचारु रूप से किया कि उनके अनन्तर किसी को ध्वनि के विरोध करने का साहस न रहा। इसी कारण मम्मट को 'ध्वनि-प्रस्थापन-परमाचार्य' की उपाधि दी गई है। ये भी काश्मीर के ही निवासी थे। सुनते है कि 'महाभाष्य प्रदीप' रचयिता कैयट तथा वेदभाष्यकार उव्वट इनके अनुज थे। भोजराज की दानशीलता की इन्होंने प्रशंसा की है। अतः इनका समय एकादश शतक का उत्तरार्ध है। मम्मट बड़े भारी विद्वान् थे। ये बहुश्रुत वैयाकरण प्रतीत होते हैं। लेखन शैली सूत्रात्मक है। तभी तो इनके ग्रन्थ 'काव्य प्रकाश' की विपुल टीकाओं के होने पर भी यह आज भी वैसा ही दुर्गम माना जाता है।

काव्य प्रकाश के तीन अंश हैं—कारिका (१४२ कारिकायें), वृत्ति (गद्यात्मक) तथा उदाहरण। कुछ कारिकायें भरत से भी ली गई हैं। कारिकायें भरत मुनि के द्वारा निर्मित हैं, यह प्रवादमात्र है। मम्मट ही दोनों (कारिका तथा वृत्ति) के रचयिता हैं। इसमें दस उल्लास हैं जिनमें क्रमशः काव्य स्वरूप, वृत्ति विचार, ध्वनि-भेद, गुणीभूत व्यङ्ग्य, चित्र-काव्य दोष, गुण, शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का विवेचन है। यह ग्रन्थ नितान्त प्रौढ, सारगर्भित तथा पाण्डित्य पूर्ण है। ध्वनिमार्ग का इससे सुन्दर विवेचन अन्यत्र नहीं। इसके ऊपर टीका लिखना पाण्डित्य की

कसौटी समझा जाता था। इसीलिये विश्वनाथ कविराज जैसे मौलिक ग्रन्थों के रचयिता विद्वानों ने भी इस पर व्याख्या लिखना परम प्रतिष्ठा मानी है। दशम उल्लास के परिकर अलंकार तक ग्रन्थ मम्मट की रचना है। अगला भाग अलक या अल्लट नामक किसी काश्मीरी विद्वान् ने लिखकर ग्रन्थ पूरा किया है।

क्षेमेन्द्र—मम्मट के समकालीन आलंकारिक क्षेमेन्द्र के ग्रन्थों में हमें अनेक मौलिक सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं। ये भी काश्मीर के ही निवासी थे और मम्मट के समान ही एकादश शतक के उत्तरार्ध में विद्यमान थे। महाकवि होने के नाते इनका विस्तृत वर्णन महाकाव्य के प्रसंग में किया जा चुका है। इनका 'सुवृत्ति तिलक' छन्दः शास्त्र का अनुपम ग्रन्थ है जिसमें छन्द-विषयक अनेक मौलिक बातें प्रस्तुत की गई हैं। 'कवि-कण्ठाभरण' में काव्य के बाह्य साधनों की विशिष्ट चर्चा है, परन्तु इनकी सबसे मौलिक कृति है—'औचित्यविचारचर्चा' जिसमें औचित्य के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त की विस्तृत समीक्षा की गई है। औचित्य रस का प्राणभूत है। वह अनेक प्रकार का है। औचित्य का सम्बन्ध पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारण, लिङ्ग आदि के साथ भलीभाँति दिखलाकर क्षेमेन्द्र ने औचित्य की महत्ता अच्छे ढंग से दिखलाई है।

रुय्यक—ये भी काश्मीर के निवासी थे। ये काश्मीर के राजा जय-सिंह (ई० ११२८–४९) के सान्धिविग्रहिक महाकवि मंखक के गुरु थे। इसलिये इनका समय बारहवीं शताब्दी का मध्यभाग है। उनकी प्रसिद्ध रचना 'अलंकार-सर्वस्व' है जिसमें ७५ अर्थालंकारों तथा ६ शब्दालंकारों का पाण्डित्यपूर्ण वर्णन है। इनकी समीक्षा मम्मट की समीक्षा से कहीं अधिक व्यापक तथा विस्तृत है। इसके ऊपर जयरथ तथा समुद्रबन्ध की पाण्डित्यपूर्ण टीकायें हैं।

हेमचन्द्र—(ई० १०८८–११७२)–इन्होंने अलंकार में ऊपर भी ग्रन्थ लिखा है जिसका नाम है 'काव्यानुशासन'। इसके ऊपर इन्होंने

वृत्ति लिखी है। इसमें आठ परिच्छेद हैं जिसमें अलंकार के तथ्यों का विस्तृत विवेचन है। ग्रन्थ में मौलिकता बहुत ही कम है। प्राचीन-ग्रन्थों से संकलन ही अधिक है।

विश्वनाथ कविराज—ये उत्कल के राजा के सान्धिविग्रहिक थे। इनका कुल पाण्डित्य के लिये नितान्त प्रसिद्ध था। इनके पिता चन्द्रशेखर रचित 'पुष्पमाला' और 'भाषार्णव' उपलब्ध हैं। इनके पितामह के कनिष्ठ भ्राता चण्डीदास ने काव्यप्रकाश पर दीपिका नामक विख्यात टीका लिखी है। इन्होंने गीतगोविन्द तथा नैषध से श्लोक उद्धृत किये हैं। देहली के सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी को एक श्लोक में निर्दिष्ट किया है[1]। अलाउद्दीन की मृत्यु १३१६ ई० में हुई। अतः इनका समय १४ वीं शतक का मध्यभाग मानना (१३००–१३५० ई०) उचित है। इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है—'साहित्य-दर्पण' जिसमें दश परिच्छेदों में काव्य तथा नाट्य दोनों का विवेचन बड़े ही सरस तथा सरल ढंग से किया है। यह ग्रन्थ काव्यप्रकाश की शैली पर लिखा गया है, परन्तु उतनी प्रौढ़ता इन ग्रन्थों में नहीं है। विश्वनाथ आलंकारिक की अपेक्षा कवि अधिक थे। यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय है और अलंकार शास्त्र के मूल सिद्धान्तों के जिज्ञासु छात्रों के लिये नितान्त उपयोगी है।

पण्डितराज जगन्नाथ—इनके जीवनचरित का परिचय गीतिकाव्य के प्रसंग में पहले दिया जा चुका है। इनका 'रस गंगाधर' साहित्य शास्त्र का मर्मप्रकाशक ग्रन्थ है। पण्डितराज जिस प्रकार प्रतिभाशाली कवि थे उसी प्रकार अलौकिक शेमुषी-सम्पन्न पण्डित भी थे। ग्रन्थ तो केवल अधूरा ही है, परन्तु इन्होंने जो कुछ लिखा है उसे सोच-विचार कर पाण्डित्य की कसौटी पर कस कर लिखा है। उदाहरण भी इन्होंने

१—सन्धौ सर्वस्व हरणं विग्रहे प्राण निग्रहः।
अलावदीन नृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः॥

नये-नये जमाये है। रस-निरूपण के अवसर पर इन्होंने नवीन समीक्षायें की हैं। सब प्रकार से यह ग्रन्थ उपादेय है। शैली प्रौढ़ तथा विचार मौलिक है।

अब तक प्रमुख आलंकारिकों का सामान्य परिचय दिया गया है। इतर अलंकारिकों का निर्देशमात्र अब किया जा रहा है। (क) राजशेखर (९१० ई०)—इनकी 'काव्यमीमांसा' में कवि-शिक्षा का ही विषय प्रधानतया है। (ख) मुकुलभट्ट (९२० ई०)—इनकी 'अभिधावृत्ति मातृका' में अभिधा और लक्षण की विस्तृत समीक्षा है। इसका खण्डन काव्य-प्रकाश में यत्र तत्र किया गया है। (ग) वाग्भट्ट (१२ शतक का पूर्वार्ध)—इसका 'वाग्भटालंकार' अलंकार का ग्रन्थ है जिसमें दोष, गुण, वृत्ति, रस तथा अलंकारों का सरल विवेचन है। (घ) रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र की सम्मिलित रचना 'नाट्य दर्पण' है। इसमें नाटक के अंगों का उपादेय वर्णन है। (ङ) शारदातनय (१३ शतक) का 'भावप्रकाशन' नाट्यशास्त्र का ही ग्रन्थ है। इसके दश अधिकरणों में रस तथा भाव का बड़ा ही रोचक तथा पूर्ण वर्णन है। 'जयदेव' का चन्द्रालोक, 'विद्याधर' की एकावली, 'विश्वनाथ' का प्रताप रुद्रयशोभूषण, 'कवि कर्णपूर' का अलंकार कौस्तुभ, 'अप्पय दीक्षित' का कुवलयानन्द अलंकार शास्त्र के अन्य माननीय ग्रन्थ हैं। इस प्रकार अलंकार शास्त्र के विषय में ग्रन्थ लिखने की प्रवृत्ति ईस्वी के आरम्भ से लेकर १८ वें शतक तक किसी न किसी रूप में जागरूक रही है।

अलंकारशास्त्र के सम्प्रदाय

अलंकार शास्त्र के ग्रन्थों के अनुशीलन से जान पड़ता है कि उसमें अनेक सम्प्रदाय विद्यमान थे। आलंकारिकों के सामने प्रधान विषय काव्य की आत्मा का विवेचन था। वह कौन वस्तु है जिसकी सत्ता रहने पर काव्य में काव्यत्व विद्यमान रहता है? इस प्रश्न के उत्तर देने में नाना सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई। कुछ लोग अलंकार को ही काव्य का प्राणभूत

मानते हैं, कुछ गुण या रीति को, कुछ लोग ध्वनि को। इस प्रकार काव्य की आत्मा की समीक्षा में भेद होने के कारण भिन्न-भिन्न शताब्दियों में नवीन नये सम्प्रदायों की उत्पत्ति होती गई। अलंकारसर्वस्व के टीकाकार समुद्रबन्ध ने इन सम्प्रदायों के उदय की जो बात लिखी है वह बहुत ही युक्तियुक्त है। उनका कहना है कि विशिष्ट शब्द और अर्थ मिलकर ही काव्य होते हैं। शब्द और अर्थ की यह विशिष्टता तीन प्रकार से आ सकती है:—(१) धर्म से, (२) व्यापार से, (३) व्यङ्ग्य से। धर्ममूलक वैशिष्ट्य दो प्रकार का है नित्य और अनित्य। अनित्य धर्म से अभिप्राय अलंकार से और नित्यधर्म का तात्पर्य गुण से है। इस प्रकार धर्ममूलक वैशिष्ट्य के प्रतिपादन करने वाले दो सम्प्रदाय हुए:—(१) अलंकार सम्प्रदाय (२) गुण या रीति सम्प्रदाय। व्यापारमूलक वैशिष्ट्य भी दो प्रकार का है—वक्रोक्ति तथा भोजकत्व। वक्रोक्ति के द्वारा काव्य में चमत्कार मानने वाले आचार्य कुन्तक हैं। अतः उनका मत वक्रोक्ति सम्प्रदाय नाम से प्रसिद्ध है। भोजकत्व व्यापार की कल्पना भट्टनायक ने की है। परन्तु इसे अलग न मानकर भरत के रस-मत के भीतर ही इसे अन्तर्भूत करना चाहिए क्योंकि भट्टनायक ने विभाव, अनुभाव, सञ्चारीभाव से रस की निष्पत्ति समझाने के लिए अपने इस नवीन व्यापार की कल्पना की। व्यंग्य मुख से वैशिष्ट्य मानने वाले आचार्य आनन्दवर्धन हैं जिन्होंने ध्वनि को उत्तम काव्य स्वीकार किया है। समुद्रबन्ध के शब्दों में ही उनका मत सुनिये—

इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन व्यापारमुखेन व्यंग्यमुखेन वेति त्रयः पक्षाः। आद्येऽप्यलङ्कारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि भणितिवैचित्र्येण भोगकृत्त्वेन वेति द्वैविध्यम्। इति पञ्चसु पक्षेष्वाद्य उद्भटादिभिरङ्गीकृतः, द्वितीयो वामनेन तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पञ्चम आनन्दवर्धनेन।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि के विरोधी तीन मतों का उल्लेख किया है— अभाववादिन्, भक्तिवादिन् तथा अनिर्वचनीयतावादिन्। अभाववादियों में भी तीन छोटे-छोटे सम्प्रदाय हैं। कुछ तो गुण, अलंकार आदि को काव्य का एकमात्र उपकरण मान कर ध्वनि की सत्ता को बिलकुल तिरस्कृत करते हैं। परन्तु कुछ लोग अलंकार के भीतर ही ध्वनि का भी समावेश करते हैं। भक्तिवादी लक्षणा के द्वारा ध्वनि की कार्यसिद्धि मानते हैं। अनिर्वचनीयवादी ध्वनि के स्वरूप को शब्द से अगोचर बतला कर ध्वनि को अनिर्वचनीय बतलाता है। आनन्दवर्धन ने इन तीनों मतों का पर्याप्त खण्डन कर ध्वनि की स्वतन्त्र सत्ता स्थापित की है। इन मतों का पृथक् वर्णन न देकर हम अलंकार शास्त्र के प्रसिद्ध सम्प्रदायों का संक्षिप्त वर्णन यहां प्रस्तुत करते हैं।

अलंकारशास्त्र के सम्प्रदाय मुख्यतः छ हैं :—

(१) रस सम्प्रदाय—भरतमुनि।
(२) अलङ्कार सम्प्रदाय—भामह, उद्भट तथा रुद्रट।
(३) गुण सम्प्रदाय—दण्डी तथा वामन।
(४) वक्रोक्ति सम्प्रदाय—कुन्तक।
(५) ध्वनि सम्प्रदाय—आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त।
(६) औचित्य सम्प्रदाय—क्षेमेन्द्र।

(१) रस सम्प्रदाय

राजशेखर के कथनानुसार नन्दिकेश्वर ने ब्रह्मा जी के उपदेश से सर्वप्रथम रस का निरूपण किया, परन्तु नन्दिकेश्वर के रसविषयक मत का पता नहीं चलता। उपलब्ध रस-सिद्धान्त भरतमुनि के साथ सम्बद्ध है। भरत के रस-सम्प्रदाय के प्रथम तथा सर्वश्रेष्ठ आचार्य हैं। नाट्यशास्त्र के षष्ठ तथा सप्तम अध्यायों में रस और भाव का जो निरूपण प्रस्तुत किया गया है वह साहित्य संसार में एक अपूर्व वस्तु है। भरत

के समय में नाट्य का ही बोलबाला था। इसलिये भरत ने नाट्यरस का ही विस्तृत व्यापक तथा मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया है। रस सम्प्रदाय का मूलभूत सूत्र है—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः'। अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग रस की निष्पत्ति होती है। देखने में तो यह सूत्र जितना छोटा है विचार करने में यह उतना सार-गर्भित है। भरत ने इसका जो भाष्य लिखा है वह बड़ा ही सुगम है। भरत के टीकाकारों ने इस सूत्र की भिन्न भिन्न व्याख्यायें की है जिनमें चार मत प्रधान हैं। इन टीकाकारों के नाम हैं—भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त। भट्टलल्लोट उत्पत्तिवादी हैं। वे रस को विभावादि का कार्य मानते हैं। शंकुक विभावादिकों के द्वारा रस की अनुमिति मानते हैं। उनकी सम्मति में विभावादिकों से तथा रस से अनुमापक-अनुमाप्य सम्बन्ध है। भट्टनायक भुक्तिवादी हैं। उनकी सम्मति में विभावादि का रस से भोज्य-भोजक सम्बन्ध है जिसे सिद्ध करने के लिये इन्होंने अभिधा के अतिरिक्त भावकत्व तथा भोजकत्व नामक दो व्यापारों को भी स्वीकार किया है। अभिनवगुप्त व्यक्तिवादी हैं। उन्हीं का मत अधिक मनोवैज्ञानिक है और इसलिये उनका मत समस्त आलंकारिकों के आदर तथा श्रद्धा का पात्र है। समग्र स्थायीभाव वासना रूप से सहृदयों के हृदय में विद्यमान रहते हैं। विभावादिकों के द्वारा ये ही सुप्त स्थायीभाव अभिव्यक्त होकर आनन्दमय रस का रूप प्राप्त कर लेते हैं।

रस की संख्या के विषय में अलंकारिकों में मतभेद दीख पड़ता है। भरत ने आठ रस माने हैं—(१) शृङ्गार (२) हास्य (३) करुण (४) रौद्र (५) वीर (६) भयानक (७) बीभत्स (८) अद्भुत। शान्तरस के विषय में बड़ा विवाद है। भरत तथा धनञ्जय ने नाटक में शान्तिरस की स्थिति अस्वीकार की है (शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य। दश-रूपक ४।३५)। नाटक अभिनय के द्वारा ही प्रदर्शित किया जाता है और शान्त-

रस सब कार्यों का विशामरूप है। ऐसी दशा में शान्त का प्रयोग नाटक में हो नहीं सकता। काव्यादिकों में उसकी सत्ता अवश्य विद्यमान रहती है। आनन्दवर्धन के अनुसार महाभारत का मूल रस शान्त ही है। रुद्रट ने 'प्रेयान्' को भी रस माना है। विश्वनाथ 'वात्सल्य' को रस मानने के पक्षपाती हैं। गौडीय वैष्णवों की सम्मति में 'मधुर रस' सर्वश्रेष्ठ, सर्वप्रथम रस है। साहित्य में रस-मत की महत्ता है। लौकिक संस्कृत का प्रथम श्लोक—जो क्रौंच-वध से मर्माहत होकर महर्षि वाल्मीकि को स्फुरित हुआ—रसमय ही था। इस रस को सब सम्प्रदायों ने अपनाया है परन्तु अपने मतानुसार इसे ऊंचा नीचा स्थान दिया है।

(२) अलङ्कार सम्प्रदाय

अलङ्कार मत के प्रधान प्रवर्तक आचार्य भामह हैं तथा इसके पोषक हैं भामह के टीकाकार उद्भट तथा रुद्रट। दण्डी को भी अलंकार की प्रधानता किसी न किसी रूप में स्वीकृत थी। इस सम्प्रदाय के अनुसार अलंकार ही काव्य का जीवातु है। जिस प्रकार अग्नि को उष्णता रहित मानना उपहास्यास्पद है, उसी प्रकार काव्य को अलंकारहीन मानना अस्वाभाविक है[1]। अलंकारों का विकास धीरे-धीरे ही होता आया है। भरत के नाट्यशास्त्र में तो चार ही अलंकारों का नाम निर्देश मिलता है—अनुप्रास, उपमा रूपक और दीपक। मूल अलंकार ये ही हैं जिनमें एक तो है शब्दालंकार और तीन हैं अर्थालंकार। इन्हीं चार अलंकारों का विकास होकर कुवलयानन्द में १२५ अलंकार माने गये हैं। अलंकारों के इस विकास के लिए अलग अनुशीलन की आवश्यकता है। अलंकारों के स्वरूप में भी अन्तर पड़ता

१—अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥
चन्द्रालोक १।८

गया। भामह की जो वक्रोक्ति है वह वामन में नये परिवर्तित रूप में दीख पड़ती है। अलंकारों के विभाग के लिए कतिपय सिद्धान्त भी निश्चित किये गये हैं। रुद्रट ने पहले पहल यह संकेत किया और औपम्य, वास्तव अतिशय और श्लेष को अलंकारों का मूल माना। इस विषय में एकावलीकार विद्याधर का निरूपण बड़ा ही युक्तियुक्त और वैज्ञानिक है। उन्होंने औपम्य, विरोध, तर्क आदि को अलंकार का मूल विभेदक मान-कर इस विषय की बड़ी सुन्दर समीक्षा की है।

अलङ्कार मत को मानने वाले आचार्यों को रस का तत्त्व अज्ञात न था। परन्तु उन्होंने इसे स्वतन्त्र स्थान न देकर अलङ्कार का ही प्रकार माना है। रसवत्, प्रेम, ऊर्जस्वी और समाहित इन चारों अलङ्कारों के भीतर रस और भाव का समग्र विषय भामह के द्वारा अन्तर्निविष्ट किया गया है। दण्डी भी रसवत् अलङ्कार से परिचित हैं। उन्होंने आठ रस और आठ स्थायीभावों का निर्देश किया है। इस प्रकार अलङ्कार मत के ये आचार्य रसतत्त्व को भलीभांति जानते हैं पर उसे अलङ्कार का ही एक प्रकार मानते हैं। वे प्रतीयमान अर्थ से भी परिचित हैं जिसे उन्होंने समासोक्ति, आक्षेप आदि अलङ्कारों के भीतर माना है। अलङ्कारों के विशिष्ट अनुशीलन तथा व्याख्या करने से वक्रोक्ति तथा ध्वनि की कल्पना प्रादुर्भूत हुई। इस प्रकार इस शास्त्र के इतिहास में अलङ्कार मत की बड़ी विशेषता है।

३ रीति सम्प्रदाय

रीतिमत के प्रधान प्रतिपादक आचार्य वामन हैं। उनके मत में रीति ही काव्य की आत्मा है। रीति क्या है? पदों की विशिष्ट रचना ही है। रचना में यह विशिष्टता गुणों के कारण से उत्पन्न होती है। अतः रीति गुणों के ऊपर अवलम्बित रहती है। इसलिए रीतिमत गुण-सम्प्रदाय के नाम से पुकारा जाता है। वैदर्भी और गौडी रीतियों के

विभेद को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित का श्रेय आचार्य दण्डी को है। गुण, अलङ्कार के भेद को वामन ने पहली बार स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है। वामन ने गुणों को शब्दगत तथा अर्थगत मानकर उनकी संख्या द्विगुणित कर दी है। दश गुणों का नामनिर्देश तो भरत के नाट्यशास्त्र में ही किया गया है। उनके ये नाम हैं:—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, कान्ति। दण्डी ने भी इनका निर्देश किया है जिन्हें वे वैदर्भ मार्ग का प्राण बतलाते हैं। वामन ने भी वैदर्भी रीति के लिए इन दश गुणों की आवश्यकता स्वीकार की है। गौड़ी के लिए ओज और कान्ति की, पाञ्चाली के लिए माधुर्य तथा प्रसाद की सत्ता रहना आवश्यक बतलाया है।

रीति-सम्प्रदाय ने अलङ्कार और गुण का भेद स्पष्ट कर साहित्य का बड़ा उपकार किया है। वामन का कथन है कि काव्य शोभा के करने वाले धर्म 'गुण' हैं और अतिशय करने वाले धर्म 'अलङ्कार' हैं। (काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः। तदतिशय हेतवोऽलंकाराः)। अलङ्कार सम्प्रदाय की अपेक्षा इस सम्प्रदाय की आलोचक दृष्टि गहरी तथा पैनी दीख पड़ती है। भामह आदि ने तो रस को अलङ्कार मानकर उसे काव्य का बहिरंग साधन ही स्वीकार किया है, परन्तु वामन ने कान्ति गुण के भीतर रस का अन्तर्निवेश कर काव्य में रस की महत्ता पर विशेष जोर दिया है। उन्होंने वक्रोक्ति के भीतर ध्वनि का अन्तर्भाव किया है। इस प्रकार रीति सम्प्रदाय का विवेचन कहीं अधिक हृदयंगम तथा व्यापक है।

४ वक्रोक्ति सम्प्रदाय

वक्रोक्ति को काव्य का जीवन सिद्ध करने का श्रेय आचार्य कुन्तक को ही है। उन्होंने इसीलिए अपने ग्रन्थ का नाम ही 'वक्रोक्ति जीवित' रखा है। 'वक्रोक्ति' शब्द का अर्थ है—वक्र उक्ति अर्थात् सर्वसाधारण लोगों के कथन से भिन्न, अलौकिक चमत्कार से युक्त, कथन। कुन्तक के

शब्दों में वक्रोक्ति 'वैदग्ध्यभङ्गीभणिति' है। साधारण जन अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए साधारण ढंग से ही शब्दों का प्रयोग किया करते हैं, परन्तु उससे पृथक् चमत्कारी कथन का प्रचार 'वक्रोक्ति' के नाम से अभिहित होता है[1]। वक्रोक्ति की इस कल्पना के लिए कुन्तक भामह के ऋणी हैं। भामह अतिशयोक्ति को वक्रोक्ति के नाम से पुकारते हैं और उसे अलङ्कारों का जीवनाधायक मानते हैं। उनका कथन स्पष्ट है—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥

भामह की सम्मति में वक्र अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग काव्य में अलङ्कार उत्पन्न करता है—वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते (५।६६)—हेतु को अलङ्कार न मानने का कारण वक्रोक्तिशून्यता ही है (२।८६)। भामह की इस कल्पना को पिछले आलङ्कारिकों ने स्वीकृत किया। लोचन ने भामह (१।३६) को उद्धृत कर स्पष्ट लिखा है—शब्द और अर्थ की वक्रता लोकोत्तर रूप से उनकी अवस्थिति है (शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्—पृ० २०८)। दण्डी ने भी वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति रूप से वाङ्मय को दो प्रकार का माना है तथा वक्रोक्ति में श्लेष के द्वारा सौन्दर्य उत्पत्ति की बात लिखी है[2]। कुन्तक ने इसी कल्पना को अपना कर वक्रोक्ति को काव्य का जीवित बनाया है। निःसन्देह ये बड़े भारी मौलिक विचारों के आचार्य हैं।

१—वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते।
वक्रोक्तिःप्रसिद्धाभिधान व्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा
वैदग्ध्यं कविकौशलं तस्य भङ्गी विच्छित्तिः।
—वक्रोक्ति-जीवित १।११

२—श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा समासोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥
—काव्यादर्श २।३६२

कुन्तक ध्वनिमत से खूब परिचित हैं। ध्वन्यालोक के पद्यों का भी उन्होंने अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है, परन्तु उनकी वक्रोक्ति की कल्पना इतनी उदात्त, व्यापक तथा बहुमुखी है कि उसके भीतर ध्वनि का समस्त प्रपञ्च सिमट कर विराजने लगता है। वक्रोक्ति पाँच प्रकार की मुख्य रूप से है—(१) वर्णवक्रता, (२) पदवक्रता, (३) वाक्य-वक्रता, (४) अर्थवक्रता, (५) प्रबन्धवक्रता। उपचार-वक्रता के भीतर ध्वनि के प्रचुर भेदों का समावेश किया गया है। कुन्तक की विश्लेषण तथा विवेचनशक्ति बड़ी मार्मिक है। उनका यह ग्रन्थ अलङ्कारशास्त्र के मौलिक विचारों का भण्डार है। दुःख है कि उनके पीछे किसी आचार्य ने इस भावना को और अग्रसर नहीं किया। वे लोग तो रुद्रट के द्वारा प्रदर्शित प्रकार को अपनाकर वक्रोक्ति को एक सामान्य शब्दालंकारमात्र ही मानने लगे इस प्रकार 'वक्रोक्ति' की महनीय भावना को बीजरूप में सूचित करने का श्रेय आचार्य भामह को है और उस बीज को उदात्तरूप से अंकुरित तथा पल्लवित करने का सम्मान कुन्तक को है।

५ ध्वनि सम्प्रदाय

ध्वनिमत रस-मत का विस्तृतीकरण है। रस सिद्धान्त का अध्ययन मुख्यतः नाटक के सम्बन्ध में ही पहिले पहल किया गया। यह 'रस' कभी वाच्य नहीं होता, प्रत्युत व्यङ्ग्य ही हुआ करता है। इस विचार-धारा को अग्रसर कर आनन्दवर्धन ने व्यङ्ग्य को ही काव्य में प्रधान माना है। 'ध्वनि' शब्द के लिए आलङ्कारिक वैयाकरणों का ऋणी है। वैयाकरण स्फोटरूप मुख्य अर्थ को अभिव्यक्ति करने वाले शब्द के लिए 'ध्वनि' का प्रयोग करता है। आलङ्कारिकों ने इस साम्य पर इस शब्द को ग्रहण कर इसका अर्थ विस्तृत तथा व्यापक बना दिया है। इस मत के आद्य आचार्य आनन्दवर्धन ने युक्तियों के सहारे व्यंग्य की सत्ता वाच्य से पृथक् सिद्ध की है और मम्मट ने तो इसकी बड़ी ही शास्त्रीय व्यवस्था कर

दी है। आनन्द के पहले ध्वनि के विषय में तीन मत थे—अभाववादी, भक्तिवादी, अनिर्वचनीयवादी। इनका समुचित खण्डन आनन्द की बुद्धि का चमत्कार है। ध्वनि के तीन मुख्य भेद हैं—रस, वस्तु तथा अलंकार। और इनके भी अनेक प्रकार हैं।

अलंकार के इतिहास में 'ध्वनि' की कल्पना बड़ी सूक्ष्म बुद्धि की परिचायिका है। ध्वनि के चमत्कार को पाश्चात्य आलंकारिक भी मानते हैं। महाकवि ड्राइडन की उक्ति—more is meant than meets the ear—ध्वनि की ही प्रकारान्तर से सूचना है। ध्वनिवादी सिद्धान्तों के व्यवस्थापक दीख पड़ते हैं क्योंकि उन्होंने अपनी पद्धति के अनुसार गुण, दोष, रस, रीति आदि समस्त काव्यतत्त्वों की सुन्दर व्यवस्था कर दी है।

६—औचित्य सम्प्रदाय

'औचित्य' की भावना रस ध्वनि आदि समस्त काव्यतत्त्वों की मूल भावना है। समस्त प्राचीन आलंकारिकों ने 'औचित्य' की रक्षा करने की ओर अपने ग्रन्थों में संकेत किया है। क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य-विचार-चर्चा' लिखकर इस काव्यतत्त्व का व्यापक रूप स्पष्ट दिखलाया है। उनका यह कथन ठीक है कि 'औचित्य ही रस का जीवन भूत है' प्राण है[1]। जो जिसके सदृश हो, जिससे मेल मिले उसे 'उचित' कहते है और उचित का ही भाव 'औचित्य' है[2]। इस 'औचित्य' को पद, वाक्य, अर्थ, रस, कारक, लिंग, वचन आदि अनेक स्थलों पर दिखला कर तथा इसके अभाव को अन्यत्र दिखला कर क्षेमेन्द्र ने साहित्य रसिकों का महान् उपकार किया

१—औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना॥ (का० ३)

२—उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥ (का० ७)

है। परन्तु इस तत्त्व की उद्भावना क्षेमेन्द्र से ही मानना भयङ्कर ऐतिहासिक भूल होगी। औचित्य का मूलतत्त्व आनन्द ने ही उद्घाटित किया है—

'अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥

अनौचित्य को छोड़कर रसभंग का दूसरा कारण नहीं है। रस का परम रहस्य—परा उपनिषद्—यही है औचित्य से उसका निबन्धन। परन्तु आनन्दवर्धन से बहुत पहले यह काव्य का मूलतत्त्व माना गया था। भरत ने अपने पात्रों के लिए देश और अवस्था के अनुरूप वेषविन्यास की व्यवस्था कर इसी तत्त्व पर जोर दिया है—

अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते॥

नाट्यशास्त्र २३।६९

पिछले आलंकारिकों ने भी इस तत्त्व की महत्ता मानी है। इन्हीं सब सूचनाओं का विशद विवरण क्षेमेन्द्र ने अपने मौलिक ग्रन्थ में किया। क्षेमेन्द्र का यह कथन भरत की पूर्वोक्त कारिका का भाष्य रूप ही है—

कण्ठे मेखलया, नितम्बफलके तारेण हारेण वा,
पाणौ नुपूरबन्धनेन, चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यतां
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः॥

अलंकारशास्त्र ने आलोचना-शास्त्र को तीन काव्यतत्त्वों की देन दी, ये तीन तत्त्व हैं—औचित्य, रस और ध्वनि। इनमें 'औचित्य' सबसे अधिक व्यापक तत्त्व है जिसके बिना 'रस' में न तो सरसता है और 'ध्वनि' में न महत्ता। औचित्य के तत्त्व पर साहित्य का समग्र सिद्धान्त आश्रित है, इसे म० म० कुप्पुस्वामी शास्त्री ने इस यन्त्र में दिखलाया है।

साहित्य सिद्धान्तों का इतिहास औचित्य से आरम्भ कर अलंकार तक का विकास है। औचित्य के भीतर ही एक बड़ा त्रिकोण है जिसका शीर्ष भाग है 'रस' जिसे आनन्दवर्धन काव्य की आत्मा मानते हैं। तथा कुन्तक और महिमभट्ट भी काव्य में सत्ता बतलाते हैं। नीचे की रेखा पर 'ध्वनि' तथा 'अनुमिति' हैं—ये दोनों रस की अनुभूति के भिन्न-भिन्न मत हैं। 'ध्वनि' व्यञ्जना के द्वारा रसनानुभूति की अभिव्यक्ति मानता है। 'अनुमिति' महिमभट्ट के अनुसार रस की अनुभूति का अन्य प्रकार है। यह समग्र ध्वनि-विरोधी मतों का उपलक्षणमात्र है। इस त्रिकोण के द्वारा काव्य के अन्तरंग—प्राणभूत—तत्त्व की समीक्षा है। भीतरी वृत्त में काव्य के बाह्यरूप का विवेचन है। वृत्त की परिधि वक्रोक्ति है। वृत्तके भीतर छोटा त्रिकोण है जिसका ऊपरी विन्दु है वामन की रीति और निचले विन्दु हैं—दण्डी का गुण और भामह का अलङ्कार। रीति—गुण—अलंकार काव्य के बहिरंग-साधन है और इन का वक्रोक्ति पर आश्रित होना नितान्त आवश्यक है। इस प्रकार इस चित्र में अलंकार शास्त्र के पूर्वोक्त समस्त सम्प्रदायों का पारस्परिक सम्बन्ध व्यवस्थित रूप से दिखलाया गया है[1]।

---

१ यह चित्र ग्रन्थ के अन्त में दिया गया है।

दशम परिच्छेद

दर्शन-शास्त्र

भारतवर्ष स्वभाव से ही विचारप्रधान देश है। अन्य देशों में जीवन-संग्राम इतना भीषण है, प्रतिदिन व्यावहारिक जीवन की ही समस्यायें इतनी उलझी हुई हैं कि उन देशों के निवासियों का सारा समय इन्हीं के सुलझाने में व्यतीत हुआ करता है। जगत् के आध्यात्मिक तत्त्वों की छानबीन करना उनके जीवन की आकस्मिक घटनाएं हैं। परन्तु इस भारतभूमि को जीवन की समग्र आवश्यक सामग्रियों से परिपूर्ण बनाकर प्रकृति ने यहाँ के निवासियों को ऐहिक चिन्ताओं से निर्मुक्त कर पारलौकिक चिन्तन की ओर स्वतः अग्रसर कर दिया है। भारतवासी निसर्गतः विचार-प्रधान हैं। यहाँ समग्र विद्याओं में अध्यात्मविद्या (दर्शनशास्त्र) को नितान्त सर्वोच्च स्थान दिया जाता है। मुण्डक (१।१) उपनिषद् में ब्रह्मविद्या सब विद्यायों की प्रतिष्ठा (सर्वविद्या-प्रतिष्ठा) बतलाई गई है। गीता (१०।३२) में भगवान् श्रीकृष्ण ने 'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्' कहकर दर्शन-शास्त्र को अपनी ही माननीय विभूति स्वीकार किया है। अर्थशास्त्र के भी कर्ता की दृष्टि में आन्वीक्षिकी विद्या सब विद्याओं के प्रकाशक होने से ही दीपकस्थानीय है; सब कर्मों के अनुष्ठान का उपाय है तथा सब धर्मों का आश्रय है—

प्रदीपः सर्व-विद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता॥ (अर्थशास्त्र १।२)

जो महत्ता तथा स्वतन्त्रता विचारशास्त्र को इस देश में प्राप्त है वैसी इसे किसी भी अन्य देश में प्राप्त नहीं हुई।

भारतवर्ष में दर्शन का महत्त्व बहुत ही अधिक है। उसका सम्बन्ध हमारे जीवन की प्रतिदिन की घटनाओं के साथ नितान्त घनिष्ट है। पाश्चात्य देशों में दर्शन (फिलासफी) विद्या का अनुराग-मात्र है—विद्वज्जनों के मनोविनोद का साधनमात्र है, परन्तु भारत में इसका मूल्य नितान्त व्यावहारिक है। त्रिविध—आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक—ताप से सन्तप्त जनता के क्लेशों की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए ही दर्शन का उदय हुआ है—दुःखत्रयाभिघाताज् जिज्ञासा तदपघातके हेतो (सांख्यकारिका १)। यह पण्डितजनों की रमणीय कल्पना का विजृम्भणमात्र नहीं है, अपितु दिन प्रतिदिन की जागरूक विपदाओं से सदा के लिए मुक्ति प्रदान करने के निमित्त ही आर्षचक्षु वाले ऋषियों की यह महती देन है। इसीलिए दर्शन का धर्म के साथ भारतभूमि पर इतना घनिष्ठ मेल-जोल है। दर्शनशास्त्र के द्वारा सुचिन्तित आध्यात्मिक तथ्यों के ऊपर ही भारतीय धर्म की दृढ़ प्रतिष्ठा है। विचार तथा आचार में गहरा सम्बन्ध है। जैसा विचार होता है, वैसा ही आचार होता है। दार्शनिक विचार की आधारशिला के बिना धर्म की सत्ता अप्रतिष्ठित है और धार्मिक आचार के रूप में कार्यान्वित बिना किये दर्शन की स्थिति निष्फल है। धर्म तथा दर्शन में जितना सामञ्जस्य यहाँ दृष्टिगोचर होता है, उतना अन्य किसी देश में नहीं होता।

उदय

सत्य के अन्वेषण के प्रति भारत के विद्वज्जनों का आग्रह अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है। दार्शनिक प्रवृत्ति का उदय संहिताकाल में ही हो गया था। ऋग्वेद के अत्यन्त प्राचीन युग से ही भारतीय विचार धारा में द्विविध प्रवृत्ति तथा द्विविध लक्ष्य के दर्शन हमें होते हैं। प्रथम प्रवृत्ति प्रतिभा मूलक अथवा प्रज्ञा-मूलक है जो प्रातिभ चक्षु के सहारे तत्त्वों के विवेचन करने में समर्थ

श्रुतिकालीन द्विविधप्रवृत्ति

होती है। द्वितीय प्रवृत्ति तर्क-मूलक है जो तार्किक बुद्धि का प्रयोग कर तत्त्वों की समीक्षा करने में कृतकार्य होती है। लक्ष्य भी दो प्रकार के हैं—धर्म का उपार्जन और ब्रह्म का साक्षात्कार। ऋग्वेद के एक महर्षि—प्रजापति परमेष्ठी—प्रातिभज्ञान के बल पर जगत् के मूल-तत्त्व की व्याख्या करते हुए अद्वैत-तत्त्व पर आ टिकते हैं। वे कहते हैं कि सृष्टि के आरम्भ में एक ही वस्तु वायु के बिना ही अपनी शक्ति से श्वास लेती थी—आनीदवातं स्वधया तदेकम् (ऋ० १०।१२९।२), तो दूसरे 'संवनन आङ्गिरस' ऋषि वस्तुतत्त्व को पहचानने के लिए तर्क की उपयोगिता बतला रहे हैं—संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् (ऋ० १०।१९१। २)=आपस में मिलो, विषय का विवेचन करो तथा एक दूसरे के मन को जानो। इन उभय प्रवृत्तियों के परस्पर सम्मेलन से उपनिषदों के तत्त्वज्ञान का जन्म हुआ। औपनिषद तत्त्वज्ञान का पर्यवसान आत्मा तथा परमात्मा के एकीकरण को सिद्ध करने वाले प्रज्ञामूलक वेदान्त में हुआ। साथ ही साथ उस काल में तर्कमूलक तत्त्वज्ञान का भी ऊहापोह सुचारु रूप से होता था जिससे आगे चलकर कालान्तर में अन्य दर्शनों की उत्पत्ति हुई। जगत् के मूल में प्रकृति तथा पुरुष के द्वैत को मानने वाला सांख्य, समाधि के द्वारा परम तत्त्व की प्राप्ति बतलाने वाला योग, परमाणु, जीव तथा ईश्वरादि मौलिक तत्त्वों को माननेवाला बहुत्ववादी वैशेषिक तथा प्रमाणशास्त्र की विशद व्याख्या करनेवाला न्याय—इसी तर्क-मूलक प्रवृत्ति के उज्ज्वल दृष्टान्त हैं। इन दर्शनों के बीज उपनिषदों में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं। इन्हीं का उपयोग कर पीछे के आचार्यों ने अपने मत को प्रामाणिक रूप दिया। उपनिषद ही भारतीय विचार धारा के मूल स्रोत हैं। वे ऐसे आध्यात्मिक मानसरोवर हैं जहाँ से भिन्न-भिन्न ज्ञानधारायें निकल कर इस भारत भूमि को उर्वर तथा आप्यायित करती आ रही हैं।

उपनिषत्कालीन तत्त्वज्ञान का संकेत 'तत्त्वमसि' महावाक्य से है।

इस वाक्य के द्वारा ऋषि लोग डंके की चोट प्रतिपादित करते हैं कि त्वं=जीव तथा तत् = ब्रह्म पदार्थों में नितान्त एकता है। इस तत्त्व का

षड्दर्शनों का उदयक्रम

साक्षात्कार उपनिषद् के पश्चात् युगों के लिए एक विषम पहेली थी। इसकी समीक्षा के अवसर पर कुछ दार्शनिक लोग कहने लगे कि जीव तथा जगत्—पुरुष तथा प्रकृति-के परस्पर विभिन्न गुणों के न जानने से ही यह संसार है (अनात्म ख्याति) और प्रकृति-पुरुष के स्वरूप को भली भाँति जानने पर ही तत्-त्वं की एकता सिद्ध हो सकती है। इस ज्ञान का नाम हुआ सम्यक् ख्याति—विवेक ज्ञान अथवा सांख्य। यह तो हुआ अलौकिक साक्षात्कार। परन्तु इससे काम चलता न देखकर अन्य दार्शनिकों को व्यावहारिक रूप से साक्षात्कार की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इसकी पूर्ति 'योग' से की गई। इस प्रकार सांख्य-योग एक ही तत्त्वज्ञान के दो रूप हैं—अलौकिक पक्ष का नाम है सांख्य तथा व्यवहार-पक्ष का नाम है योग। कुछ दार्शनिकों ने जीव-जगत् के गुणों (विशेष) की छानबीन करना आवश्यक समझा। इस प्रकार आत्मा तथा अनात्मा के गुण विवेचन से वैशेषिक की उत्पत्ति हुई तथा ज्ञानप्राप्ति की प्रणाली को निश्चित रूप से बतलाने के लिए न्याय का जन्म हुआ। तर्कमूलक प्रणाली का रूप 'न्याय' में इतनी उग्रता से दृष्टिगोचर होने लगा कि यह भावना बद्धमूल हो गई कि केवल शुष्क तर्क की सहायता से आत्मतत्त्व का साक्षात्कार हो ही नहीं सकता। अतः विचारकों ने श्रुति की ओर अपनी दृष्टि फेरी तथा वैदिक कर्म-काण्ड की विवेचना आरम्भ कर दी जिसका फल हुआ मीमांसा का उदय। परन्तु मानवों की आध्यात्मिक भावना केवल कर्म के अनुष्ठान से तृप्त नहीं हो सकी। अतः वेदों के ज्ञानकाण्ड की मीमांसा होने लगी जिससे वेदान्त का जन्म हुआ। इस प्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्य की यथार्थ व्याख्या करने के लिए षड् दर्शनों की उत्पत्ति उक्त क्रम से हुई। इन सबकी अपनी विशेषतायें हैं, परन्तु

लक्ष्य एक ही है—तापत्रय से संतप्त जनता के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति। भिन्न-भिन्न मार्ग का अवलम्बन करने पर भी हम एक ही गन्तव्य स्थान पर किस प्रकार पहुँचते हैं? इसका पता इन दर्शनों के विकास की ओर दृष्टिपात करने से भली भाँति लग सकता है।

वेद के द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों को प्रामाणिक तथा सर्वथा सत्य मानने वाले इन दर्शनों को 'आस्तिक' दर्शन कहते हैं। मुख्य दर्शन छः हैं—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त। इसके उदय तथा अभ्युदय का इतिहास भारतीय विचारशास्त्र की विभिन्न प्रवृत्तियों का मार्मिक समीक्षण है। यह इतिहास तीन विभागों में बाँटा जा सकता है—सूत्रकाल, भाष्यकाल तथा वृत्तिकाल।

विकाश का कालक्रम

सूत्रकाल में इन दर्शनों का उदय हुआ। प्रत्येक दर्शन का मूलग्रन्थ सूत्ररूप में उपलब्ध होता है जो किसी एक महान् विचारक के नाम से सम्बद्ध है—न्यायसूत्र महर्षि गौतम की रचना हैं, वैशेषिक सूत्र कणाद की, सांख्य कपिल की, योग पतञ्जलि की; मीमांसा जैमिनि की तथा वेदान्त बादरायण व्यास की। इन सूत्रों की रचना तो विक्रमादित्य से पहले ही हो चुकी थी, इनका विकाश विक्रम की लगभग १५ वीं शताब्दी तक होता आया। इसी विकाश-काल को हमने 'भाष्यकाल' का नाम दिया है। भाष्यकाल को अलङ्कृत करने वाले दार्शनिकों की गणना संसार के महान् दार्शनिकों की श्रेणी में की जा सकती है। इन्होंने मूल अल्पाक्षर सूत्रों में निहित तथ्यों का विशदी-करण अपनी तार्किक बुद्धि से निष्पन्न कर एक महान् साहित्य का जन्म दिया है। भाष्यकाल के अनन्तर पिछली पाँच शताब्दियों को 'वृत्तिकाल' कह सकते हैं क्योंकि इस समय में भाष्यकाल की विशाल ग्रन्थराशि तथा विचारधारा को बोधगम्य बनाने के लिए छोटे-मोटे वृत्ति-ग्रन्थों की रचना की गई।

नास्तिक दर्शन

दर्शन के दो प्रधान भेद हैं—(१) आस्तिक और (२) नास्तिक। आस्तिक वह है जो वेद में श्रद्धा रक्खे और नास्तिक वह है जो वेद का निन्दक हो। 'नास्तिको वेदनिन्दकः'। वेद को प्रमाण न मानने वाले दर्शन 'नास्तिक' और वेद में श्रद्धा रखने वाले दर्शन 'आस्तिक' कहलाते हैं। नास्तिक दर्शन में तीन मुख्य हैं—(१) चार्वाक(२) जैन (३) बौद्ध।

चार्वाक दर्शन

चार्वाक दर्शन नितान्त भूतवादी है। खाओ-पीओ मौज उड़ाओ—इस सिद्धान्त के प्रचार करने के कारण इसे 'चार्वाक' संज्ञा प्राप्त हुई है। परन्तु अधिक सम्भव है कि चारु वाक् से 'चार्वाक' शब्द बना। चार्वाक वह हुआ जो सांसारिक सुख को ही जीवन का अन्तिम ध्येय बतला कर अपनी चारु वाक् से लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करे। इसके मूलसूत्र के रचयिता कोई आचार्य बृहस्पति हैं। ये सूत्र दर्शन ग्रन्थों में उद्धृत किये गये मिलते हैं। चार्वाक लोग प्रत्यक्षवादी हैं। वे अनुमान या शब्द-प्रमाण की सत्ता नहीं मानते। पृथ्वी, जल, तेज, वायु—इन चार भूतों से ही यह जगत् बना हुआ है। पृथ्वी आदि चार भूतों के सम्मिश्रण से इस शरीर की उत्पत्ति हुई है और चैतन्य-विशिष्ट शरीर ही आत्मा है। चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः। जिस प्रकार पान, सुपारी, खैर, चूना के संयोग से पान की लालिमा स्वयं उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार जड़ भूतों के मिलने से चैतन्य उत्पन्न हो जाता है। ये लोग ईश्वर नहीं मानते। ये पक्के स्वभाववादी हैं। स्वभाव से जगत् उत्पन्न होता और नष्ट होता है। मरण को ही मोक्ष मानते हैं। इस जगत् के बाद स्वर्ग नामक लोक में आस्था नहीं रखते। वे अधिभौतिक सुखवाद के अनुयायी हैं। चार्वाकों का यह सिद्धान्त सर्वत्र प्रसिद्ध है कि जब तक

जीवो सुख से जीयो। ऋण लेकर भी घी पीओ; क्योंकि शरीर के भस्म हो जाने पर भला जीव का पुनरागमन होता है?—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः? ॥

जैन दर्शन

जैनमत बौद्धमत से भी प्राचीन है। जैनियों के अनुसार इनके धर्म के प्रथम प्रचारक (तीर्थङ्कर) ऋषभदेव थे। जैनी लोग चौबीस तीर्थङ्कर मानते हैं जिनमें अन्तिम दो तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ और महावीर निःसन्देह ऐतिहासिक व्यक्ति थे। पार्श्वनाथ का जन्म ईस्वी-पूर्व अष्टम शताब्दी में तथा महावीर का काल ई० पूर्व षष्ट शताब्दी माना जाता है। जैनधर्म का मूल सिद्धान्त अर्धमागधी भाषा में निबद्ध है। सिद्धान्त ग्रन्थों की संख्या ४५ है जिसमें ११ अङ्ग, १२ उपाङ्ग, १० प्रकीर्ण, ६ छेदसूत्र ४ मूलसूत्र तथा २ स्वतन्त्र-ग्रन्थ (नन्दीसूत्र तथा अनुयोग द्वार-सूत्र) हैं। जैनों का दार्शनिक साहित्य भी बड़ा विशाल तथा विद्वत्तापूर्ण है। आरम्भ काल के आचार्यों में 'तत्त्वार्थसूत्र' के रचयिता उमास्वाति, प्रपञ्चसार आदि के निर्माता 'कुन्दकुन्दाचार्य तथा आप्त मीमांसा के कर्ता समन्तभद्र मुख्य हैं। इनका समय ईसा की तीसरी शताब्दी तक समाप्त हो जाता है। मध्ययुग के आचार्यों में सिद्धसेन दिवाकर (५ श०)। हरिभद्र (८ श०); भट्ट अकलङ्क (८ श०); तथा विद्यानन्द हैं (९ श०)। हेमचन्द्र (१०८८ ११७२) ने निखिल शास्त्र निपुणता तथा बहुज्ञता के कारण कलिकाल-सर्वज्ञ की उपाधि प्राप्त की थी। उनका 'प्रमाण-मीमांसा' नितान्त महत्त्वपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ है।

जैन दर्शन में मोक्ष के तीन साधन हैं—(१) सम्यग् दर्शन (श्रद्धा) (२) सम्यग् ज्ञान (जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—इन सात पदार्थों का ठीक-ठीक ज्ञान)। (३) सम्यग् चरित्र। चरित्र की सिद्धि के लिये अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरि-

ग्रह इन पाँच व्रतों का पालन नितान्त आवश्यक है। जैन धर्म की आचारमीमांसा बड़ी ही मार्मिक उपादेय है। प्रकारान्तर से जैन दर्शन ६ द्रव्यों को मानता है। एकदेशव्यापी द्रव्य 'काल' है। बहु-प्रदेशव्यापी द्रव्यों को 'अस्तिकाय' कहते हैं। सत्ता धारण करने के कारण वे 'अस्ति' तथा शरीर के समान विस्तार से समन्वित होने के कारण वे 'काय' कहलाते हैं। ऐसे द्रव्य पाँच हैं—जीव, पुद्गल (भूत), आकाश, धर्म तथा अधर्म। स्याद्वाद तथा सप्तभङ्गी नय जैन न्याय की विशेषता है।

बौद्ध दर्शन

भगवान् बुद्ध के द्वारा प्रतिष्ठित धर्म 'बौद्ध' कहलाता है। उसका विशाल साहित्य है। बुद्ध ने अपने उपदेश उस समय की लोकभाषा पाली में दिया था। उनके मूल ग्रन्थ त्रिपिटक के नाम से विख्यात है। महायान धर्म के ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गये। इस ग्रन्थ के प्रधान चार सम्प्रदाय हैं—(१) वैभाषिक, (२) सौत्रान्तिक, (३) योगाचार (४) और माध्यमिक।

सत्ता के सिद्धान्त के विषय में भिन्न-भिन्न मत रखने के कारण इन चार सम्प्रदायों का उदय हुआ है। वैभाषिक लोगों के अनुसार जगत् के समस्त पदार्थ—चाहे वे बाहरी जगत् से सम्बन्ध रखते हों या भीतरी जगत से सम्बद्ध हों—सब सच्चे हैं। और इस बात का पता प्रत्यक्ष के द्वारा लगता है। इसका दूसरा नाम है 'सर्वास्तिवाद'। सौत्रान्तिक मत भी बाहरी पदार्थों को सत्य मानता है। परन्तु प्रत्यक्ष रूप से नहीं बल्कि अनुमान के द्वारा। योगाचार का दूसरा नाम 'विज्ञानवाद' है क्योंकि वह विज्ञान अथवा चित्त को ही एकमात्र सत्य मानता है। माध्यमिक का दूसरा नाम है 'शून्यवाद', क्योंकि इस मत में जगत् के समस्त पदार्थ शून्यरूप हैं। इन चारों मतों के सिद्धान्तों को एकत्र जानने के लिए यह श्लोक बड़ा उपयोगी है:—

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्
योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः ।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्येति सौत्रान्तिकः
प्रत्यक्षं क्षणभंगुरं च सकलं वैभाषिको भाषते ॥

बौद्ध साहित्य

इन सम्प्रदायों का बड़ा विशाल साहित्य है और वह संस्कृत में ही निबद्ध है। कुछ ग्रन्थ तो मूल संस्कृत में उपलब्ध हैं; परन्तु अधिकांश साहित्य संस्कृत में नष्ट हो गया है। उसका परिचय हमें चीन तथा तिब्बत की भाषाओं के किये गये अनुवादों से ही चलता है। वैभाषिक सिद्धान्तों का परिचय हमें वसुबन्धु के विख्यात ग्रन्थ 'अभिधर्मकोष' से चलता है। ये पेशावर के कौशिकगोत्री ब्राह्मण के पुत्र थे। प्रौढ़ावस्था में अयोध्या में ही रहते थे। पहले वे सर्वास्तिवादी थे परन्तु अपने ज्येष्ठ भ्राता असङ्ग के उपदेश मिलने पर ये अन्त में विज्ञानवादी हो गये। इस विज्ञानवाद के प्रवर्तक आर्य मैत्रेय या मैत्रेयनाथ थे जिनके पाँच ग्रन्थों में 'अभिसमयालंकार' तथा 'मध्यान्त-विभाग' मूल संस्कृत में प्रकाशित हो गये हैं। परन्तु विज्ञानवाद का प्रसार किया 'असङ्ग' तथा 'वसुबन्धु' ने। आचार्य वसुबन्धु तृतीय शतक के बड़े भारी प्रौढ़ तथा प्रसिद्ध दार्शनिक थे। इनके सबसे प्रसिद्ध शिष्य 'दिङ्नाग' थे जिनका 'प्रमाण समुच्चय' बौद्धन्याय की प्रतिष्ठा करने वाला नितान्त प्रौढ़ ग्रन्थ है। इसी सम्प्रदाय में सप्तम शताब्दी के प्रथमार्द्ध में 'धर्मकीर्ति' नामक विख्यात बौद्ध दार्शनिक हुए, जिनका 'प्रमाणवार्तिक' विज्ञानवाद के सिद्धान्त जानने के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

शून्यवादियों में आचार्य नागार्जुन (तृतीय शतक) आर्यदेव (तृतीय शतक), स्थविर बुद्धपालित (पञ्चम शतक), भाव विवेक, चन्द्रकीर्ति (सप्तम शतक) तथा शान्तरक्षित (अष्टम शतक) आदि मुख्य हैं।

ये आचार्य लोग बौद्ध दार्शनिक जगत् की बड़ी विभूति हैं जिनके ग्रन्थ शून्यवाद के गूढ़ सिद्धान्तों को प्रतिपादन करने वाले हैं। महायान-संप्रदाय ही पिछली शताब्दियों में मंत्रशास्त्र के योग से मंत्र-यान, वज्रयान तथा कालचक्र यान के रूप में विकसित हो गया। इन संप्रदायों में मन्त्र तथा यन्त्र की बहुलता है। इनका प्रचार तिब्बत तथा नेपाल में विशेष रूप से हुआ जहाँ वे आज भी विद्यमान हैं। इन संप्रदायों के आचार्यों के द्वारा लिखा गया महत्त्वपूर्ण साहित्य है। यह साहित्य नेपाल तथा तिब्बत में उपलब्ध है और धीरे धीरे प्रकाशित हो रहा है।

आस्तिक दर्शनों का अभ्युदय

१ न्याय दर्शन

न्याय दर्शन का अध्ययन विक्रम के जन्म के पूर्व से लेकर आजतक निरवच्छिन्न रूप से चला आ रहा है। इस दर्शन का साहित्य इतना विशाल है कि प्रकाशन के इस युग में भी उसका एक बड़ा भाग अभी तक प्रकाशित नहीं हो पाया है। इस दर्शन के अभ्युदय-काल को उन मनीषियों ने अलंकृत किया था जिनकी तार्किक बुद्धि की तुलना करना नितान्त दुरूह है।

न्याय के दो रूप

इसकी दो धारायें हैं—पहली धारा सूत्रकार गौतम से आरम्भ होती है जिसे प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन आदि सोलह पदार्थों के यथार्थ विवेचन होने के कारण 'पदार्थ-मीमांसात्मक' (कैटेगोरिस्टिक) प्रणाली कहते हैं। दूसरी प्रणाली को 'प्रमाण-मीमांसात्मक' (एपिस्टोमोलाजिकल) कहते हैं जिसमें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द प्रमाणों के अंग-प्रत्यंग का खूब सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस धारा का उदय पहले पहले मिथिला के गङ्गेश उपाध्याय (१२ शताब्दी विक्रमी) के युगप्रवर्तक ग्रन्थ 'तत्त्व चिन्तामणि' से होता है। पहली धारा की 'प्राचीन-न्याय' तथा दूसरी को 'नव्यन्याय' के नाम से पुकारते हैं।

न्यायसूत्रों की रचना विक्रम से पूर्व चतुर्थ शतक में हुई थी। वात्स्यायन (वि० द्वितीय शतक) न्याय के भाष्यकार हैं जिन्होंने अपना भाष्य लिखकर न्याय सूत्रों के दुरूह अर्थों को बोधगम्य बनाया। यह समय ब्राह्मण तथा बौद्धन्याय के संघर्ष का युग था। उभय पक्ष के तार्किक अपने प्रतिपक्षियों की युक्तियों का खण्डन कर अपने सिद्धान्त के मण्डन में व्यस्त थे। भाष्य का खण्डन बौद्ध के नैयायिक दिङ्नाग ने अपने प्रमाणसमुच्चय आदि ग्रन्थों में किया जिसका खण्डन उद्योतकर (षष्ठ शतक) ने भाष्य के ऊपर 'वार्तिक लिखकर दिङ्नागीय आक्रमणों से क्षीणप्रभ न्याय विद्या की विमल आभा को सर्वत्र विस्तार कर दिया। धर्मकीर्ति ने 'न्याय-वार्तिक' की शैली पर 'प्रमाण वार्तिक' लिखा और उद्योतकर के मत का खण्डन किया। तब वाचस्पति मिश्र (नवम शतक) ने वार्तिककार की 'अति-जरती' वाणी के मर्म को समझाने के लिए 'तात्पर्य-टीका' का प्रणयन किया तथा जयन्त भट्ट ने चुने हुए सूत्रों के ऊपर 'न्याय-मञ्जरी' नामक प्रमेयबहुला वृत्ति लिखी जिसमें चार्वाक, बौद्ध, मीमांसा तथा वेदान्त का खण्डन प्रबल तथा पाण्डित्यपूर्ण युक्तियों के द्वारा अत्यंत मनोरम तथा रोचक भाषा में किया गया है। दशम शतक में आचार्य उदयन ने 'तात्पर्य-परिशुद्धि' में वाचस्पति के तात्पर्य को व्यक्त करने का सफल उद्योग किया। वाचस्पति तथा उदयन दोनों मिथिला के निवासी थे तथा ये अपनी मौलिक चिन्ता तथा अलौकिक शेमुषी के लिए विद्वत्समाज में गौरवपूर्ण स्थान रखते हैं। 'नव्य न्याय' के जन्मदाता गङ्गेश उपाध्याय (१२) भी मिथिला के निवासी थे। उनका 'तत्त्व चिन्तामणि' वस्तुतः न्याय-तत्त्वों के प्रकाश के लिए चिन्तामणि ही है। गङ्गेश के ही हाथों में पुराना पदार्थशास्त्र अब सर्वाङ्गपूर्ण प्रमाणशास्त्र बन गया। अवच्छेदक-अवच्छिन्न, निरूपक-निरूप्य आदि विचार-मापक शब्दावली की उद्भावना कर शास्त्रीय भाषा की वह शैली निर्धारित की

न्याय दर्शन का साहित्य

गई जो सचमुच दार्शनिक जगत् में युगान्तरकारिणी सिद्ध हुई। १५ वीं शताब्दी में बंगाल में नवद्वीप के विद्यापीठ की स्थापना हुई। तब से लेकर १७ वीं तक का काल नव्यन्याय का सुवर्णयुग माना जाता है। इसी युग में रघुनाथ शिरोमणि (१६ श०) ने 'तत्त्वचिन्तामणि' को 'दीधिति' से विभूषित किया, मथुरानाथ तर्कवागीश ने चिन्तामणि तथा दीधिति पर 'रहस्य' नाम्नी टीकायें लिखीं; जगदीश भट्टाचार्य (१७ श०) ने 'जागदीशी' तथा गदाधर भट्टाचार्य ने (१७ श०) बृहत्काय 'गादाधरी' लिखकर दीधिति के निगूढ़ अर्थ का प्रकाशन भली भाँति किया। इस प्रकार नव्यन्याय के अवान्तर इतिहास में यदि रघुनाथ शिरोमणि तार्किक वादिवृषभों के मुकुटमणि हैं, तो गदाधर तार्किकों में वह सम्राट् हैं जिनके मस्तक को यह मणिमण्डित मुकुट सुशोभित कर रहा है।

न्याय दर्शन में प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास छल, जाति तथा निग्रहस्थान—इन षोडश पदार्थों के यथार्थ ज्ञान के द्वारा निःश्रेयस का अधिगम मानवजीवन का परम लक्ष्य माना गया है।

न्याय की दृष्टि

"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"—ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती, यह सर्वमान्य सिद्धान्त है, परन्तु शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति का साधन कौन सा है? इन साधनों की यथार्थ मीमांसा न्यायदर्शन की दार्शनिक जगत् को महती देन है। न्याय ने प्रमाणों का तथा हेत्वाभासों का बड़ा ही प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किया है जिसका उपयोग अन्य दर्शन भी पर्याप्तमात्रा में करते हैं। न्याय की दार्शनिक दृष्टि 'बहुत्व-संवलित यथार्थवाद' की है। इस विश्व के मूल में परमाणु, आत्मा, ईश्वर ऐसे नित्य पदार्थ विद्यमान हैं जिनके कारण ही इस जगत् की सत्ता होती है। हमारी इन्द्रियों के सहारे जो जगत् दृष्टिगोचर होता है, वह वस्तुतः सत् है। परमाणु इसका समवायी कारण है तथा ईश्वर निमित्त कारण

है। ईश्वर अनुमान के द्वारा गम्य है। उसकी इच्छा होने पर एक परमाणु दूसरे परमाणु से मिलकर 'द्व्यणुक' की सृष्टि करता है तथा तीन द्व्यणुकों के परस्पर योग से 'त्र्यणुक' या त्रसरेणुकी उत्पत्ति होती है और इसी प्रकार आकाशादि क्रम से पञ्च तत्त्व उत्पन्न होते हैं। न्यायमत में मुक्ति में सुख तथा दुःख उभय मनोवृत्तियों का नाश होने पर मन साम्यावस्था को प्राप्त कर लेता है। सुख के साथ राग का सम्बन्ध रहता है तथा यही राग बन्धन का कारण बनाता है। अतः मोक्ष में न दुःख विद्यमान रहता है, न सुख। जीवन्मुक्ति को अपर निःश्रेयस तथा विदेहमुक्ति को पर निःश्रेयस कहते हैं। मिथ्याज्ञान के कारण ही दोष, प्रवृत्ति, जन्म तथा दुःख की उत्पत्ति होती है। इस मिथ्याज्ञान का नाश तत्त्वज्ञान से होता है। आत्मा का साक्षात्कार नितरां आवश्यक है तथा इसके लिए यम नियम आदि योगप्रसिद्ध उपायों का अवलम्बन श्रेयस्कर है। ध्यान धारणादि उपायों के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार तथा चित्त की सुख-दुःख से विरहित साम्यावस्था को प्राप्त करना न्याय का चरम लक्ष्य है।

२—वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक-दर्शन न्यायदर्शन के साथ अनेक सिद्धान्तों में समानता रखने के कारण 'समान तन्त्र' स्वीकृत किया गया है। इसमें 'सत्य' की जो मीमांसा प्रस्तुत की है वह भौतिक विज्ञान की दृष्टि को सामने रखकर की गई है। न्याय का प्रधान लक्ष्य अन्तर्जगत् तथा ज्ञान की मीमांसा है, तो वैशेषिक का मुख्य तात्पर्य वाह्य जगत् की विस्तृत समीक्षा है। वैशेषिक के अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव—ये सात पदार्थ होते हैं। आत्मा का यथार्थ ज्ञान तभी हो सकता है जब आत्मेतर पदार्थों का ज्ञान उत्पन्न हो। तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति आत्मा तथा आत्मेतर द्रव्यों के परस्पर साधर्म्य तथा वैधर्म्य के जानने पर ही हो सकती है। द्रव्य संख्या में

वैशेषिक की दृष्टि

नव हैं तथा इन नव द्रव्यों के आश्रित धर्म गुण और कर्म हैं। द्रव्य, गुण तथा कर्म के समानधर्मों के योग का नाम 'सामान्य' है तथा वस्तुओं के पारस्परिक वैधर्म्य का ज्ञान 'विशेष' से होता है। सामान्य तथा विशेष जैसे नित्य पदार्थों का अन्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध दिखलाने के लिए 'समवाय' नामक नित्य सम्बन्ध की सत्ता मानी गई है। इन षड् भाव पदार्थों के समान ही 'अभाव' भी वास्तव, यथार्थ तथा महत्त्वशाली पदार्थ है। इस दर्शन के अनुसार निष्काम कर्मों का सम्पादन भी नितान्त आवश्यक है, क्योंकि ऐसे कर्मों का अनुष्ठान तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति करता हुआ मोक्ष की उपलब्धि में परम्परया कारण है।

वैशेषिक दर्शन बड़ा पुराना है। कणादसूत्र गौतमसूत्र से भी प्राचीन है। वैशेषिकों पर बौद्धों की बड़ी आस्था थी। प्राचीन वैशेषिक लोग किसी समय में प्रत्यक्ष तथा अनुमान दो ही प्रमाण मानते थे। यही कारण है कि ये लोग आधे बौद्ध (अर्ध वैनाशिक) माने गये हैं। इस दर्शन की साहित्य-सम्पत्ति न्याय की अपेक्षा बहुत ही कम है। कणादसूत्र विक्रम से प्राचीन हैं। विक्रम से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व इनकी रचना हो चुकी थी परन्तु विकाश विक्रम के अन्तर ही सम्पन्न हुआ। प्रशस्तपाद ने अपने 'पदार्थ धर्म-संग्रह' में वैशेषिक तत्त्वों का नितान्त प्रामाणिक समीक्षण प्रस्तुत किया। इसे साधारण रीति से 'भाष्य' कहते हैं, परन्तु यह तत्त्वप्रतिपादक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। वसुबन्धु ने इनके सिद्धान्तों का खण्डन किया है तथा वात्स्यायन ने 'न्याय भाष्य' में इसका उपयोग किया है। अतः इन दोनों से प्राचीन होने से यह ग्रन्थ द्वितीय शतक विक्रम का प्रतीत होता है। चन्द्र (५ शतक) का 'दशपदार्थी शास्त्र' अपने समय में विशेष विख्यात था। इसका पता चीनी भाषा में ७०५ वि० (६०८ ई०) में किये गये अनुवाद से चलता है। अवान्तर आचार्यों ने कणादसूत्र तथा प्रशस्तपादभाष्य के ऊपर सुन्दर टीकायें लिखी हैं। व्योमशिवाचार्य (८ म शतक) की 'व्योमवती',

वैशेषिक का साहित्य

उदयाचार्य की 'किरणावली' श्रीधराचार्य की 'न्याय-कन्दली' (रचनाकाल ९१३ शतक = ९९१ ई०), वल्लभाचार्य (१२ शतक) की 'न्याय लीलावती' पद्मनाभ मिश्र का 'सेतु' (केवल द्रव्य ग्रन्थ तक), जगदीश भट्टाचार्य की सूक्ति (द्रव्यग्रन्थ तक)—प्रशस्तपादभाष्य की माननीय व्याख्यायें हैं। शङ्कर मिश्र (१५ श०) ने 'उपस्कार' लिखकर सूत्रों के रहस्य को भलीभांति प्रकट किया है। जयनारायण की 'विवृत्ति' तथा चन्द्रकान्ता तर्कालङ्कार का भाष्य गत शताब्दी में लिखे गये। इनके अतिरिक्त शिवादित्य मिश्र (१० श०) ने 'सप्तपदार्थी' में वैशेषिक सिद्धान्तों का न्यायसिद्धान्तों के साथ प्रथम मनोरम समन्वय उपस्थित किया। विश्वनाथ न्यायपञ्चानन (१७ श०) का 'मुक्तावली' से विभूषित 'भाषापरिच्छेद' तथा अन्नंभट्ट का 'तर्कसंग्रह' नितान्त लोकप्रिय ग्रन्थ हैं। आरम्भ में न्याय तथा वैशेषिक स्वतन्त्र दर्शन थे, परन्तु दशम शतक के अनन्तर दोनों के सिद्धान्तों का समन्वय कर दिया गया। पिछले ग्रन्थों की परीक्षा से यह स्पष्ट है।

३—सांख्य दर्शन

सांख्य इन दोनों पूर्ववर्णित दर्शनों की अपेक्षा कहीं अधिक प्राचीन है। उपनिषदों में सांख्य के सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं—विशेषतः कठ, छान्दोग्य, श्वेताश्वतर तथा मैत्री में। यह दर्शन द्वैत मत का प्रतिपादक है। प्रकृति और पुरुष दो मूलतत्त्व हैं जिनके परस्पर सम्बन्ध से इस जगत् का आविर्भाव होता है। प्रकृति जड़ है तथा एक है। परन्तु इसके विरुद्ध पुरुष चेतन है तथा अनेक हैं। सांख्य सत्कार्यवाद का समर्थक है। इसकी दृष्टि में कार्य कारण में अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। कारण-सामग्री के द्वारा कार्य अव्यक्तरूप से व्यक्तरूप में आता है। प्रकृति सत्त्व, रज तथा तम—इन तीनों गुणों की साम्यावस्था है। इन गुणों में जब वैषम्य उत्पन्न होता है, तभी सृष्टि का

सांख्य की दृष्टि

उदय होता है। प्रकृति-पुरुष के परस्पर योग से उत्पन्न होता है—महत्तत्त्व (या बुद्धि)। इससे 'अहङ्कार' उत्पन्न होता है। सत्त्वप्रधान अहङ्कार से एकादश इन्द्रियों का तथा तामस अहङ्कार से पञ्चतन्मात्रा तथा उससे स्थूल महाभूतों का आविर्भाव होता है। सांख्य की दार्शनिक दृष्टि यथार्थ-वाद की है। मनस्तत्त्व का सूक्ष्म विवेचन कर तथा त्रिगुण की व्याप्ति दिखला कर सांख्य ने बड़ा काम किया।

सांख्य की अनेक धारायें थी। प्राचीन सांख्य ईश्वरवादी था। वेदान्त से इसमें विशेष पार्थक्य न था, परन्तु पिछला सांख्य नितान्त निरीश्वरवादी है। प्रकृति पुरुष की कल्पना से विश्व की पहेली समझाई जा सकती है। अतः अनावश्यक होने से 'ईश्वर' की सत्ता सांख्य को मान्य नहीं है। बौद्धों के ऊपर सांख्य का बड़ा प्रभाव है। गौतमबुद्ध के मौलिक सिद्धान्त सांख्य से ही लिये गये हैं, यह निर्विवाद सिद्ध है। दुःख की सत्ता, वैदिक कर्मकाण्ड की गौणता, ईश्वर की सत्ता पर अनास्था तथा जगत् की परिणामशीलता (परिणाम नित्यता) के सिद्धान्त को बुद्ध ने सांख्यदर्शन से ग्रहण किया। सांख्यों की सबसे विलक्षण बात यह है कि वे ही पहले अहिंसावादी थे। जैन तथा बौद्ध लोगों ने यह सिद्धान्त सांख्यों से ही सीख कर ग्रहण किया।

सांख्य की विशेषता

इसके उद्भावक 'कपिल' उपनिषत्कालीन ऋषि हैं। परन्तु उनके नाम से प्रचलित सांख्यसूत्र विक्रम के अनन्तर पञ्चम शतक का है। 'आसुरि' कपिल के साक्षात् शिष्य थे तथा आसुरि के शिष्य 'पञ्चशिख' ने आजकल अनुपलब्ध 'षष्टितन्त्र' की रचना कर सांख्यतन्त्र को खूब व्यापक बनाया। इनके बाद तथा ईश्वरकृष्ण तक की आचार्य परम्परा लुप्त सी हो गई है। आजकल सांख्य के सिद्धांतों का प्रतिपादक ग्रन्थ 'सांख्यकारिका' है जिसे 'ईश्वरकृष्ण' ने विक्रम की प्रथम शताब्दी में लिखा। यह ग्रन्थ इतना प्रसिद्ध था कि

सांख्य का विकाश

छठी शताब्दी में किसी वृत्ति के साथ पूरे ग्रन्थ का अनुवाद परमार्थ ने चीनी भाषा में किया। यह अनुवाद आज भी उपलब्ध है। चीनी भाषा में इसका नाम 'हिरण्य सप्तति' या 'सुवर्ण सप्तति' है। कालान्तर में इसकी अनेक व्याख्यायें लिखी गईं जिसमें आचार्य माठर (२ श०) की 'माठरवृत्ति', गौडपाद (५ श०) का 'भाष्य','युक्तिदीपिका', वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्वकौमुदी', शङ्कराचार्य के नाम से उपलब्ध 'जयमंगला' विख्यात टीकायें हैं। विन्ध्य के जंगल में रहने वाले आचार्य विन्ध्यवासी भी प्रसिद्ध सांख्याचार्य हैं जिनके मत का उल्लेख कुमारिल ने अपने श्लोकवार्तिक (पृ० ३७३,७०४) में किया है। विज्ञानभिक्षु (१६ श०) काशी के एक विद्वान् संन्यासी थे। इन्होंने सांख्यसूत्रों पर 'सांख्यप्रवचन-भाष्य' लिखकर सांख्य का वेदान्त के साथ हृदयङ्गम सामञ्जस्य दिखलाया है। सांख्य के अनेक ग्रन्थ इन्हीं की प्रेरणा से लिखे गये।

४—योग दर्शन

योग हिन्दू जाति की सबसे प्राचीन और सबसे समीचीन सम्पत्ति है। यह ऐसी विद्या है जिसके विषय में वादविवाद के लिए तनिक भी स्थान नहीं है। ऋषियों के प्रातिभ ज्ञान या अन्तर्दृष्टि की उत्पत्ति में योग ही प्रधान कारण माना जाता है। योग के अभ्यास से नाना प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं, इस विषय में शायद ही किसी विवेचक को संशय होगा। योग भारतीयों की विशिष्ट सम्पत्ति है जिसे इन्होंने वैज्ञानिक दृष्टि से अनुशीलन कर उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा दिया है। मोहनजोदड़ों की खुदाई में अनेक योगासन में बैठी मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं। प्राणविद्या की महत्ता श्रुति में स्पष्ट अक्षरों में प्रतिपादित की है—अद्वयतारक, अमृतनाद आदि २१ उप-निषदों में तो योग का ही सर्वाङ्गीण विवेचन किया गया है। जैन 'अंगों' तथा बौद्ध 'त्रिपिटिक' में योग की महिमा गाई गई है। योग के प्रकार भी

योग की व्यापकता

अनेक हैं। तन्त्रयोग की पद्धति विलक्षण है। नाथपन्थी सिद्धों ने 'हठयोग' का खूब अनुशीलन किया था। गोरखनाथ के नाथसम्प्रदाय में योग का इतना आदर है कि इस सम्प्रदाय को ही 'योगी' नाम से पुकारते हैं।

महर्षि पतञ्जलि ने उपनिषत्प्रतिपादित योगविधियों का अनुशीलन कर 'राजयोग' का विस्तृत विवेचन अपने सूत्रों में किया है जिनकी रचना विक्रमादित्य से दो सौ वर्ष पूर्व की गई थी। पतञ्जलि के द्वारा

योग के सिद्धान्त

प्रतिपादित योग के आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इन अंगों के अभ्यास से चित्त-वृत्तियों के विलीन हो जाने पर एकाग्र हो जाता है। जहाँ ध्यान ध्येयवस्तु के आवेश से मानो अपने रूप से शून्य हो जाता है और ध्येय वस्तु के आकार को ग्रहण कर लेता है वहाँ 'समाधि' का उदय होता है। वह द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है और कैवल्य स्थिति का अनुभव करता है। सांख्य के पचीसों तत्त्व योगदर्शन को अभीष्ट हैं। यहाँ ईश्वर छबीसवाँ तत्त्व माना जाता है। इसीलिए योग को 'सेश्वर सांख्य' कहते हैं। योग के शब्दों में जो पुरुषविशेष क्लेश, कर्म, विपाक (कर्मफल) और आशय (विपाकानुरूप संस्कार) के सम्पर्क से शून्य रहता है वही 'ईश्वर' कहलाता है। मुक्तपुरुष पूर्वकाल में बन्धन में रहता है तथा प्रकृतिलीन को भविष्यकाल में बन्धन की सम्भावना बनी रहती है, परन्तु ईश्वर तो सदा ही मुक्त रहता है और सदा ही ईश्वर रहता है। ऐश्वर्य और ज्ञान की जो पराकाष्ठा है वही ईश्वर है। इस ईश्वर के प्रणिधान से—चित्त के एकत्र लगाने से अथवा समग्र कर्मफलों के समर्पण से—समाधि की सिद्धि होती है। भगवान् में प्रेमपूर्वक चित्त लगाने से वे प्रसन्न होते हैं तथा क्लेशों को शीघ्र नष्ट कर समाधि की सिद्धि कर देते हैं। मन को अलौकिक तथा अज्ञात शक्तियों की सिद्धि दिखला कर भारतीय-राजयोग

ने पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों तथा डाक्टरों की दृष्टि अपनी ओर आकृष्ट की है। इसी कारण योग का प्रचार पाश्चात्य जगत् में भी बड़ी शीघ्रता के साथ होता जा रहा है।

योगदर्शन के ग्रन्थों की संख्या अत्यन्त अल्प है। याज्ञवल्क्य स्मृति के कथन (हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः) के आधार पर 'हिरण्यगर्भ' योग के आद्य प्रकाशक माने जाते हैं। महर्षि पतञ्जलि ने

विकास

योग का केवल अनुशासन किया अर्थात् प्रतिपादित शास्त्र का उपदेशमात्र किया। यह विक्रम के दो सौ वर्ष पूर्व की बात है। विक्रम के अनन्तर तृतीय शतक में व्यास ने इन सूत्रों पर 'भाष्य' लिखा। ये भाष्यकार पुराणकार व्यास से भिन्न प्रतीत होते हैं। बौद्ध सिद्धान्तों के भाष्य में उल्लेख मिलने के कारण इन्हें ऐतिहासिक लोग तृतीय शतक विक्रमी का मानते हैं। योगभाष्य के निगूढ़ अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए वाचस्पति (नवम शतक) ने 'तत्त्व-वैशारदी' की रचना की जो ग्रन्थकार की विद्वत्ता के अनुरूप ही गूढार्थ-प्रकाशिनी है। राघवानन्द सरस्वती ने इस ग्रन्थ की 'पातञ्जल-रहस्य' नामक टीका लिखी है। १६ शतक में विज्ञानभिक्षु ने सांख्य योग के पुनरुत्थान के लिए महान् यत्न किया। योगभाष्य की गुत्थियों को सुलझाने के लिए इन्होंने 'योगवार्तिक' की रचना की। यह 'योगवार्तिक' भाष्य के विवेचन के अतिरिक्त 'तत्त्ववैशारदी' के व्याख्यानों की भी पर्याप्त समालोचना करता है? आजकल के प्रसिद्ध सांख्ययोगाचार्य हरिहरानन्द ने 'भास्वती' नामक टीका भाष्य पर लिखी है तथा बंगला भाषा में भाष्य का बड़ा ही प्रामाणिक तथा विस्तृत अनुवाद प्रस्तुत किया है। स्वामी बालराम उदासीन का भाष्य का हिन्दी-अनुवाद भी बहुत ही सुन्दर तथा उपादेय है। योगभाष्य के समान योगसूत्रों पर भी अनेक टीकायें लिखी गईं जिनमें भोजकृत 'राजमार्तण्ड' (प्रसिद्ध नाम भोजवृत्ति), भावागणेश (१६ श०) की 'वृत्ति', रामानन्दयति की 'मणिप्रभा', अनन्त पण्डित

की 'योगचन्द्रिका', सदाशिवेन्द्र सरस्वती का 'योगसुधाकर' तथा नागोजी भट्ट (१८ श०) की लघ्वी तथा बृहती टीकायें प्रसिद्ध तथा प्रामाणिक हैं। पातञ्जल दर्शन पर इतना ही साहित्य विख्यात है।

५—मीमांसा दर्शन

मीमांसा दर्शन का प्रधान उद्देश्य वैदिक कर्मकाण्ड के विधानों में दृश्यमान विरोधों का परिहार (एकवाक्यता) उत्पन्न करना है। श्रुतिकाल में ही इस प्रकार के विरोध के परिहार की ओर ऋषियों की दृष्टि गई थी।

मीमांसा का उद्देश्य

'मीमांसते' आदि क्रियापद तथा 'मीमांसा' संज्ञापद का प्रयोग वैदिक संहितादिकों में किया गया मिलता है। तैत्तिरीयसंहिता (७-५।७।१), ताण्ड्य ब्राह्मण (६।५।९), छान्दोग्य (५।११।१) में 'मीमांस्' धातु का॰ विचार अर्थ में प्रयोग मिलता है। कौषीतकि ब्राह्मण (२।९) तो स्पष्टतः उदित होम तथा अनुदित होम के विषय में समीक्षा का उल्लेख करता है (उदिते होतव्यमनुदिते होतव्यमिति मीमांसन्ते)। इसी समीक्षण के कारण 'मीमांसा' का प्राचीन नाम 'न्याय' है। मीमांसक लोग ही हमारे प्रथम नैयायिक हैं। मीमांसा का विषय धर्म का विवेचन है (धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्—श्लोकवार्तिक श्लो० ११)। वेद के द्वारा विहित इष्टसाधन 'धर्म' है तथा अनिष्टसाधन 'अधर्म' है। वेद स्वयं नित्य है। किसी के द्वारा उसकी रचना नहीं हुई। अतः वह 'अपौरुषेय' है। इस विश्व में कर्म ही सबसे प्रधान वस्तु है। आचार्य बादरायण ईश्वर को कर्मफलों का दाता मानते हैं, परन्तु जैमिनि की सम्मति में यज्ञ से ही तत् तत् फलों की उपलब्धि होती है। अनुष्ठान तथा फल के समयों में अन्तर दिखलाई पड़ता है। कर्म का अनुष्ठान आज हो रहा है, परन्तु उसका स्वर्गादि फल कालान्तर में संपन्न होगा। इस वैषम्य को दूर करने के लिए मीमांसकों ने 'अपूर्व' का सिद्धान्त स्थिर किया है। कर्मों से उत्पन्न

होता है अपूर्व (पुण्यापुण्य) तथा अपूर्व से होता है फल। मीमांसकों ने 'शब्द' की नित्यता पर खूब मौलिक विचार किया है। कुमारिल का 'अभिहितान्वयवाद' तथा प्रभाकर का 'अन्विताभिधानवाद' शब्दार्थ के समझाने के लिए नितान्त माननीय हैं। 'बाल मनोविज्ञान' की जानकारी की भी बड़ी सामग्री मीमांसाग्रन्थों में भरी पड़ी है। विरोधी वाक्यों की एकवाक्यता दिखलाने के लिए मीमांसा ने जिस पद्धति को खोज निकाला है, वह बड़ी ही उपादेय है। जिस प्रकार पद का ज्ञान व्याकरण से होता है तथा प्रमाण का ज्ञान न्याय से होता है, उसी प्रकार वाक्य का ज्ञान मीमांसा के ही सहारे होता है। मीमांसा के तात्पर्यविषयक सिद्धान्तों का उपयोग धर्मशास्त्रों में अर्थनिर्णय के लिए आज भी किया जाता है। बौद्ध धर्म के दार्शनिकों के द्वारा वैदिक कर्मकाण्ड पर किये गये आक्षेपों को ध्वस्त करने का सारा श्रेय इन्हीं मीमांसकों को प्राप्त है। यदि ये अनूठे ग्रन्थों के द्वारा कर्मकाण्ड की इतनी मार्मिक समीक्षा नहीं करते, तो वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति जो श्रद्धा और आस्था इस समय दीख पड़ती है वह न जाने कब की समाप्त हो चुकी होती।

मीमांसा की साहित्य-सम्पत्ति

मीमांसादर्शन की साहित्य-सम्पत्ति नितान्त विशाल है। विक्रम से पाँच-छः सौ वर्ष पहले ही महर्षि जैमिनि ने मीमांसासूत्रों की रचना की थी। इस दर्शन के सूत्र अन्य सब दर्शनों के सूत्रों से संख्या में कहीं अधिक हैं। महाभाष्यमें काशकृत्स्न आचार्य की लिखी मीमांसा का उल्लेख मिलता है, परन्तु न तो इनके सूत्रों का ही पता चलता है, न इनके विशिष्ट मतों का। आचार्य उपवर्ष तथा भवदास (२ शतक) के वृत्तिग्रन्थों का उल्लेख ही मिलता है। विक्रम के तीन सौ वर्ष पीछे शबर स्वामी ने द्वादशलक्षणी मीमांसा पर विस्तृत तथा प्रामाणिक भाष्य लिखा। शाबर-भाष्य के तीनों टीकाकारों ने तीन विभिन्न सम्प्रदाय चलाये—

भाट्टमत, गुरुमत तथा मुरारिमत ।

भाट्टमत के उन्नायक आचार्य कुमारिलभट्ट हैं (सप्तम शतक)। इनके समान प्रखर बुद्धिवाला तार्किक मिलना नितान्त दुष्कर है। इन्होंने मीमांसा को बौद्धों के कर्कश तर्क-प्रहारों से ही नहीं बचाया, परन्तु अपने

कुमारिल

ग्रन्थों में साम्प्रदायिक व्याख्या को स्थान देकर उसे नास्तिक होने से भी रक्षा की। 'श्लोकवार्तिक' (प्रथम अध्याय की व्याख्या) तथा 'तन्त्रवार्तिक' (प्रथम अध्याय के द्वितीयपाद से लेकर तृतीय अध्याय तक के शाबरभाष्य की गद्यात्मक व्याख्या) इनके अलौकिक पाण्डित्य तथा तर्ककुशलता के ज्वलन्त उदाहरण हैं। इन्हीं के शिष्य मण्डनमिश्र ने विधिविवेक, भावनाविवेक, विभ्रमविवेक आदि प्रामाणिक ग्रन्थों को लिखकर भाट्टमत को खूब पुष्ट किया। वाचस्पति मिश्र ने विधि-विवेक पर 'न्यायकणिका' नामक टीका लिखी तथा शब्दार्थ के विषय में 'तत्त्वबिन्दु' बनाया। कुमारिल के दूसरे शिष्य 'उम्बेक' ने 'भावनाविवेक' तथा 'श्लोकवार्तिक' की तात्पर्य टीका लिखी। ये ही उम्बेक उत्तररामचरित आदि नाटकों के रचयिता भवभूति माने जाते हैं। भट्टकुमारिल ने अपने शिष्यों के साथ वैदिक धर्म के पुनरुत्थान तथा प्रतिष्ठा करने में जो अश्रांत परिश्रम कर विपुल सफलता प्राप्त की वह सुवर्णाक्षरों में लिखने लायक है।

भाट्टमत आचार्यों में तीन प्रधान माने जाते हैं:—

(क) पार्थसारथि मिश्र (१२ श०) मिथिला के निवासी माने जाते हैं। इन्होंने टुप्टीका की व्याख्या 'तर्करत्न' तथा श्लोकवार्तिक की मान्य टीका 'न्यायरत्नाकर' लिखी। इनका मौलिक प्रकरणग्रन्थ "शास्त्र-दीपिका' भाट्टमत का नितान्त प्रामाणिक, उपादेय तथा प्रमेयबहुल माना जाता है। (ख) माधवाचार्य—विजयनगर साम्राज्य के संस्थापक, वेद-भाष्यकार श्री सायणाचार्य के ज्येष्ठ भ्राता थे। इनका न्यायमालाविस्तर' मीमांसासूत्रों के अधिकरणों की विशद व्याख्या है। (ग) खण्डदेव मिश्र १८ वीं विक्रमी में काशीस्थ पण्डितों के रत्न थे। अधिकरणप्रस्थान पर

निर्मित इनकी 'भाट्टदीपिका' भाट्टसिद्धान्तों के प्रकाशन के निमित्त वस्तुतः दीपिका ही है। इनके गुरु विश्वेश्वरभट्ट थे जो 'गागाभट्ट' के नाम से विशेष विख्यात हैं और जिन्होंने छत्रपति शिवाजी महाराज का राज्याभिषेक कराया था। इनका 'भाट्टचिन्तामणि' मीमांसासूत्रों की सरल टीका है। इन्हीं के समकालीन अप्पयदीक्षित ने 'विधिरसायन', 'उपक्रमपराक्रम' आदि ग्रन्थों की रचना कर मीमांसा-साहित्य की खूब श्रीवृद्धि की। इनके अतिरिक्त आपदेव का 'मीमांसान्यायप्रकाश' भी खूब लोकप्रिय मीमांसा ग्रन्थ है जिसकी विस्तृत व्याख्या ग्रन्थकार के पुत्र सुप्रसिद्ध अनन्तदेव ने 'भाट्टालङ्कार' नाम से की। ये खण्डदेव के ही समकालीन थे।

गुरुमत के संस्थापक का नाम प्रभाकर मिश्र था। प्रसिद्धि है कि ये कुमारिल के ही शिष्य थे, जिन्होंने इनकी अलौकिक कल्पनाशक्ति से प्रसन्न होकर इन्हें 'गुरु' की उपाधि दी थी, परन्तु नवीन खोज से इनका समय कुमारिल से भी पूर्व ठहराता है। इन्होंने 'बृहती' नामक टीका में शाबरभाष्य के सिद्धान्तों को भलीभांति समझाया है। इनका समय विक्रमी सप्तम शतक माना जा सकता है। आचार्य शालिकनाथ ने गुरु के ग्रन्थों पर प्रामाणिक व्याख्यायें लिखकर इस मत का खूब गौरव बढ़ाया। इन्होंने बृहती पर 'ऋजुविमला' टीका तथा 'लघ्वी' पर 'दीपशिखा' टीका लिखी; परन्तु इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है—प्रकरणपञ्चिका। ये उदयनाचार्य से पूर्ववर्ती थे। अतः दशम शतक के लगभग इनका समय पड़ता है।

तृतीय सम्प्रदाय के प्रवर्तक मुरारि मिश्र के विषय में हमारा ज्ञान बहुत ही कम है। ये मध्ययुग के एक माननीय मीमांसक थे। मीमांसा के प्रधान सिद्धान्तों के विषय में भट्ट तथा गुरु से भिन्न इनका एक स्वतन्त्र मत था। इसी से यह कहावत चल पड़ी—मुरारेस्तृतीयः पन्थाः। गंगेश उपाध्याय ने 'तत्त्वचिन्तामणि' में इनके मत का उल्लेख किया है। अतः

इनका समय १२ वीं शताब्दी विक्रमी सिद्ध होता। इन्हीं आचार्यों के अश्रान्त परिश्रम के कारण मीमांसा का साहित्य इतना सम्पन्न तथा समृद्ध हो सका है। अधिकांश मीमांसक लोग मध्ययुग की विभूति हैं।

६—वेदान्त दर्शन

वेदान्त दर्शन भारतीय अध्यात्मशास्त्र का मुकुटमणि माना जाता है। 'वेदान्त' शब्द का अर्थ है उपनिषद्। इन उपनिषदों का वेदों के सिद्धान्त के प्रतिपादक होने के कारण से 'वेदान्त' (वेद का अन्त = सिद्धान्त) शब्द से अभिहित करना नितान्त युक्तियुक्त है परन्तु उपनिषद् अनेक हैं और उनके सिद्धान्तों में भी आपाततः विरोध प्रतीयमान होता है। इस विरोध के परिहार के लिए महर्षि बादरायण व्यास ने जिन सूत्रों की रचना की उन्हें ब्रह्मसूत्रों के नाम से पुकारते हैं। ब्रह्मसूत्र पाणिनि से भी प्राचीन हैं क्योंकि उन्होंने 'पाराशर्य-शिलालिभ्यां भिक्षु नटसूत्रयोः' (४।३।११०) सूत्र में पराशर्य (पराशर के पुत्र = व्यास) निर्मित जिन भिक्षुसूत्रों का निर्देश किया है वे इन ब्रह्म-सूत्रों से भिन्न नहीं प्रतीत होते। श्रीधर स्वामी की सम्मति में 'ब्रह्म-सूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः" (१३.४) इस पद्यांश में गीता ब्रह्मसूत्रों का ही निर्देश करती है। अतः इन सूत्रों का निर्माण काल विक्रमपूर्व षष्ठ शतक के लगभग है। इन ब्रह्मसूत्रों की ही व्याख्या करके कालान्तर में वेदान्त के नये-नये सम्प्रदाय खड़े हुए जिनमें कतिपय प्रसिद्ध विद्वानों के नाम उनके भाष्य तथा सिद्धांतों के साथ दिये जाते हैं :—

ब्रह्मसूत्र

आचार्य	समय	भाष्य	मत
१ शंकर	(७०० ई०)	शारीरकभाष्य	अद्वैत
२ भास्कर	(१००० ई०)	भास्करभाष्य	भेदाभेद
३ रामानुज	(११४० ई०)	श्रीभाष्य	विशिष्टाद्वैत
४ मध्व	(१२३८ ई०)	पूर्णप्रज्ञ	द्वैत

५ निम्बार्क (१२५० ई०) वेदान्तपारिजात द्वैताद्वैत
६ श्रीकण्ठ (१२७० ई०) शैवभाष्य शैवविशिष्टाद्वैत
७ श्रीपति (१४०० ई०) श्रीकरभाष्य वीरशैवविशिष्टाद्वैत
८ वल्लभ (१५०० ई०) अणुभाष्य शुद्धाद्वैत
९ विज्ञानभिक्षु (१६०० ई०) विज्ञानामृत अविभागाद्वैत
१० बलदेव (१७२५ ई०) गोविन्दभाष्य अचिन्त्यभेदाभेद

मूल ब्रह्मसूत्र में लगभग ५५० सूत्र हैं। सूत्र इतने छोटे हैं कि बिना किसी व्याख्या या भाष्य के उनका अर्थ स्पष्टरूप से प्रतीत नहीं होता। यही कारण है कि भिन्न भिन्न आचार्यों ने अपनी अपनी दार्शनिक दृष्टि के अनुकूल इन सूत्रों की विशद व्याख्यायें लिखी हैं। इन भाष्यकारों में सबसे अधिक भेद का विषय है जीव और ईश्वर का संबंध। शंकराचार्य की दृष्टि में जीव और ब्रह्म में नितान्त अभिन्नता है। इसी कारण इनका मत अद्वैतवाद के नाम से प्रसिद्ध है। उनके सिद्धान्त का प्रतिपादक यह श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है :—

"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या
जीवो ब्रह्मैव नापरः"

मतों के समान सिद्धान्त

आचार्य शङ्कर ने इस जगत् की सृष्टि माया के अनुसार सिद्ध मानी है; ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है; जगत् की सत्ता व्यावहारिक है। माया के द्वारा विरचित होने के कारण जगत् का स्वरूप अनिर्वचनीय है। यह सिद्धान्त पीछे के वैष्णव आचार्यों को युक्तियुक्त नहीं प्रतीत हुआ। उनकी दृष्टि में भक्ति ही जीव को इस दुःखमय जगत् से उद्धार करने का महान् साधन है। इस भक्तिवाद की पुष्टि के निमित्त इन वैष्णव आचार्यों ने मायावाद का खण्डन बड़ी सतर्कता तथा ऊहापोह के साथ किया है। अद्वैत के खण्डन करने वाले आचार्यों में सबसे पहले भास्कर हुए। इनकी दृष्टि में जीव और ईश्वर संसारदशा में भिन्न हैं, परन्तु परमार्थ-

दशा में बिल्कुल अभिन्न। इसी कारण इस मत को भेदाभेद के नाम से पुकारते हैं। भास्कर ने अपना कोई धार्मिक मत नहीं चलाया, अतः इस मत के पोषक विद्वानों की कमी है। रामानुजाचार्य ने इन सूत्रों की व्याख्या में विशिष्टाद्वैत को, निम्बार्क ने द्वैताद्वैत मत को, माध्व ने द्वैतमत को, वल्लभ ने शुद्धाद्वैत मत को तथा चैतन्य-मतानुयायी बलदेव विद्याभूषण ने अचिन्त्यभेदाभेद मत को दिखलाने का भरसक उद्योग किया है। ये पाँचो मत वेदान्त के ही हैं। इन मतों में जीव और ईश्वर के सम्बन्ध को ही लेकर महान् अन्तर है। परन्तु अन्य सिद्धान्तों में एकता है। ये सब वेदान्त सम्प्रदाय इन सिद्धान्तों को समभावेन मानते हैं—

(१) ब्रह्म ही इस जगत् का मूल कारण है अर्थात् इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय एक चेतन तत्त्व के कारण है, किसी अचेतन तथा जड़ पदार्थ (जैसे सांख्यों की प्रकृति) से इसकी उत्पत्ति नहीं हुई।

(२) ब्रह्म सर्वत्र व्यापक तथा नित्य है।

(३) मुख्यतः उपनिषद् ही सिद्धान्त-ग्रन्थ हैं तथा उपनिषद्-मूलक होने से भगवत्गीता तथा ब्रह्मसूत्र भी सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं। इन्हें प्रस्थानत्रयी के नाम से पुकारते हैं।

(४) ब्रह्म आदि जैसे इन्द्रियातीत आध्यात्मिक विषयों के निरूपण में वेद ही सबसे अधिक प्रमाण है। तर्क की प्रामाणिकता तभी तक ग्राह्य है जब तक वह श्रुति के अनुकूल रहता है। तर्क की कोई प्रतिष्ठा नहीं है। इसलिये इन सूक्ष्म विषयों के विवेचन के निमित्त हमें श्रुति का आश्रय लेना नितान्त श्रेयस्कर है।

(५) कर्म ज्ञान की अपेक्षा गौण है। कर्म की उपयोगिता इतनी ही है कि वह चित्त की शुद्धि करता है तथा मुक्तिमार्ग की तैयारी करने का प्रधान साधक है। व्यावहारिक जगत् के निमित्त कर्म की अपेक्षा है हां, परन्तु मुक्ति के निमित्त कर्म का संन्यास ही श्रेयस्कर है।

(६) इस अनादि संसार से मुक्ति पाना ही हमारा अन्तिम उद्देश्य है।

शङ्करमत की विशेषता

अन्य मतों की अपेक्षा शङ्करमत में अनेक सिद्धान्तों में विशिष्टता है—

(१) शङ्कर मायावाद को मानते हैं, परन्तु अन्य सब आचार्यों ने मायावाद को भक्ति से नितान्त विरुद्ध होने के कारण अग्राह्य माना है। आचार्य शङ्कर को मायावाद का उद्भावक मानना कथमपि उचित नहीं है। माया का वर्णन संहिता में भी है। शङ्कर ने तो अपने परमगुरु गौडपादाचार्य के द्वारा 'माण्डूक्यकारिका' में निर्धारित इस सिद्धान्त को ग्रहण तथा पुष्ट किया है। ब्रह्म सत्य है तथा जगत् मायिक है, मायाजन्य है। इस सिद्धान्त को समझने में हमने बड़ी भूल की है। आचार्य की दृष्टि में 'सत्ता' के तीन प्रकार हैं—पारमार्थिक सत्ता (ब्रह्म ही एक एकमात्र सत्य पदार्थ है); व्यावहारिक सत्ता इस जगत् की। जगत् बिलकुल सचा है। विज्ञानवादी बौद्धों ने जगत् को असत्य बतलाया है, परन्तु आचार्य ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में इसका युक्तियुक्त खण्डन कर जगत् की सत्यता प्रतिपादित की है, परन्तु यह सत्यता व्यवहार के ही निमित्त है। प्रातिभासिक सत्ता शुक्ति में रजत की सत्ता है। मायाजन्य होने पर भी यह जगत् आकाश-कुसुम की भांति अलीक नहीं है। अलीक तथा मिथ्या एक ही वस्तु नहीं हैं।

(२) ब्रह्म के दो स्वरूप हैं—निर्गुण तथा सगुण। मायाविशिष्ट ब्रह्म को 'सगुण' कहते हैं। यही 'ईश्वर' है। यही इस जगत् का कर्ता-धर्ता है; परन्तु निर्गुण ब्रह्म माया के सम्बन्ध से नितान्त शून्य है। वह अखण्ड, सर्वत्र व्यापक, सच्चिदानन्द स्वरूप है। निर्गुण ब्रह्म ही सर्वश्रेष्ठ तथा सत्यरूप है। ईश्वर उससे न्यून है तथा मायिक है। अन्य दार्शनिक ब्रह्म तथा ईश्वर में इस प्रकार का पार्थक्य नहीं मानते।

(३) ज्ञान के द्वारा ही मुक्ति होती है, कर्म का संन्यास करना ही पड़ता है। कर्म का उपयोग केवल चित्त शुद्धि के निमित्त है। वास्तव में क्लेशनाश ब्रह्म के साक्षात्कार करने से ही होता है।

इसके विरुद्ध वैष्णव आचार्यों के सिद्धान्त है जिनमें सबसे प्राचीन आचार्य रामानुज (१२ शतक) का मत 'विशिष्टाद्वैत' कहलाता है। उनकी दृष्टि में ईश्वर अखिल सद्गुणों का निकेतन है। ब्रह्म सगुण ही होता है, निर्गुण नहीं। जीव तथा जगत् इसी के दो प्रकार हैं या विशेषण हैं। इन जीव तथा जगत् रूप विशेषणों से विशिष्ट ईश्वर एक है। इसलिए इस सिद्धान्त को अद्वैत न कह कर विशिष्टाद्वैत कहते हैं। आचार्य निम्बार्क के मत में जीव और ईश्वर व्यवहार काल में भिन्न भिन्न हैं। इसी कारण इस मत को द्वैताद्वैत कहते हैं। माध्व के मत में (१) जीव और ईश्वर में कभी भी एकता नहीं है। वे सदा से भिन्न हैं, और सदा भिन्न रहेंगे। अन्य सिद्धान्त वाले अनेकता तथा एकता का कथमपि समन्वय करने का उद्योग करते हैं, परन्तु माध्वमत में यह समन्वय होता ही नहीं—सदा अविच्छिन्न द्वैत बना रहता है। (२) ईश्वर इस जगत् का केवल निमित्त कारण ही है, उपादान कारण नहीं, परन्तु अन्य आचार्यों की दृष्टि में वह दोनों है—जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण वह स्वयं है। इस मत को इसी कारण द्वैतमत कहते हैं। वल्लभाचार्य मायावाद को न मानकर केवल अद्वैत को मानते हैं। अतः उनका मत शुद्धाद्वैत है, माया से मिश्रित अद्वैत नहीं। चैतन्य सम्प्रदाय माध्वमत की ही ऐतिहासिक दृष्टि से एक शाखा है; परन्तु दार्शनिक मत में नितान्त भिन्न है। इस मत में ईश्वर जीव का भेद तथा अभेद दोनों हैं परन्तु वह अचिन्त्य है। अलौकिकशक्ति सम्पन्न ईश्वर की यह अचिन्तनीय लीला है।

वैष्णव दार्शनिकों के मत

इन वैष्णव मतों की इन बातों में एकता है—

(क) भक्ति ही मोक्ष की साधिका है।

(ख) ब्रह्म ही ईश्वर है जो अनन्त शुभ्र गुणों का निकेतन है।

(ग) चेतन जीव तथा जड़ जगत् उसी प्रकार सत्य हैं जिस प्रकार ईश्वर। इनकी सत्यता में किसी प्रकार का भेद नहीं।

(घ) जीव तथा ईश्वर का परस्पर भेद किसी भी अवस्था में बिलकुल नष्ट नहीं हो जाता। पृथक् व्यक्तित्व बना ही रहता है।

(ङ) जीव स्वरूपतः अणु है (विभु नहीं) तथा संख्या में अनन्त है। वह ज्ञान तथा क्रिया की शक्ति से सर्वथा सम्पन्न हैं।

(च) विष्णु ही ईश्वर हैं। अतः विष्णु की भिन्न-भिन्न अवतार मूर्तियों की उपासना इन मतों में प्रचलित है। रामानुज तथा माध्व लोग लक्ष्मीनारायण के विशेषतः पूजक हैं। निम्बार्क, वल्लभ तथा चैतन्य राधा-कृष्ण के उपासक हैं।

वेदान्त-साहित्य

ब्रह्मसूत्र की रचना विक्रम के छ सौ वर्ष पहले हुई थी, परन्तु इसका विपुल विकास विक्रम की सातवीं शताब्दी से आरम्भ हुआ और वह आज तक किसी न किसी रूप में चल ही रहा है। वेदान्त का साहित्य बड़ा ही विशाल तथा भव्य है। एक-एक सम्प्रदाय के साहित्य का इतिहास है; समूचे की तो कथा ही अलग है। हमारा धर्म ही वेदान्तधर्म है। इस महान् ग्रन्थराशि के वर्णन के लिए एक अलग ग्रन्थ की आवश्यकता है।

अद्वैतवाद का आरम्भ आचार्य गौडपाद की माण्डूक्य कारिकाओं से होता है। आचार्य शङ्कर (विक्रमीय सप्तम शतक) के भाष्यों ने अद्वैतमत को वह प्रतिष्ठा दी कि पीछे के आचार्यों के खण्डन करने पर भी वह प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रूप से आज भी बनी हुई है। आजकल हमारा जनप्रिय मत यही शङ्कर का अद्वैतवाद है। आचार्य के शिष्यों में सुरेश्वराचार्य ने तैत्तिरीय-भाष्य तथा बृहदारण्यक-भाष्य पर वार्तिक लिखकर वार्तिककार उपाधि प्राप्त की है। दूसरे शिष्य पद्मपादाचार्य ने ब्रह्मसूत्र की

चतुःसूत्री पर पञ्चपादिका नाम की पाण्डित्यपूर्ण टीका लिखी जिस पर 'प्रकाशात्मयति' ने 'विवरण' नामक व्याख्या लिखी है जिससे 'विवरण-प्रस्थान' का जन्म हुआ। इस विवरण पर दो टीकायें प्रसिद्ध हैं—अखण्डानन्दमुनिकृत 'तत्त्वदीपन' तथा विद्यारण्यकृत 'विवरण-प्रमेय-संग्रह'। सुरेश्वर के शिष्य सर्वज्ञात्ममुनि ने 'संक्षेप शारीरक' नामक ब्रह्मसूत्रों की पद्यात्मक व्याख्या लिखी है। वाचस्पति (नवम शतक) की भामती शांकरभाष्य पर एक भव्य टीका है जिसने पहले पहल समस्त ब्रह्मसूत्रों के गूढ़ अर्थ को स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त किया। श्रीहर्ष (१२ शतक) का 'खण्डनखण्डखाद्य' आज पाण्डित्य का निकषग्रावा बना हुआ है। चित्सुखाचार्य (१३ शतक) अपनी श्रेष्ठ रचना 'तत्त्वदीपिका' से नितान्त विख्यात हैं। विद्यारण्य स्वामी (१४ शतक) की पञ्चदशी ने वेदान्त को खूब ही लोकप्रिय बनाया तथा आनन्दगिरि ने (१३ शतक) शङ्कराचार्य के भाष्यों को सुबोध बनाने में बहुत परिश्रम किया। मधुसूदन सरस्वती (१६ शतक) की विद्वत्ता अलौकिक थी जिसका पता इनके सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थरत्न 'अद्वैतसिद्धि' से लगता है। नृसिंहाश्रम सरस्वती मधुसूदन के ही समकालीन थे। अप्पयदीक्षित (१७ शतक) ने 'कल्पतरु परिमल' लिखकर जिस प्रकार भामती के गूढ़ अर्थ को प्रकट किया उसी प्रकार उनका 'सिद्धान्त-लेशसंग्रह' वेदान्त के विभिन्न मतों की जानकारी के लिए नितान्त महत्त्वपूर्ण है।

वैष्णव दर्शनों में रामानुज (१२ शतक) ने ब्रह्मसूत्रों पर श्रीभाष्य तथा गीता भाष्य लिखा। सुदर्शन सूरि (१४ शतक) की श्रीभाष्य पर श्रुत-प्रकाशिका नामक व्याख्या नितान्त प्रसिद्ध है। वेङ्कटनाथ या वेदान्त देशिक (१४ शतक) ने 'तत्त्व-टीका' 'तत्त्वमुक्ता-कलाप' 'गीतार्थ-तात्पर्य-चन्द्रिका' आदि अलौकिक पाण्डित्य-पूर्ण ग्रन्थों की रचना कर इस श्रीवैष्णव मत का प्रचुर प्रचार किया। निम्बार्काचार्य का 'वेदान्त-पारिजात-सौरभ' वेदान्त सूत्रों का स्वल्पकाय भाष्य है। श्रीनिवासाचार्य

ने इस सौरभ के ऊपर 'वेदान्त-कौस्तुभ' नामक विस्तृत व्याख्या लिखकर इस मत का खूब प्रतिपादन किया। केशवभट्ट काश्मीरी (१५ शतक) की कौस्तुभ-प्रभा 'कौस्तुभ' की व्याख्या है। पुरुषोत्तमाचार्य का 'श्रुत्यन्त-सुरद्रुम' तथा देवाचार्य का 'सिद्धान्त जान्हवी' निम्बार्क मत के माननीय ग्रन्थ हैं। मध्व मत (१३ शतक) में आचार्य ने ही प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखे थे जिनकी विस्तृत व्याख्या जयतीर्थ ने की है। व्यासतीर्थ (१५ शतक) का 'न्यायामृत' नितान्त मौलिक ग्रन्थ है जिसका खण्डन मधुसूदन ने अद्वैतसिद्धि में किया है। वल्लभाचार्य का अणुभाष्य ब्रह्मसूत्र के लगभग ढाई अध्यायों की टीका है जिसकी पूर्ति उनके पुत्र विट्ठलनाथ ने की। आचार्य की सुबोधिनी टीका ने भागवत के अर्थ को खूब ही सुबोध बनाया। इसके अतिरिक्त विट्ठलनाथ का 'विद्वन्मण्डन', कृष्णचन्द्र की 'भावप्रकाशिका', पुरुषोत्तम की 'अमृततरंगिणी' गीता टीका तथा गिरिधर महाराज का 'शुद्धाद्वैत-मार्तण्ड' और बालकृष्ण भट्ट का 'प्रमेयरत्नार्णव' शुद्धाद्वैत मत के प्रचार करने वाले नितान्त उपादेय ग्रन्थ हैं। चैतन्य सम्प्रदाय की प्रकृष्ट प्रतिष्ठा श्रीरूप गोस्वामी के 'लघुभागवतामृत', 'उज्ज्वल-नीलमणि', 'भक्तिरसामृतसिन्धु' तथा सनातन गोस्वामी के 'बृहद्-भागवतामृत' 'वैष्णव-तोषिणी' तथा 'हरिभक्ति विलास' ने की है। श्रीजीव गोस्वामी का 'षट्-सन्दर्भ' भागवत के सिद्धान्त को समझाने के लिए नितान्त उपादेय तथा प्रौढ़ ग्रन्थ है। कृष्णदास कविराज का 'चैतन्य-चरितामृत' चरित ग्रन्थ के अतिरिक्त सिद्धान्त ग्रन्थ भी है। बलदेव विद्याभूषण का 'गोविन्द-भाष्य' चैतन्य सम्प्रदाय के अनुसार ब्रह्मसूत्र का भाष्य है।

वेदान्त के विपुल साहित्य की यह दिग्दर्शनमात्र है।

समन्वय

वैदिक दर्शनों के उदय तथा अभ्युदय का यही संक्षिप्त विवरण है। स्थूल दृष्टि से देखने से मालूम होता है कि इनमें परस्पर विरोध है परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से इनके सिद्धान्तों में विरोध न होकर क्रमिक विकास दृष्टिगोचर होता है। यह विकास सोपान-परम्परा न्याय के अनुकूल है। एक सीढ़ी पर खड़ा होकर जितना भूभाग दृष्टिगोचर होता है उससे कहीं अधिक भूभाग उसके आगे की सीढ़ियों पर चढ़ कर देखने में दृष्टिगोचर होता है। न्याय-वैशेषिक की दृष्टि में जिन तत्त्वों का विश्लेषण किया जाता है उससे कहीं अधिक तत्त्व सांख्य-योग की दृष्टि में आते हैं। वेदान्तदृष्टि में सबसे अधिक तत्त्वों का विश्लेषण तथा विवरण प्रस्तुत मिलता है।

> आरुह्य भूमिमधरामितराधिरोढुं,
> शक्येति शास्त्रमपि कारणकार्यभावम्।
> उक्त्वा पुरा परिणतिप्रतिपादनेन,
> सम्प्रत्यपोहति विकारमृषात्व-सिद्धयै॥
>
> संक्षेपशारीरक २।६०

कार्य-कारण की शृङ्खला पर दृष्टिपात करने से हम भारतीय दर्शन में तीन विभिन्न सिद्धान्तों को मुख्यतया पाते हैं—आरम्भवाद, परिणामवाद और विवर्त-वाद। आरम्भवाद की दृष्टि में यह विश्व विभिन्न परमाणुओं के पुञ्ज से होता है। कारण में कार्य विद्यमान नहीं रहता, प्रत्युत कारण-सामग्री के द्वारा कार्य की उत्पत्ति होती है तथा यह एक नवीन घटना है। यह सिद्धान्त न्याय वैशेषिक तथा कर्ममीमांसा को सम्मत है। परिणामवाद में कार्य और कारण में अन्तर नहीं होता। कारण में कार्य सदा विद्यमान रहता है परन्तु अव्यक्त रूप से ही। कारण सामग्री के द्वारा अव्यक्त कार्य को ही

त्रिविध वाद

व्यक्त रूप में लाने का प्रयत्न किया जाता है। यह दृष्टि सांख्य योग, अद्वैतवादी भर्तृप्रपञ्च की तथा वैष्णवमतावलम्बी दार्शनिकों की है। विवर्तवाद इससे एक पग आगे बढ़ कर है। इस मत के अनुसार कारण ही एकमात्र सत्ता है। कार्य तो सत् और असत् दोनों से विलक्षण एक अनिर्वचनीय व्यापार माना जाता है। शांकर वेदान्तियों की यही दृष्टि है। इन तीनों दृष्टियों की परस्पर तुलना करने से स्पष्ट ही प्रतीत होगा कि कार्य-कारण के स्थूल रूप से आरम्भ कर हम उसके सूक्ष्म रूप तक पहुँच जाते हैं। अतः परस्पर दर्शनों में क्रमिक विकास मानना नितान्त युक्तियुक्त है।

क्रमिक विकास

अद्वैत तत्त्व इतना सूक्ष्म तथा कुशल बुद्धि-गम्य है कि उसका सद्यः प्रतिपादन हृदयङ्गम नहीं हो पाता। अतः स्थूल विषय को ग्रहण करने वाले मानवों का कल्याण के लिए मुनियों ने न्याय आदि शास्त्रों की रचना की है जिससे मनुष्य स्थूल से आरम्भ कर सूक्ष्म वस्तु का ग्रहण क्रमपूर्वक सुभीते के साथ कर सके। 'प्रस्थानभेद' के अन्त में मधुसूदन सरस्वती का यह कथन बहुत ही युक्ति-युक्त है कि मुनि लोग सर्वज्ञ थे, वे कथमपि भ्रान्त नहीं हो सकते। किंतु बाहरी विषयों में लगने वाले मनुष्यों के परम पुरुषार्थ में प्रवेश कराने के ही लिए उन लोगों ने नाना प्रस्थान भेद तैयार किये हैं। आरम्भवाद का आश्रय लेकर न्याय-वैशेषिक ने इस स्थूल जगत् का विश्लेषण किया है। लौकिक बुद्धि के द्वारा जितने पदार्थों की कल्पना मान्य हो सकती है उतने ही पदार्थों का विवरण इन दर्शनों में दिया गया है। सांख्य-योग की पदार्थ कल्पना न्याय-वैशेषिक से सूक्ष्म है क्योंकि इन दर्शनों में योगानुभव के द्वारा भी पदार्थों का साक्षात्कार कर निरूपण किया गया है। अद्वैत वेदान्त की कल्पना इससे भी कहीं अधिक सूक्ष्म है। भारतीय दर्शन का यही पर्यवसान है।

भारत के महर्षियों ने बाह्य अनेकता के भीतर विद्यमान रहने वाली एकता को भली भाँति पहचाना है। जितना धार्मिक झगड़ा है, जितना सामाजिक कलह है वह केवल बाहरी रूपों की ओर ध्यान देने का ही विषम परिणाम है। यदि अनेकता के भीतर एकता की ओर तनिक भी मानव समाज का ध्यान जाता, तो वह उस भीषण आग की लपट से बच जाता जो आजकल समस्त विश्व को भस्मसात् कर रही है। अनेकता के भीतर इस एकता को खोज निकालना भारतीय तत्त्वज्ञान की महती विशेषता है। प्राचीन भारत में यह एकता केवल कल्पना के साम्राज्य में नहीं थी बल्कि व्यावहारिक जगत् की स्वयंसिद्ध वस्तु थी। सम्राट् शकारि विक्रमादित्य ने अपने शासनकाल में आज से दो सहस्र वर्ष पहले अपने अदम्य बाहुबल से तथा चतुर राजनीतिज्ञता से इसी राजनैतिक तथा सांस्कृतिक एकता का सम्पादन किया था। उन्हीं सम्राट् के नवरत्नों में सर्वश्रेष्ठ महाकवि कालिदास ने निम्नलिखित पंक्तियों में इसी दार्शनिक एकता की ओर संकेत किया है। इनका कथन नितान्त स्पष्ट है कि भगवती भागीरथी के भिन्न-भिन्न प्रवाहों का अन्तिम लक्ष्य समुद्र ही है जहाँ पहुँच कर वे चरितार्थ हो जाते हैं। उसी प्रकार शास्त्रों तथा दर्शनों द्वारा निर्दिष्ट साधन-मार्ग भले अनेक हों परन्तु उन सब का लक्ष्य एक ही परमेश्वर की प्राप्ति है :—

बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे॥

तन्त्र

तन्त्रों के विषय में अनेक भ्रम फैले हुए हैं। अशिक्षित साधारण जन की बात न्यारी है। शिक्षित लोगों में भी तन्त्र के विषय में अनेक भ्रान्त धारणायें दृष्टिगोचर होती हैं। यह सब तन्त्रों की उदात्त भावनायें और विशुद्ध आचार-पद्धति के जानने का परिणाम है। 'तन्त्र' शब्द का

व्यापक अर्थ शास्त्र, सिद्धान्त, अनुष्ठान, विज्ञान आदि है। तन्त्रों का ही दूसरा नाम आगम है। 'आगम' वह शास्त्र है जिसके द्वारा भोग और मोक्ष के उपाय बुद्धि में आजाते हैं। आगम निगम का पूरक माना जाता है। आगम से अभिप्राय तन्त्रों से है और निगम का तात्पर्य वेद से है। हमारी संस्कृति निगमागममूलक है। उसकी जानकारी के लिए निगम के साथ आगमों का जानना बहुत जरूरी है। देवता के स्वरूप, गुण, कर्म आदि का जिनमें चिन्तन किया गया हो, पटल, पद्धति, कवच, सहस्र नाम और स्तोत्र इस पाँच अंग वाली पूजा का जहाँ विधान हो—उन ग्रन्थों को तन्त्र कहते हैं। तन्त्र की पूजा में मत्स्य, मांस, मीन, मुद्रा तथा मैथुन का विधान है। इन्हें 'पञ्चमकार' कहते हैं। कुछ लोगों ने इन्हें भौतिक अर्थ में लेकर तान्त्रिक पूजा को कुत्सित बना दिया है परन्तु वस्तुतः इन्हें आध्यात्मिक अर्थ में लेना चाहिए। तान्त्रिक पूजा सात्त्विक होती है।

दार्शनिक दृष्टि से तन्त्र तीन प्रकार के हैं—कुछ द्वैत के प्रतिपादक, कुछ द्वैत और अद्वैत दोनों के तथा और कुछ केवल अद्वैत के। देवता-भेद से तन्त्र तीन प्रकार के हैं—(१) वैष्णव तन्त्र—जिसे पाञ्चरात्र कहते हैं, (२) शैवतन्त्र—जिनमें पाशुपत, सिद्धान्ती तथा प्रत्यभिज्ञा दर्शन के मानने वाले त्रिविध शैव प्रधान हैं। पाशुपत सम्प्रदाय पश्चिमी भारत में कभी बड़ा ही प्रसिद्ध था। सिद्धान्तियों का स्थान दक्षिण में है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन का सम्बन्ध काश्मीर से है। शक्ति-पूजन में भी अनेक सम्प्रदाय हैं जिनमें दो मुख्य हैं—कौलाचार और समयाचार। शाक्त तन्त्र मुख्यतया अद्वैतवादी है। उसका कहना है कि जब तक भक्त भगवती के साथ एकता स्थापित नहीं करता, तब तक वह उसकी पूजा का अधिकारी नहीं बनता। शिव और शक्ति का सामरस्य ही मूलतत्त्व है। न तो शिव के बिना शक्ति है और न शक्ति के बिना शिव। दोनों का सामञ्जस्य

ही मूल अद्वैत-तत्त्व का ही प्रतीक है। तन्त्रों का विशाल साहित्य है जो धीरे-धीरे प्रकाशित हो रहा है।

न शिवेन विना देवी न देव्या च विना शिवः।
नानयोरन्तरं किञ्चित् चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥

एकादश परिच्छेद

पुरुषार्थ साहित्य

पुरुष के प्रधानतया चार लक्ष्य हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। मनुष्य की प्रत्येक प्रवृत्ति इन्हीं पर अवलम्बित रहती है। सबका समन्वय मानवजीवन की चरितार्थता के लिए सर्वथा वांछनीय है। हमारे ऋषियों ने मनुष्य की चतुरस्र उन्नति के लिए इन सबके सम्पादन की बड़ी सुन्दर व्यवस्था की है और इनकी प्राप्ति के लिए विशाल साहित्य की सृष्टि की है। हमारे पूर्वजों का ध्यान पारलौकिक सुख की प्राप्ति की ओर जितना था, उतना ही इस लोक में कल्याण की प्राप्ति की ओर भी था। वे ठोस व्यवहार की महत्ता खूब समझते थे, साथ ही साथ विषयसुख से लोगों को हटाकर सच्चे सुख की ओर ले जाना भी उनका परम लक्ष्य था। इस प्रकार स्वार्थ के साथ परमार्थ का सम्पादन, ऐहिक सुख के साथ पारलौकिक कल्याण का अनुष्ठान, वैदिक धर्म का सदा से उद्देश्य रहा है और वह आज भी है। इसीलिए जहाँ पारलौकिक कल्याण की प्राप्ति के लिए मोक्षशास्त्र का निर्माण किया गया, वहाँ भौतिक सुख पाने के निमित्त अर्थशास्त्र और कामशास्त्र के सिद्धान्तों का विवरण दिया गया।

आजकल अर्थ-शास्त्र (एकनामिक्स) तथा राजनीति-शास्त्र (पालिटिक्स) का बोलबाला है, परन्तु इन्हें पाश्चात्य साहित्य की देन समझना भयंकर भूल है। इन शास्त्रों का अध्ययन हमारे यहाँ बहुत ही प्राचीन

काल से—कम से कम २५ सौ वर्षों से—चला आता है। इन दोनों नवीन समझे जाने वाले शास्त्रों का संस्कृत में विराट साहित्य लिखा गया था जिसके उपादेय ग्रन्थ धीरे-धीरे प्रकाशित हो रहे हैं। कामशास्त्र की उन्नति पाश्चात्य साहित्य में तो कल की घटना है। अश्लील समझकर पश्चिमी विद्वानों ने इसे अपने अध्ययन का भी विषय नहीं बनाया। अभी हाल में डा० हेवलाक एलिस आदि माननीय वैज्ञानिक पण्डितों के उद्योग से इस शास्त्र पर से कलंक का टीका मिटा है। परन्तु हमारे ऋषियों की दृष्टि इस आवश्यक विषय की ओर प्राचीन काल में ही आकृष्ट हुई थी। वे मानव-समाज के लिए इसके महत्त्व को भलीभाँति पहचानते थे। तभी तो महर्षि वात्स्यायन ने अपना महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'कामसूत्र' का निर्माण गृहस्थों के कल्याण के लिए लिखा। धर्मशास्त्र और मोक्षशास्त्र (दर्शनशास्त्र) तो संस्कृत साहित्य का गौरवपूर्ण अंश माना ही जाता है। भारतीय सभ्यता की प्रसिद्धि सदा इसके अध्यात्मशास्त्र के लिये रही है। इस प्रकार मानव के चारों पुरुषार्थों के समान अनुशीलन के लिए संस्कृत में इस विराट् साहित्य का उदय और अभ्युदय सम्पन्न हुआ जो अन्य साहित्य के इतिहास में नितान्त दुर्लभ है।

(१) धर्मशास्त्र

इस शास्त्र का उदय वैदिककाल में ही हुआ। वेदांग के अन्तर्गत कल्पसूत्रों में धर्म का विशिष्ट स्थान है। वेद की शाखा से सम्बद्ध अनेक धर्मसूत्रों का प्रणयन ईस्वी सन् से पूर्व पंचम और षष्ठ शताब्दियों में किया गया। सूत्ररूप में इनकी रचना है। आगे चलकर इन्हीं के आधार पर श्लोकबद्ध स्मृतियाँ बनाई गई। स्मृतियों की संख्या बहुत अधिक है—लगभग पचास के। जैसे वसिष्ठ स्मृति, कात्यायन स्मृति, नारद स्मृति, शंख स्मृति, लिखित स्मृति आदि आदि। मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति तो स्मृति-साहित्य के सर्वस्व हैं। आजकल हमारे

वर्णाश्रम धर्म के नियामक भगवान् मनु ही हैं। मनु की व्यवस्था नितरां वैज्ञानिक है। याज्ञवल्क्य स्मृति इसी की पोषिका है। स्मृतियों के तीन विषय हैं—आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त। आचारखण्ड में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी के आचारों का विस्तृत वर्णन है। व्यवहारखण्ड में राजधर्मों के साथ मुकदमों के देखने, गवाही लेने, निर्णय करने की प्रक्रियाओं का सांगोपांग विवरण दिया गया है। प्रायश्चित्त खण्ड में जान या अनजान में किये गये पापों तथा पातकों के निवारण के लिए नाना प्रायश्चित्तों की व्यवस्था है। इन तीनों विषयों का प्रत्येक स्मृति ग्रन्थ में रहने का कोई नियम नहीं है। भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में इनमें से किसी एक ही विषय की प्रधानता लक्षित होती है।

मनुस्मृति

धर्मशास्त्र के कर्ताओं में मनु की ख्याति सबसे अधिक है। मनु की व्यवस्था हमारे धर्म तथा समाज के लिए मान्य व्यवस्था है। प्रसिद्धि है कि मनु का कथन दवा की भी दवा है—'यद् मनुरवदत् तत् भैषजं भेषजतायाः'। यह कथन वास्तव में सत्य है। मनुस्मृति भारत के ही लिए आचार-दर्शक ग्रन्थरत्न नहीं है, अपितु मानवमात्र के लिए है। हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था मनु के नियमों के आधार पर भारतवर्ष में ही नहीं है प्रत्युत उपनिवेशों में भी हिन्दुओं ने मनु को ही अपने समाज तथा व्यक्ति के नियमों के लिए पथप्रदर्शक माना है। आज भी श्याम, कम्बोज, जावा, बाली आदि पूर्वी देशों की सामाजिक व्यवस्था के मूल में मनुस्मृति के ही नियम क्रियाशील हैं। मनुस्मृति में बारह अध्याय हैं जिनमें चारों आश्रमों का तथा राजा प्रजा के धर्म का विशद वर्णन है। मनुस्मृति पर अनेक विद्वानों ने समय समय पर टीकायें लिखीं। इनमें 'मेधातिथि' का भाष्य तथा 'कुल्लूकभट्ट' की व्याख्या खूब प्रसिद्ध है।

मेधातिथि का भाष्य पाण्डित्य तथा प्रामाणिकता में आदर्शभूत माना जाता है। कल्लूकभट्ट की टीका मनु के अर्थ में समझने में नितान्त उपयोगी है।

याज्ञवल्क्य स्मृति

मनु के अनन्तर याज्ञवल्क्य का नाम स्मृति के इतिहास में नितान्त प्रसिद्ध है। उनकी स्मृति में आचार, व्यवहार, तथा प्रायश्चित्त का साङ्गोपाङ्ग विवेचन है। इसकी सबसे प्रसिद्ध टीका है—'मिताक्षरा', जिसे विज्ञानेश्वर ने ११वीं शताब्दी में दक्षिण भारत में लिखा। ये विज्ञानेश्वर चालुक्य नरेश विक्रमादित्य षष्ठ के दरबार में पण्डित थे—उसी दरबार में जिसे बिल्हण ने भी सुशोभित किया था। मिताक्षरा बड़ी ही प्रामाणिक टीका मानी जाती है। आजकल हिन्दुओं में दायभाग के विषय में दो प्रकार के मत हैं—बंगाल में दायभाग की व्यवस्था जीमूतवाहन स्मृतिकार के ग्रन्थ के अनुसार होती है। बंगाल को छोड़कर समस्त उत्तरी भारत में मिताक्षरा के अनुसार ही दायभाग का नियम माना जाता है। कलियुग के लिए महर्षि पराशर रचित स्मृति प्रामाणिक बतलाई जाती है। इसके ऊपर वेदभाष्यकार सायणाचार्य के जेठे भाई माधवाचार्य ने बड़ा ही बृहद् तथा प्रामाणिक भाष्य लिखा है जो 'पाराशरमाधव' के नाम से विख्यात है। इसकी रचना चतुर्दश शतक में दक्षिण भारत में की गई।

(२) अर्थशास्त्र

अर्थशास्त्र के भीतर कृषि, वाणिज्य, व्यापार आदि के अतिरिक्त राजनीति-शास्त्र भी माना जाता है। इस विषय में कौटिल्य अर्थशास्त्र बहुत ही प्रामाणिक तथा प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है। यह वही ग्रन्थ है जिसे चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधानमंत्री चाणक्य ने राज्य-व्यवस्था के निमित्त लिखा था। यह ग्रन्थ हाल में ही उपलब्ध हुआ है। इसने उन

पश्चिमी विद्वानों की आँखें खोल दी हैं जो भारतीयों को राजनीति विद्या में नितान्त असमर्थ मानते आते हैं। आज से २५ सौ वर्ष पहले राज्य की व्यवस्था, परस्पर लेनदेन, व्यापार और वाणिज्य आदि आवश्यक बातों का अनुष्ठान किस प्रकार किया जाता था; इसका पूरा परिचय हमें इस ग्रन्थ में मिलता है। शुक्रनीति की रचना कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनेक शताब्दियों के पीछे हुई। इसमें भी राजशासन के नियमों की पूरा-पूरा विवरण दिया गया है। प्राचीन राज्य व्यवस्था के जानने के लिए इस ग्रन्थ में बहुत ही आवश्यक सामग्री प्रस्तुत की गई है। का मन्दकनीतिसार गुप्तकाल की रचना प्रतीत होती है। इसमें कौटिल्य के अर्थशास्त्र का सारांश ही कुछ घटा बढ़ाकर किया गया है। इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त मित्रमिश्र के 'राजनीतिप्रकाश' तथा चण्डेश्वर विरचित 'राजनीति रत्नाकर' में राजनीति के सिद्धान्तों पर विशेष प्रकाश डाला गया है। मित्रमिश्र मध्यभारत के राजा वीरसिंहदेव के दरबार में रहते थे और मिथिला के किसी राजा के दरबार के पण्डित थे। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त इस विषय के अनेक ग्रन्थ हैं। परन्तु इन सब ग्रन्थों से प्राचीन है महाभारत का शान्तिपर्व जिसमें राजधर्म, प्रजाधर्म का बहुत ही विस्तृत तथा प्रामाणिक वर्णन भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर के प्रश्नों के उत्तर में किया है।

(३) कामशास्त्र

हमारे प्राचीन ऋषियों का ध्यान भौतिकजीवन को सुखमय बनानेवाले इस आवश्यक विषय की ओर बहुत पहले से ही आकृष्ट हुआ था। विषय मानवजीवन को आनन्दमय बनाने का जो प्रधान साधन है वह जगत् के कल्याण-साधकों के हाथ क्या कभी उपेक्षा का पात्र हो सकता है? कामशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाला विशाल साहित्य संस्कृत में विद्यमान है। परन्तु इसका बहुत ही कम अंश अभी तक

प्रकाशित हो पाया है। सबसे प्राचीन ग्रन्थ महर्षि वात्स्यायन रचित कामशास्त्र है। समग्र ग्रन्थ सूत्ररूप में लिखा गया है जिसके ऊपर शंकराचार्य विरचित 'जयमंगला' नामक टीका बड़ी ही उपादेय है। इस ग्रन्थ में गार्हस्थ्यजीवन को सुखमय बनानेवाले समग्र आवश्यक उपकरणों का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया गया है। घर की बनावट किस प्रकार होनी चाहिये? उसके सामने किस प्रकार का बगीचा लगाना चाहिये। मकान की कितनी खिड़कियां किधर रहनी चाहिएं? कौन-कौन से 'समाज' तथा 'यात्रायें' मनानी चाहिये? इनका विवरण इस ग्रन्थ में सुन्दर रीति से किया गया है। इसके अनन्तर स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध का भी पूरा विचार है। कामशास्त्र का विषय आजकल की पश्चिमी पुस्तकों की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक, उपादेय तथा ग्राह्य है। इस ग्रन्थ के अनुशीलन से तत्कालीन भारत की सामाजिक अवस्था का, विशेषकर उस समय के रईसों (नागरक) की दिनचर्या का, पूरा चित्रण हमारे आँखों के सामने खिंच जाता है। इस ग्रन्थ की रचना गुप्तकाल में प्रतीत होती है।

कामशास्त्र के ऊपर वात्स्यायन के बाद बहुत से ग्रन्थ लिखे गये। परन्तु इन ग्रन्थकारों के हाथ इस विषय की उपयोगिता की रक्षा न हो सकी। इन लोगों ने विशुद्ध कामसम्बन्धी विषयों की ओर ज्यादा ध्यान दिया और उन आवश्यक उपकरणों को भूल से गये जिनके कारण जीवन में सौन्दर्य तथा माधुर्य का संचार होता है। इसीलिये इन ग्रन्थों में संकीर्णता आ गई। कामसूत्रों के समान व्यापकता का उनमें अभाव है। ऐसे ग्रन्थों में कुछ नाम ये हैं—पञ्चसायक, अनंगरंग आदि। क्षेमेन्द्र ने 'कलाविलास' नामक काव्य में तथा दामोदर गुप्त ने 'कुट्टिनीमत' में धूर्तों तथा वेश्याओं के प्रपञ्च से बचने के लिये साधारण जनों के निमित्त बड़ा ही सुन्दर उपदेश दिया है।

वैज्ञानिक साहित्य

संस्कृत वाङ्मय के दो प्रधान विभाग हैं—काव्य और शास्त्र। विज्ञान की उन्नति प्राचीन भारत में पर्याप्तमात्र में थी। यह अनुभव तथा प्रयोग के ऊपर अवलम्बित था। अंक-गणित, बीज-गणित, रेखा-गणित, भौतिक-शास्त्र, रसायन-शास्त्र, संगीत-शास्त्र आदि अनेक शास्त्रों की उन्नति प्रयोग के सहारे प्राचीन काल में खूब हुई थी। तद्विषयक ग्रन्थों का निर्माण भी खूब हुआ, परन्तु कालान्तर में पण्डितों की दृष्टि इन शास्त्रों के अनुशीलन से हट गयी। फलतः इन शास्त्रों की जितनी उन्नति होनी चाहिए थी, उतनी नहीं हुई। पाश्चात्य देशों में विज्ञान की इधर खूब उन्नति हुई। उससे समता करने पर यह साहित्य स्वल्प अवश्य प्रतीत होता है।

भारतीय विज्ञान की खोज बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यह खोज उस समय की गई जब पश्चिमी जगत् में इसकी कल्पना भी न थी। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। ग्रीसदेश के एक बड़े दार्शनिक गणितज्ञ थे—पाइथेगोरस। रेखागणित के एक विशेष सिद्धान्त निकालने का श्रेय इन्हें दिया जाता है। वह सिद्धान्त यह है कि यदि समकोण त्रिभुज के सामने वाले बाहु पर जो वर्गक्षेत्र खींचा जायगा, वह अन्य दो भुजाओं के ऊपर खींचे गये वर्गक्षेत्रों के योग के बराबर होगा। परन्तु बौधायन शुल्ब-सूत्र (१।४८) में इस सिद्धान्त का निरूपण इस ग्रीक गणितज्ञ से लगभग दो सौ वर्ष पहले ही किया जा चुका है। बीजगणित में आविष्कृत अनेक नई बातें हमारे लिए प्राचीन हैं। भौतिक विज्ञान की विशिष्ट बातें न्याय-वैशेषिक दर्शन की पुस्तकों में भली भाँति दी गई हैं। रसायनशास्त्र के तथ्य आयुर्वेद के रसविषयक ग्रन्थों में प्रचुरता से मिलते हैं। इन सब का भारत के विख्यात रसायन शास्त्री डा० पी० सी० राय ने अपने 'हिस्ट्री आफ इंडियन केमेस्ट्री' (भारतीय रसायनशास्त्र का इतिहास)

में प्रमाणपुरःसर निरूपण किया है। आयुर्वेद भी भारत के लिए गौरव की वस्तु है। आयुर्वेद की त्रिदोष (वात, पित्त कफ) का सिद्धान्त इतना वैज्ञानिक है कि इसके आधार पर हमारे वैद्यकशास्त्र की बड़ी इमारत खड़ी हुई है। पाश्चात्य वैद्यकशास्त्र नित्य नई उन्नति कर रहा है परन्तु यह सब उन्नति शल्य-चिकित्सा (सर्जरी) से अधिक सम्बन्ध रखती है। शल्य-चिकित्सा तथा उनके लिए जरूरी औजारों का विस्तृत वर्णन सुश्रुत ने अपने ग्रन्थ में किया है। चिकित्सा के विषय में पश्चिमी एलोपैथिक भारतीय चिकित्सा से किसी विषय में बढ़कर नहीं है। आजकल होमिओपैथिक चिकित्सा की उपयोगिता तथा लोकप्रियता बढ़ रही है, परन्तु इसके मूल तथ्य भी वैद्यक के सिद्धान्तों पर अवलम्बित हैं। वैद्यकशास्त्र के लिए यदि नवीन विज्ञान के प्रयोग किये जायँ, तो उसकी विशेष उन्नति तथा सुधारणा होने की आशा है। संगीतशास्त्र की सूक्ष्म प्रक्रिया में लय-ताल की व्यवस्था, स्वर तथा उनका आरोह-अवरोह (मूर्छना) ग्राम, आदि बातें हमारे पूर्वजों की सूक्ष्म गवेषणाशक्ति का परिचय देती हैं। संगीत का शास्त्रीय तथा व्यावहारिक रूप बड़ा ही मार्मिक है तथा शताब्दियों के प्रयोग तथा अनुशीलन का परिचय देता है। कतिपय विज्ञानों का ही वर्णन यहाँ किया जायगा।

ज्यौतिष के अनेक सिद्धान्त वेद की संहिताओं में उपलब्ध होते हैं। वेदाङ्ग ज्यौतिष का वर्णन पिछले परिच्छेद में किया जा चुका है। भारतीय ज्यौतिष के प्राचीनतम ग्रन्थों में हमें 'गर्गसंहिता', सूर्यप्रज्ञप्ति तथा सूर्य-सिद्धान्त के नाम मिलते हैं। पर सूर्यप्रज्ञप्ति को छोड़कर अन्य ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। हमारे माननीय ज्यौतिषियों में आर्यभट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त तथा भास्कराचार्य का नाम उल्लेखनीय हैं। आर्यभट (जन्म ४७६ ई०) पटनानिवासी विख्यात ज्यौतिषी थे जिनका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'आर्यभटीय' है। वराहमिहिर (५०५-५८७ ई०)

ज्यौतिष

उज्जैन के रहनेवाले थे। इनका विख्यात ग्रन्थ है 'पञ्च सिद्धान्तिका' ब्रह्मगुप्त का समय सातवीं सदी का मध्यभाग है। भास्कराचार्य (१११४ ई०) का नाम ज्यौतिष के इतिहास में सदा स्मरणीय रहेगा। इनके लिखे हुए ज्यौतिष और गणित के अनेक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। उनमें सिद्धान्त 'शिरोमणि' की प्रतिष्ठा बहुत अधिक है। इनकी 'लीलावती' क्षेत्रमिति के विषय में विख्यात ग्रन्थ है। भारतीय ज्यौतिष का प्रभाव फारस तथा तथा अरब के विद्वानों पर खूब पड़ा। खलीफ़ा हारूँ रसीद ने भारतीय ज्यौतिषियों को अपने दरबार में बुलाया और उनके ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद कराया।

वैद्यक का अध्ययन बहुत प्राचीन काल से चला आता है। आयुर्वेद ऋग्वेद का उपवेद माना जाता है। अथर्ववेद से आयुर्वेद सम्बन्धी बहुत सी बातों—रोगों के नाम, लक्षण, शरीरविद्या, गर्भविद्या आदि—का पता चलता है। बुद्ध के समय में 'जीवक' नाम के विख्यात वैद्य की कीर्ति तथा चमत्कार का वर्णन मिलता है। हमारी चिकित्सा पद्धति का प्रभाव यूनान के और यूरोप के वैद्यों पर खूब पड़ा जिन्होंने अनेक भारतीय औषधों का प्रयोग अपने देश में चलाया। इस विद्या के प्रधान आचार्य हैं—चरक, सुश्रुत तथा वाग्भट। महर्षि चरक की संहिता सबसे प्राचीन तथा उपादेय है। ये महाराज कनिष्क के वैद्य बतलाये जाते हैं। इनका ग्रन्थ वैद्यविद्या के ज्ञान का भण्डार है। चिकित्सा पद्धति इनकी सर्वोत्तम बतलाई जाती है। सुश्रुत की संहिता शल्य-चिकित्सा (सरजरी) के लिए नितान्त विख्यात है। चरक और सुश्रुत दोनों की कीर्ति भारतवर्ष में ही सीमित नहीं है प्रत्युत पूरब में कम्बोज और पश्चिम में अरब तक फैली है। वाग्भट सुश्रुत के पीछे के हैं। इनकी 'अष्टाङ्गहृदयसंहिता' वैद्यकशास्त्र का विख्यात ग्रन्थ है। वैद्यकशास्त्र के ये ही त्रिमुनि हैं। पर इसका साहित्य बड़ा विशाल है।

वैद्यक

वैद्यक विद्या प्रयोग और अनुभव के ऊपर अवलम्बित है और इसीलिए आज भी उसकी महत्ता है।

उपसंहार

संस्कृत का महत्त्व भारतीय संस्कृति के प्रसार में बहुत ही अधिक है। इसका महत्त्व इतना ही नहीं है कि यह हमारे धर्म ग्रन्थों की भाषा है, प्रत्युत इससे कहीं अधिक है। भारत की प्रान्तीय भाषायें इसी की पुत्रियाँ हैं। उनका जीवन ही संस्कृत के कारण है। अतः इस भाषा के कारण भारत के प्रान्तों में परस्पर सांस्कृतिक एकता बनी हुई है। इतना ही नहीं, समग्र एशिया महाद्वीप को एकता के सूत्र में बाँधने का श्लाघनीय कार्य हमारी देववाणी के द्वारा सम्पन्न हो सकता है। सिंहल, बरमा, स्याम, कम्बोज, सुमात्रा (सुवर्णद्वीप) जावा (यवद्वीप), मलय प्रदेश आदि देशों की भाषाओं में आधे से अधिक शब्द संस्कृत से निकले हुए हैं। इन देशों में ब्राह्मणों ने अपना उपनिवेश बनाया और साथ ही साथ संस्कृत भाषा तथा साहित्य का प्रचार किया। इन देशों की सभ्यता वैदिक सभ्यता से अनुप्राणित है। मनु की व्यवस्था वहाँ उसी प्रकार मानी जाती है जिस प्रकार भारत में। चातुर्वर्ण्य का सिद्धान्त भारतीयों के समान इन देशों के अधिवासियों को भी मान्य था। बालीद्वीप में भारतीय संस्कृति तथा वैदिक धर्म अभी अपने जीते जागते रूप में है। वहाँ के पण्डित लोग (जिन्हें वहाँ 'पदण्ड' कहते हैं) आज भी गायत्री का जप करते हैं तथा अपने घरेलू व्रतों में संस्कृत मन्त्रों का उच्चारण करते हैं, परन्तु भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण वे उनके अर्थ समझने में नितान्त असमर्थ होते हैं।

संस्कृत भाषा की महत्ता इतनी विशाल है कि भारतीय संस्कृति का प्रत्येक पहलू इसमें समग्रतया समाविष्ट है। बृहत्तर भारत की भाषाओं का मूल आधार संस्कृत ही है। निकटवर्ती 'मलाया' देश की भाषा की

तुलना संस्कृत से करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि मुसलमानी धर्म का प्रभुत्व होते हुए भी वहाँ संस्कृत आज भी जनसाधारण की भाषा का आधार है। कतिपय शब्दों से परिचय पर्याप्त होगा।

'शुचि' का अर्थ है पवित्र और निर्मल तथा अत्यन्त निर्मल होने के कारण परम पवित्र ईश्वर के लिए 'महाशुचि' शब्द प्रयुक्त होता है। हमारा स्वर्ग शब्द मलाया भाषा में 'सुभर्ग' के रूप में विद्यमान है जिसका उच्चारण सोर्ग और सुर्ग किया जाता है। 'सिंग' प्राचीन पदवी होने के अतिरिक्त सिंह के लिए भी प्रयुक्त होता है। सेतिम (=सत्य) सेत्यवान (=सत्यवान्) के अर्थ विश्वास, स्वामिभक्ति तथा राजभक्ति होते है। सेत्व (=सत्त्व) तथा मेर्ग-सेत्व (=मृगसत्त्व) सब जीवधारियों के लिए प्रयुक्त होते हैं। प्राकृत भाषा के नियमानुसार शृगाल बन जाता है 'सेरिगाल' तथा श्री बन जाती है 'सेरी'। इस शब्द का सामान्य अर्थ मनोहरता तथा सुन्दरता है, पर यह अनेक अर्थों का द्योतक है यथा सेरी नगरी (=श्रीनगरी) का अर्थ है 'नगर का गौरव', सेरीमुक (=श्रीमुख) 'मुख की आभा', सेरीकाम (=श्रीकाम) 'सीताफल'। 'सेराप' का अर्थ शाप कोसना होता है, सेन्तोस का विश्राम और शान्ति। सेंजा (सन्ध्या) तथा सेंजाकाल से सन्ध्याकाल अभिप्रेत है। हमारा 'श्लोक' मलाया की भाषा में 'सेलोक' बन गया है जिसका अर्थ अन्त्यानुप्रास तथा पद्य के अतिरिक्त वक्रोक्ति और व्यंग कविता भी है। 'सोदर' भाई बहनों तथा उस घनिष्ठ मित्र के लिये व्यवहार में लाया जाता है जिसे कोई भाई या बहन कह सके। रोन या वर्ण का अर्थ 'रंग' है। पञ्चरोन (पञ्च रंग) का अर्थ बहुरंगी तथा चमकीला है। संस्कृत का ऋषि शब्द 'रेसि' के रूप में आज भी मलाया निवासियों के हृदय में आदर का पात्र है जो आज भी अपने महात्माओं के लिये सम्मान रखते हैं तथा सुदूर ग्रामों में इसका प्रयोग करते हैं। रस का

अर्थ स्वाद, रस, बोध और स्पर्श ज्ञान है। परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि मलाया वासी इस शब्द को 'पारद' के अर्थ में भी व्यवहृत करते हैं जो आयुर्वेद का पारिभाषिक शब्द है।

भारत के देवी और देवता भी मलाया देश में आज भी विद्यमान हैं। उन लोगों ने रामायण और महाभारत के नायकों के नाम को सुरक्षित रक्खा है। जैसे सेरीराम (श्रीराम), रंजुन (अर्जुन), विष्णु, शिव, हनुमान आदि अनेक देवताओं के नाम आज भी संरक्षित तथा सम्मानित हैं। धार्मिक शब्द भी वहां अनेक हैं। पूजा का अर्थ प्रार्थना और भक्ति है। वहां पुजि—पूजिअन से पत्र आरम्भ किया जाता है। पवास (उपवास) का अर्थ अनशन हैं। पर्निमा (पूर्णिमा) पूर्ण चन्द्र के समय का मापक होने के कारण मास का द्योतक है। हमारा प्रधान शब्द वहाँ 'पे=र्दान' के रूप में उत्कर्ष का बोधक है। परदान मंत्री = प्रधान मंत्री। पण्डित शब्द का अर्थ महात्मा और ज्ञानी है। 'पति' राज्य के उच्च पदाधिकारी को कहते हैं। यह शब्द अनेक प्राचीन नामों और पदवियों के साथ प्रयोग किया जाता है। जैसे 'अदि-पति = अधिपति। 'पाद' और 'सेरिपाद' राजकुमार के पवित्र-चरण के बोधक होने के कारण राजकीय पदवी के रूप में प्रयोग किये जाते हैं। 'पादुका' शब्द का प्रयोग इसी प्रकार किया जाता है जिस प्रकार भारतवर्ष में आदर तथा सम्मान सूचित करने के लिये चरण शब्द तथा पाद का प्रयोग किया जाता है (जैसे आचार्य के लिये आचार्यपाद, पितृ-चरण आदि) उसी प्रकार इनका प्रयोग मलाया में भी होता है। इन शब्दों से स्पष्ट विदित होता है कि हमारी भारतीय संस्कृति मलाया निवासियों में कितनी गहराई तक घुसी हुई है।

बृहत्तर भारत में भारतीय संस्कृति के इस विपुल प्रभाव का कारण यही है कि भारत के ब्राह्मणों अपने साथ संस्कृत भाषा तथा संस्कृति साहित्य यहां से उन देशों में लेते गये थे। इन उपनिवेशों में भारतीय

संस्कृति खूब पनपी। संस्कृत भाषा को खूब ही आदर किया गया। इन देशों के हिन्दू अधिपतियों ने संस्कृत को राजकीय भाषा का गौरव प्रदान किया। वह केवल शिलालेखों की ही भाषा न बनकर राजकीय अनुशासनों की भाषा थी। राजा लोग संस्कृत में ही आज्ञा निकालते थे तथा पण्डित जनों के व्यवहार की भी भाषा संस्कृत थी। इसके शतशः प्रमाण आज उपलब्ध हो रहे हैं। मलाया द्वीप, चम्पा, जावा, सुमात्रा तथा सुदूर बोर्नियों द्वीप में उपलब्ध शिलालेखों का अनुशीलन इसी सिद्धान्त को दृढ़ कर रहा है कि संस्कृति राजकीय अनुशासनों की तथा संस्कृति के महत्त्व की भाषा थी। इन शिलालेखों की भाषा व्याकरण तथा रीति की दृष्टि से पूर्णतया विशुद्ध है। जावा का अधिपति पूर्ण वर्मा (४५०ई०) अपने जम्बू शिलालेखों में कितनी सुन्दर भाषा में प्रशंसित हुआ है—

श्रीमान् दाता कृतज्ञो नरपतिरसमो यः पुरा तारुमायां,
नाम्ना श्रीपूर्णवर्मा प्रचुर-रिपुशरा-भेद्य-विख्यात-वर्मा।
तस्यैव पादविम्बद्वयमरि-नगरोत्सादने नित्य-दक्षं,
भक्तानां यन्नृपाणां भवति सुखकरं शल्यभूतं रिपूणाम्॥

मलाया के राजा बुद्धगुप्त (५ शतक) के शिलालेख में हमें यह दार्शनिक पद्य उपलब्ध होता है:—

अज्ञानाच्चीयते कर्म जन्मनः कर्म कारणम्।
ज्ञानान्न क्रियते कर्म कर्माभावान्न जायते॥

राजा सन्न के पुत्र राजा संगम के 'चंगल' शिलालेख मे (६५४ शंकर) भगवान शंकर की स्तुति बड़े ही सुन्दर शब्दों में की गई है:—

ऐश्वर्यातिशयोद्भवात् सुमहतामत्यद्भुतानां निधिः,
त्यागैकान्तरतस्तनोति सततं यो विस्मयं योगिनाम्॥
सोऽष्टाभिस्तनुभिर्जगत् करुणया पुष्णाति न स्वार्थतो,
भूतेशः शशिखण्डमण्डितजटः स त्र्यम्बकः पातु नः॥

इन प्रत्यक्ष प्रमाणों के रहते हुए क्या कोई भी विद्वान् संस्कृत को

महती प्रतिष्ठा तथा सांस्कृतिक महत्त्व के परिचय से वञ्चित रह सकता है ? संस्कृति की उपयोगिता तथा विशालता के उदाहरण देने की विशेष आवश्यकता नहीं। वह भारतवर्ष के ही विभिन्न प्रान्तों के व्यवहार तथा ऐक्य सम्पादन करने वाली भाषा नहीं है प्रत्युत सुदूर दक्षिण पूर्वी एशिया को भारत साथ एक सूत्रों में बाँधने वाला सर्वश्रेष्ठ साधन है। आज भारत स्वतंत्र है। उसका एशिया के विभिन्न देशों के साथ सम्पर्क घनिष्ठ होता जा रहा है। इस सम्बन्ध को दृढ़ तथा व्यवस्थित बनाने के लिये संस्कृत भाषा तथा साहित्य आज भी नितान्त उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। संस्कृति जीती जागती प्रतिभासम्पन्न भाषा है। इसमें क्षणिक भी सन्देह करने का स्थान नहीं है।

संस्कृत साहित्य की गौरव-गाथा अब समाप्त की जाती है। उसकी प्राचीनता, व्यापकता तथा उपादेयता से हमनें परिचय प्राप्त किया। इन पूर्वी देशों का साहित्य हमारे ही साहित्य का उत्तराधिकारी है। रामायण तथा महाभारत की कथायें जिस प्रकार हमारा मनोरञ्जन करती हैं उसी प्रकार 'कवि' भाषा में निबद्ध होकर वे जावा-निवासियों का भी चित्त प्रफुल्ल बनाती हैं। तथ्य की बात तो यह है कि हमारे संस्कृत साहित्य ने मूकों को वाणी प्रदान किया है, भाषाओं को लिखित भाषा बनने की योग्यता दी है तथा जीवन को सानन्द तथा सरल बनानेवाली कोमल काव्यकला तथा नाट्यकला का उन देशों में प्रादुर्भाव कर वहाँ के निवासियों को सभ्य, शिक्षित तथा शिष्ट बनाया है। इस प्रकार संसार की समस्त भाषाओं से बढ़कर संस्कृत का सांस्कृतिक महत्त्व है। इसकी सम्पत्ति तथा समृद्धि से हमें अपने साहित्य को पुष्ट तथा समर्थ बनाना चाहिए, इस विषय में क्या कोई सन्देह कर सकता है ?

धन्योऽयं भारतो देशो, धन्येयं सुरभारती।
तत्पूजका वयं धन्याः, केयं धन्यपरम्परा ॥

समाप्त

विशिष्ट-कवि-प्रशंसा

कालिदास

लिप्ता मधुद्रवेणासन् यस्य निर्विवशा गिरः ।
तेनेदं वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम् ॥ (दण्डी)

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु ।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते ॥ (बाण)

श्लाघ्यन्ति सकलाः कालिदासेनासन्नवर्तिना ।
गिरः कवीनां दीपेन मालतीकलिका इव ॥ (धनपाल)

गोवर्धन

मसृणपदरीतिगतयः सज्जनहृदयाभिसारिकाः सुरसाः ।
मदनाद्वयोपनिषदो विशदा गोवर्धनस्यार्याः ॥ (गोवर्धन)

गुणाढ्य

शश्वद्बाणद्वितीयेन नमदाकारधारिणा ।
धनुषेव गुणाढ्येन निःशेषो रञ्जितो जनः ॥ (त्रिविक्रम भट्ट)

यस्य कीर्तेर्गुणाढ्याथ धुलङ्घनरयादिव ।
पतिताभूत्समुद्रादीन् समागाम्भीर्यधैर्यदिक् ॥ (कम्बोज शिलालेख)

जगन्नाथ कविराज

कवयति पण्डितराजे कवयन्त्यन्येऽपि विद्वांसः ।
नृत्यति पिनाकपाणौ नृत्यन्त्यन्येऽपि भूतवेतालाः ॥
माधुर्यैरपि धुर्यैर्द्राक्षाक्षीरेक्षुमाक्षिकादीनाम् ।
वन्द्यैव माधुरीयं पण्डितराजस्य कवितायाः ॥

जयदेव

साध्वी माध्वीक चिन्ता न भवति भवतः शर्करे कर्करासि ।
द्राक्षे द्रक्ष्यन्ति के त्वाममृत मृतमसि क्षीर नीरं रसस्ते ॥

माकन्द क्रन्द कान्ताधर धरणितलं गच्छ यच्छन्ति भावं ।
यावच्छृङ्गारसारस्वतमिह जयदेवस्य विष्वग्वचांसि ॥

दण्डी

आचार्यदण्डिनो वाचामाचान्तामृतसंपदाम् ।
विकासो वेधसः पत्न्या विलासमणिदर्पणम् ॥

धोयी

दन्तिव्यूहं कनककलितं चामरे हैमदण्डे
यो गौडेन्द्रादलभत कविक्ष्माभृतां चक्रवर्ती ।
ख्यातो यश्च श्रुतिधरतया विक्रमादित्यगोष्ठी-
विद्याभर्तुः खलु वररुचेरससाद प्रतिष्ठाम् ॥

पाणिनि

नमः पाणिनये तस्मै यस्मादाविरभूदिह ।
आदौ व्याकरणं काव्यमनु जाम्बवतीजयम् ॥ (राजशेखर)
स्पृहणीयत्वचरितं पाणिनेरुपजातिभिः ।
चमत्कारैकसाराभिरुद्यानस्येव जातिभिः ॥ (क्षेमेन्द्र)

बाणभट्ट

कादम्बरीसहोदर्या सुधया वैबुधे हृदि ।
हर्षाख्यायिकया ख्यातिं बाणोऽब्धिरिव लब्धवान् ॥ (धनपाल)
वागीश्वरं हन्त भजेऽभिनन्दमर्थेश्वरं वाक्पतिराजमीडे ।
रसेश्वरं स्तौमि च कालिदासं बाणं तु सर्वेश्वरमानतोऽस्मि ॥ (सोड्ढल)

बिल्हण

बिल्हणस्य कवेः प्राप्तप्रसादैव सरस्वती ।
नीयते जातु कालुष्यं दुर्जनैर्न घनैरपि ॥ (सोमेश्वर)

भवभूति

मान्यो जगत्यां भवभूतिरार्यः सारस्वते वर्त्मनि सार्थवाहः ।
वाचं पताकामिव यस्य दृष्ट्वा जनः कवीनामनुपृष्ठमेति ॥ (सोड्ढल)

स्पष्टभावरसा चित्रैः पदन्यासैः प्रवर्तिता ।
नाटकेषु नटस्त्रीव भारती भवभूतिना ॥ (धनपाल)

भारवी

जनितार्जुनतेजस्कं तमीश्वरमुपाश्रिता ।
राकेव भारवेर्भाति कृतिः कुवलयप्रिया ॥ (सोमेश्वर)
लक्ष्मीबन्धकितं बध्वा भारवीयं सुभाषितम् ।
प्रक्रान्तपुत्रहत्याघं निशि माघं न्यवारयत् ॥ (हरिहर)

भास

सुविभक्तमुखाद्यङ्गैर्व्यक्तलक्षणवृत्तिभिः ।
परेतोऽपि स्थितो भासः शरीरैरिव नाटकैः ॥ (दण्डी)

मंखक

संभेदः श्रीसरस्वत्योः केवलं न विपन्मयम् ।
त्वं मोहमयमप्याशु मलं कस्य न लुम्पसि ॥ (तेजकण्ठ)

माघ

विरक्तश्चेद् दुरुक्तिभ्यो निर्वृतिं वाथ वाञ्छसि ।
वयस्य कथ्यते तथ्यं माघसेवां कुरुष्व तत् ॥ (सोमेश्वर)
नैतच्चित्रमहं मन्ये माघमासाद्य यन्मुहुः ।
प्रौढतातिप्रसिद्धापि भा रवेरवसीदति ॥ (हरिहर)

राजशेखर

यायावरः प्राज्ञवरो गुणज्ञैराशंसितः सूरिसमाजवर्यैः ।
नृत्यत्युदारं भणिते गुणस्था नटीव यस्योढरसा पदश्रीः ॥

वाल्मीकि

आसीदर्वासमस्फुरितोरुधामा वाल्मीकिरग्रण्यतमो मुनीनाम् ।
निर्वाणमार्गैकमहाध्वगोऽपि संपर्कितः क्वापि न यो रजोभिः ॥ (सोड्ढल)

सति काकुत्स्थकुलोन्नतिकारिणि रामायणेऽपि किं काव्यम् ।
रोहति कुल्या गङ्गापूरे किं बहुरसे वहति ।। (गोवर्धन)

व्यास

भारताख्यं सरो भाति व्यासवागमृतैर्वृतम् ।
यत्र सत्रकुलाब्जेषु हंसीयति हरेर्यशः ।। (हरिहर)

व्यासः समावतां श्रेष्ठो वन्द्यः स हिमवानिव ।
सृष्टा गौरीदृशी येन भवे विस्तारिभारता ।। (त्रिविक्रम)

कर्णान्तविभ्रमभ्रान्त-कृष्णार्जुनविलोचना ।
करोति कस्य नाह्लादं कथा कान्तेव भारती ।। (त्रिविक्रम)

श्रीहर्ष

यथा यूनस्तद्वत् परमरमणीयापि रमणी
कुमाराणामन्तःकरणहरणं नैव कुरुते ।
मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधियः
किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादरभरैः ।।

सुबन्धु

रसैर्निरन्तरं कण्ठे गिरा श्लेषैकलग्नया ।
सुबन्धुर्विदधे दृष्ट्वा करे बदरवज्जगत् ।। (हरिहर)

हर्षवर्धन

स चित्रवर्णविच्छित्तिहारिणोरवनीपतिः ।
श्रीहर्ष इव संघट्टं चक्रे बाणमयूरयोः ।। (पद्मगुप्त)

हेमचन्द्र

सदा हृदि वहेम श्रीहेमसूरेः सरस्वतीम् ।
सुवत्या शब्दरत्नानि ताम्रपर्णी जिता यया ।। (सोमेश्वर)

—:o:—
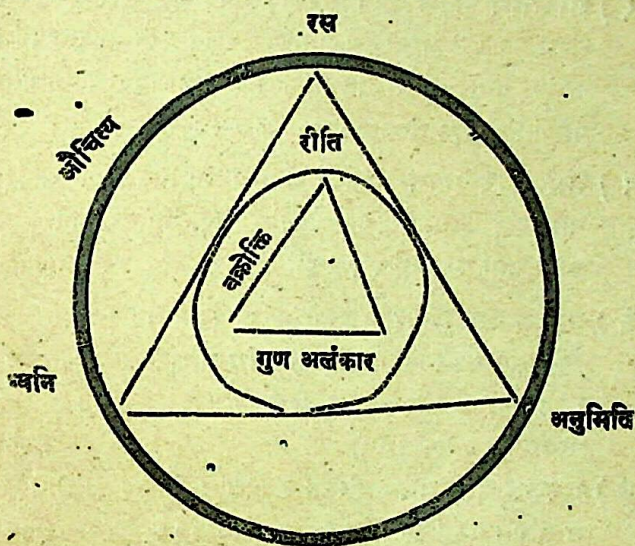
औचितीमनुधावन्ति सर्वेध्वनिरसोन्नयाः ।
गुणालङ्कृतिरीतीनां नयाश्चानृजुवाङ्मयाः ॥